जैनमित्रके १५ वें वर्षका उपहार।

वीतरागायनमः।

आराधना-कथाकोश।

पहला भाग।

ब्रह्मचारी-श्रीमन्नेमिदत्तके संस्कृत आराधना-
कथाकोशका स्वतंत्र हिन्दी अनुवाद।

अनुवादक-

पंडित उदयलाल काशलीवाल।

प्रकाशक-

जैनमित्र कार्यालय हीराबाग।

वीरनिर्वाण सं० २४४०।

प्रथम संस्करण]

ॐ

यह पवित्र भेंट

खण्डेलवाल-कुलतिलक

श्रीयुत पंडित धन्नालालजी काशलीवालके

चरणकमलोंमें लेखक द्वारा सभक्ति

समर्पित हुई।

पूज्यपाद,

आपके उपकारोंके भारने मुझे यह पवित्र और धार्मिक भेंट लेकर आपके सम्मुख उपस्थित किया है, आप इसे स्वीकार कर मेरे हृदयको पुण्यमय आशीर्वाद-सुधाधारासे परिप्लुत कीजिये।

विनीत-

उदयलाल काशलीवाल।

कथाओंकी सूची।

ग्ग्

दो अशुद्धियां।

पृष्ठ १६२ में पंक्ति १९ से-"मुनिराज श्रीचन्दकको अपने स्थानपर लिवा ले गये" ऐसा लिखा है, वह ठीक नहीं है। वहां केवल इतना ही समझना चाहिये कि-"मुनिराजने श्रीचन्दकको धर्मोपदेश देकर श्रावक बना लिया और आप अपने स्थानपर चले गये।"

इसी तरह पृष्ठ १७९ पंक्ति ३ से-" गुवाल अपने घर गया और आधी रात-के समय अपनी स्त्रीको लेकर पीछा मुनिराजके पास आया।" ऐसा लिखा है, वह गल्तीसे लिखा गया है। इस जगह इतना समझना चाहिये कि-"गुवाला अपने घर चला गया। जब कुछ रात बाकी रही, तब वह अपनी गायोंको लेकर चरानेको चला। वह मुनिराजके पास फिर आया।"

प्रस्तावना।

आराधना कथाकोश कई आचार्योंने बनाये हैं। हमारी इच्छा किसी अधिक प्राचीन कथाकोशके प्रकाशित करनेकी थी, पर प्रयत्न करने पर और कई सरस्वती भवनोंको लिखनेसे भी जब किसी प्राचीन आचार्यका बनाया कथाकोश नहीं मिला, तब लाचार होकर हमें श्रीयुत ब्रह्मचारी नेमिदत्तका बनाया कथाकोश ही प्रकाशित करना पड़ा। यद्यपि इसमें भी कथायें वे ही हैं, परन्तु इसकी कथाओंमें संक्षेप अधिक किया जानेसे साहित्य-सौन्दर्यकी दृष्टिसे कुछ कमी है—कथा-नायकोंके बोल-चाल, और परस्परमें वार्तालापके ढंगको इससे और भी सुश्रीक होनेकी आवश्यकता थी। हमने अपने हिन्दी अनुवादमें उन संक्षिप्त कथाओंको पल्लवित करनेका कुछ यत्न अपनी ओरसे किया है, पर उसमें हम कहांतक सफल हुए हैं और वह पाठकोंको कहांतक पसन्द पड़ेगा, इसका भार हम अपने सुविज्ञ पाठकोंपर ही छोड़ते हैं। यदि हमारा यह यत्न पाठकोंको पसन्द पड़ा तो हम अपने श्रमको सफल समझेंगे। इसके सिवा उनसे हमारी यह भी प्रार्थना है कि हमारे इस प्रयासमें उन्हें कोई त्रुटि जान पड़े तो वे निडर और निस्संकोच होकर उस विषयमें अपनी अपनी सम्मति प्रगट करें।

उदाहरणके लिये हम यहांपर एक दो प्रकरणोंका उल्लेख करना आवश्यक समझते है। पृष्ठ ७५ में अनन्तमतीकी कथा पढ़िये। अनन्त-मती एक सेठकी लड़की है। वह बाल ब्रह्मचारिणी है। उसे एक विद्या-धर कामवासनाके वश होकर उड़ा ले जाता है। पर बाद ही वह अपनी स्त्रीके आजानेसे अनन्तमतीको एक भयंकर वनमें छोड़ देता है। वहांसे एक भीलोंका राजा अनन्तमतीको अपने घर ले जाता है और

उससे बलात्कार करना चाहता है। अनन्तमतीके शीलके प्रभावसे एक पुरदेवी आकर उसे बचाती है और भीलराजको उसके पापका दण्ड देती है। भीलराज डरकर अनन्तमतीको एक सेठके हाथ सौंप देता है। सेठ भी उसके त्रिभुवन-सुन्दर रूपको देखकर उसपर अपनी पाप-वासना प्रगट करता है। वह कहता है:—

"सुन्दरि, तुम बड़ी भाग्यवती हो, जो एक नरपिशाचके हाथसे छूटकर पुण्य पुरुषके सुपुर्द हुई। कहां तो यह तुम्हारी अनिन्द्य स्वर्गीय सुन्दरता और कहाँ वह भीम राक्षस कि जिसे देखते ही हृदय काँप उठता है। मैं तो आज अपनेको देवोंसे भी कहीं बढ़कर भाग्यशाली समझता हूँ, जो मुझे अनमोल स्त्रीरत्न सुलभताके साथ प्राप्त हुआ। भला बिना महाभाग्यके कहीं ऐसा रत्न मिल सकता है? सुन्दरि, देखती हो, मेरे पास अटूट धन है, अनन्त वैभव है, पर उस सबको तुमपर न्यौछावर करनेको तैयार हूं और तुम्हारे चरणोंका अत्यन्त दास बनता हूं। कहो मुझपर प्रसन्न हो न? मुझे अपने हृदयमें जगह दोगी न? दो, और मेरे जीवनको, मेरे धन-वैभवको सफल करो।

अनंतमतीने समझा था कि इस भले मानसकी कृपासे मैं सुख-पूर्वक पिताजीके पास पहुंच जाऊंगी, पर वह बेचारी पापियोंके पापी हृदयकी बातको क्या जाने? उसे जो मिलता था, उसे वह भला ही समझती थी। यह स्वाभाविक बात है कि अच्छेको संसार अच्छा ही दिखता है। अनन्तमतीने पुष्पक सेठकी पापपूर्ण बातें सुनकर बड़े कोमल शब्दोंमें कहा—महाशय, आपको देखकर तो मुझे विश्वास हुआ था कि अब मेरे लिये कोई डरकी बात नहीं रही—मैं निर्विघ्न अपने घरपर पहुँच जाऊंगी। क्योंकि मेरे एक दूसरे पिता मेरी रक्षाके लिये आगये हैं। पर मुझे अत्यन्त दुःखके साथ कहना पड़ता है, कि आप सरीखे भले मानसके मुहँसे और ऐसी नीच बातें? जिसे मैंने रस्सी समझकर हाथमें लिया था, मैं नहीं समझती थी कि वह इतना भयंकर सर्प होगा। क्या बाहरी चमक-

दमक और सीधापना केवल दाम्भिकपना है, केवल बगुलोंकी हंसोंमें गणना करानेके लिये है? यदि ऐसा है तो मैं तुम्हें, तुम्हारे इस ठगी वेषको, तुम्हारे कुलको, तुम्हारे धन-वैभवको और तुम्हारे जीवनको धिक्कार देती हूं-अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखती हूं। जो मनुष्य केवल संसारको ठगनेके लिये ऐसे मायाचार करता है, बाहर धर्मात्मा बननेका ढोंग रचता है, लोगोंको धोखा देकर अपने मायाजालमें फँसाता है, वह मनुष्य नहीं है; किन्तु पशु है, पिशाच है, राक्षस है। वह पापी मुहँ देखने योग्य नहीं, नाम लेने योग्य नहीं। उसे जितना धिक्कार दिया जाय थोड़ा है। मैं नहीं जानती थी कि आप भी उन्हीं पुरुषोंमें एक होंगे। अनन्तमती और भी कहती, पर वह ऐसे कुलकलंक नीचोंके मुहँ लगाना उचित नहीं समझ चुप हो रही। अपने क्रोधको वह दबा गई।"

ऊपर जहांसे सेठकी उक्तिका उल्लेख है वह सब हमने अपनी ओरसे बढ़ाया है। मूल ग्रन्थमें इस सम्बन्धमें यों लिखा है कि-

" सोपि तद्रूपसंसक्तः प्रोवाच मलिनं वचः।
एतान्याभरणान्युच्चैर्नाना सद्वस्त्रसञ्चयम्।
गृहाण तव दासोस्मि मामिच्छेति प्रणष्टधीः॥
तयोक्तं यादृशं मेस्ति प्रियदत्तः पितापरः।
तादृशस्त्वमपि भ्रष्ट मा वादीः पापदं वचः॥

अर्थात्—अनन्तमतीकी सुन्दरता देखकर पुष्पक सेठने उससे कहा-इन भूषण और वस्त्रोंको तुम लेओ और मुझपर प्रसन्न होओ। मैं तुम्हारा दास हूं। तब अनन्तमतीने उससे कहा—हे भ्रष्ट, जैसे मेरे पिता प्रियदत्त हैं उसी प्रकार तू भी मेरे पिताके ही समान है, इसलिये ऐसे पापमय वचन मत कह।"

इसी प्रकार पृष्ठ १०५ में वारिषेणकी कथा पढ़िये। वारिषेण श्रेणिकका पुत्र है। वह बड़ा धर्मात्मा और वैरागी है। उसपर एक दिन

चोरीका झूठा अभियोग लगाया जाता है। श्रेणिक उसका धर्म कर्म सब एक प्रकारसे लोगोंको धोखा देनेवाला ढोंग समझकर और बड़े क्रोधमें आकर उसके मार डालनेकी आज्ञा देते हैं। वारिषेण वध्यभूमिमें ले-जाया जाता है। एक जल्लाद उसका सिर काटनेके लिये उसकी गरदनपर तलवार मारता है। वारिषेणका पुण्य-कर्म उसे बचाता है। तलवारका वार एक फूलमालाके कोमल आघातके रूपमें परिणत हो जाता है। सबको आश्चर्य होता है। देवता वारिषेणपर फूलोंकी वर्षा करते हैं। श्रेणिक इस वृत्तान्तसे प्रसन्न होते हैं, पर साथ ही अपने अज्ञानपर उन्हें बहुत पश्चात्ताप होता है। वे पुत्रके पास श्मशानमें आते हैं और वारिषेणसे अपने अज्ञानकी क्षमा करानेके लिये कहते हैं—

"श्रेणिक बहुत कुछ पश्चात्ताप करके पुत्रके पास श्मशानमें आये। वारिषेणकी पुण्यमूर्तिको देखकर उनका हृदय पुत्रप्रेमसे भर आया। उनकी आँखोंसे आंसू बह निकले। उन्होंने पुत्रको छातीसे लगाकर रोते रोते कहा-प्यारे पुत्र, मेरी मूर्खताको क्षमा करो! मैं क्रोधके मारे अन्धा बन गया था; इसलिये आगे पीछेका कुछ सोच विचार न कर मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया। पुत्र, पश्चात्तापसे मेरा हृदय जल रहा है, उसे अपने क्षमारूप जलसे बुझाओ. दुःखके समुद्रमें मैं गोते खा रहा हूं, मुझे सहारा देकर निकालो।

अपने पूज्य पिताकी यह हालत देखकर वारिषेणको बड़ा कष्ट हुआ। वह बोला-पिताजी, आप अपराधी कैसे? आपने तो अपने कर्त्तव्यका पालन किया है और कर्त्तव्य पालन करना कोई अपराध नहीं है। मान लीजिये कि यदि आप पुत्र प्रेमके वश होकर मेरे लिये ऐसे दंडकी आज्ञा न देते, तो उससे प्रजा क्या समझती? चाहे मैं अपराधी नहीं भी था, तब भी क्या प्रजा इस बातको देखती? वह तो यही समझती कि आपने मुझे अपना पुत्र जानकर छोड़ दिया। पिताजी, आपने बहुत ही बुद्धिमानी और दूर-दर्शिताका काम किया है। आपकी नीतिपरायणता देखकर मेरा

हृदय आनन्दके समुद्रमें लहरें ले रहा है। आपने पवित्र वंशकी आज लाज रख ली। यदि आप ऐसे समयमें अपने कर्त्तव्यसे जरा भी खिसक जाते तो सदाके लिये अपने कुलमें कलंकका टीका लग जाता। इसके लिये तो आपको प्रसन्न होना चाहिये, न कि दुखी। हाँ इतना जरूर हुआ कि मेरे इस समय पापकर्मका उदय था; इसलिये मैं निरपराधी होकर भी अपराधी बना। पर इसका मुझे कुछ खेद नहीं। क्योंकि—

अवश्यं ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।

(वादीभसिंह)

अर्थात्- जो जैसा कर्म करता है उसका शुभ या अशुभ फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। फिर मेरे लिये कर्मोंका फल भोगना कोई नई बात नहीं है।"

मूल ग्रन्थकारने उक्त घटनाके सम्बन्धमें यों लिखा है कि—

"श्रेणिकोपि महाराजः श्रुत्वा तद्वृत्तमद्भुतम्।
पश्चात्तापेन सन्तप्तो हा मया किं कृतं वृथा॥
इत्यालोच्य समागत्य श्मशाने भूरि भीतिदे।
अहो पुत्र मया ज्ञान-शून्येनात्र विनिर्मितम्॥
यत्र त्वया महाधीर क्षम्यतामिति वाग्भरैः।
तं पुत्रं विनयोपेतं सत्क्षमां नयति स्म सः॥

अर्थात्—तलवारका गरदनपर वार करनेपर भी वारिषेणके न मारे जानेका अचंभा पैदा करनेवाला हाल सुनकर श्रेणिकको अपने अनुचित विचारपर—अनुचित आज्ञापर बहुत पश्चात्ताप हुआ। वे उसी समय उस भयंकर श्मशानमें आये और पुत्रसे बोले—पुत्र, मैंने अज्ञानके वश होकर बड़ा अनर्थ किया है। तुम मुझे क्षमा करो। यह कहकर उन्होंने वारिषेणसे क्षमा कराई।"

इसपर वारिषेणने पितासे क्या कहा? उसका उल्लेख मूल ग्रन्थमें नहीं, पर हमने ऐसी जगह वारिषेणसे कुछ कहल्वाना उचित समझा। वारिषेणने क्या कहा, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसी प्रकार जहां जहां हमें उचित समझ पड़ा, हमने प्रत्येक कथामें अपनी ओरसे थोड़ा या वहुत अंश सम्मिलित किया है। कहां कितना अधिक अंश है, यह मूल ग्रन्थके साथ हिन्दी अनुवादका मिलान करनेसे जान पड़ेगा।

हमें अपने विश्वासके अनुसार यह जान पड़ा है कि—इस कथाकोशके संस्कृत-साहित्यको प्रौढ़ बनानेके लिये ग्रन्थकारका बहुत कम ध्यान रहा है। अथवा यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकारकी यह प्राथमिक अभ्यासके समयकी कृति हो। क्योंकि इसमें जगह जगहपर बहुतसे ऐसे शब्दोंका प्रयोग हुआ है कि जिनके न रहनेपर भी काम चल सकता था। संस्कृतके विद्वान् पाठक मूल ग्रंथको पढ़कर हमारे इस कथनकी प्रमाणताका परिचय पा सकेंगे। और इसी कारणसे हमने अपने अनुवादमें शब्द और विभक्तियोंका सहारा न लेकर केवल श्लोकोंके भावोंको अपनी टूटी फूटी भाषामें लिखनेका यत्न किया है।

यद्यपि यह ग्रन्थ संस्कृत उच्च साहित्यकी दृष्टिसे भगवज्जिनसेनाचार्य, रविषेणाचार्य, वादीभसिंह आदिकी समानता नहीं कर सकता; परन्तु इससे कोई यह न समझें कि ऐसा होनेसे ग्रन्थकी उपयोगितामें कमी आगई होगी। नहीं, ग्रन्थका कथासाहित्य तो वैसा ही उपयोगी है जैसा और और ऋषियोंका कथासाहित्य। कारण इसमें जितनी कथायें हैं वे सब धार्मिक भावोंसे पूर्ण हैं और उन्हीं पुराने ऋषियोंके अनेक ग्रन्थोंसे एक जगह संग्रह की गई हैं। हाँ इतना जरूर है कि ये सब धार्मिक और सीधी साधी कथायें हैं, इनमें वह उपन्यासों-

की उलझन, उनकी वह चटकीली भाषा और वह उत्कण्ठा बढ़ानेवाला कथानुसन्धान नहीं है, इसलिये संभव है हमारे बहुतसे उपन्यास-प्रेमी पाठक इन्हें पसन्द न भी करें। पर जिनका जीवन धर्ममय है, जो धर्मको कुछ महत्त्व देते हैं, उसे अपना कल्याणका पथ समझते हैं, उनके लिये तो निस्सन्देह ये कथायें बहुत ही उपयोगी होंगी और वे इनके द्वारा बहुत कुछ लाभ भी उठा सकेंगे। इसके सिवा कुछ हमें अपनी त्रुटियोंके सम्बन्धमें भी एक दो बातें लिखना हैं। वे ये हैं—

इतिहास—कुछ इतिहास-धुरन्धरोंका कहना है कि ग्रन्थकर्त्ताका जब तक ग्रन्थके साथ परिचय नहीं दिया जाता तब तक ग्रन्थमें जैसा महत्त्व आना चाहिये वह नहीं आता। और इसीलिये इतिहासके अन्वेषणमें उन्हें छोटी छोटी बातोंके लिये जीतोड़ परिश्रम करना पड़ता है। हां यह कहा जा सकता है कि इतिहासके सम्बन्धकी बातोंका परिचय हो जाना उपयोगी है, पर ग्रन्थमें महत्त्व भी तभी आता है, यह विश्वास करना भ्रम है। ग्रन्थका महत्त्व ग्रन्थकर्त्ताके पाण्डित्यपर निर्भर है, न कि उसके परिचय पर; और इसीलिये हमारे बड़े बड़े ऋषि और महात्माओंने इस विषयकी ओर कम ध्यान दिया है।

जो हो, इतिहासकी जितनी कुछ उपयोगिता है, उसकी दृष्टिसे भी यदि इसमें ग्रन्थकर्त्ताका परिचय रहता तो अच्छा ही था; पर खेद है कि इतिहास विषयसे हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं, इसलिये पाठकोंसे इसके लिये क्षमा चाहते हैं।

दूसरी त्रुटि भाषाके सम्बन्धमें है। हमने हिन्दीकी शिक्षा बहुत ही थोड़ी पाई है। इसलिये जैसी शुद्ध और परिमार्जित हिन्दीभाषा होनी चाहिये वैसी हमारी भाषा होना बहुत कठिन है। बल्कि इस भाषाको आप एक ग्रामीण भाषा भी कहें तो कुछ हानि न होगी। क्योंकि इसमें

आपको जगह जगह निरर्थक शब्दोंका प्रयोग, बेढंगे वाक्य दीख पड़ेंगे। और इससे हिन्दी भाषाके प्रौढ़ लेखकोंको संभवतः इससे अरुचि भी हो, परन्तु जो बात हमारे हाथकी नहीं--जिसे हम कर नहीं सकते, उसके लिये सिवा इसके कि हम आपसे क्षमा मांगे, और कर ही क्या सकते हैं।

विचारदृष्टिसे देखनेपर इसके अतिरिक्त और भी आपको बहुतसी त्रुटियाँ दीख पड़ेंगी। उन सबके लिये हम आपसे क्षमा चाहते है। आशा है उदार पाठक क्षमा करेंगे।

विनीत—

उदयलाल काशलीवाल।
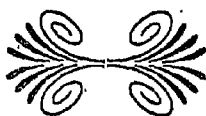
आराधना-कथाकोश ।

मंगल और प्रस्तावना ।

भव्य-पुरुषरूपी कमलोंके प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्य हैं और लोक तथा अलोकके प्रकाशक हैं-जिनके द्वारा संसारकी वस्तु-मात्रका ज्ञान होता है, उन जिन भगवान्को नमस्कार कर मैं आराधना कथाकोश नामक ग्रन्थ लिखता हूं।

उस सरस्वती-जिनवानी-के लिये नमस्कार है, जो संसारके पदार्थोंका ज्ञान करानेके लिये नेत्र है और जिसके नामहीसे प्राणी ज्ञानरूपी समुद्रके पार पहुँच सकता है-सर्वज्ञ हो सकता है।

उन मुनिराजोंके चरणकमलोंको मैं नमस्कार करता हूं, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नोंसे पवित्र हैं, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य आदि गुणोंसे युक्त हैं और ज्ञानके समुद्र हैं।

इस प्रकार देव, गुरु और भारतीका स्मरण मेरे इस ग्रन्थरूपी महलपर कलशकी शोभाको बढ़ावे। अर्थात् आरंभसे अन्तपर्यन्त यह ग्रन्थ निर्विघ्न पूर्ण हो जाय।

श्रीमूलसंघ–भारतीयगच्छ–वलात्कारगण और कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें श्रीप्रभाचन्द्र नामके मुनि हुए हैं। वे बड़े तपस्वी थे। उनकी इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती–आदि सभी पूजा किया करते थे। उन्होंने संसारके उपकारार्थ सरल और सुबोध गद्य संस्कृतभाषामें एक आराधना-कथाकोश बनाया है। उसीके आधारपर मैं यह ग्रन्थ हिन्दी भाषामें लिखता हूँ। क्योंकि सूर्यके द्वारा प्रकाशित मार्गमें सभी चलते हैं।

कल्याणकी प्राप्तिके लिये आराधना शब्दका अर्थ जैन शास्त्रानुसार कहा जाता है। उसके सुननेसे सत्पुरुषोंको भी सन्तोष होगा।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये संसारबन्धनके नाश करनेवाले हैं, इनका स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्तिके लिये भक्तिपूर्वक शक्तिके अनुसार उद्योत, उद्यमन, निर्वाहण, साधन और निस्तरण करनेको आचार्य आराधना कहते हैं। इन पाँचोंका खुलासा अर्थ यों है:—

उद्योत—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इनका संसारमें प्रकाश करना–लोगोंके हृदयपर इनका प्रभाव डालना–उद्योत है।

उद्यमन—स्वीकार किये हुए उक्त सम्यग्दर्शनादिका पालन करनेके लिये निरालस होकर बाह्य और अन्तरंगमें यत्न करना उद्यमन है

निर्वाहण—कभी कोई ऐसा बलवान् कारण उपस्थित हो जाय, जिससे सम्यग्दर्शनादिके छोड़नेकी नौबत आ जाय तो उस समय अनेक तरहके कष्ट उठाकर भी उन्हें न छोड़ना निर्वाहण है।

साधन—तत्वार्थादि महाशास्त्रके पठनके समय जो मुनियोंके उक्त दर्शनादिकी राग रहित पूर्णता होना वह साधन है।

निस्तरण—इन दर्शनादिका मरणपर्यन्त निर्विघ्न पालन करना वह निस्तरण है।

इस प्रकार जैनाचार्योंने आराधनाका क्रम पाँच प्रकार बतलाया है। उसे हमने लिख दिया। अब हम उनकी क्रमसे कथा लिखते हैं।

१—पात्रकेसरीकी कथा।

त्रकेसरी आचार्यने सम्यग्दर्शनका उद्योत किया था। उनका चरित मैं लिखता हूँ। वह सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका कारण है।

भगवान्के पँचकल्याणोंसे पवित्र और सब जीवोंको सुखके देनेवाले इस भारतवर्षमें एक मगध नामका देश है। वह संसारके श्रेष्ठ वैभवका स्थान है। उसके अन्तर्गत एक अहिछत्र नामका सुन्दर शहर है। उसकी सुन्दरता संसारको चकित करनेवाली है।

नगरवासियोंके पुण्यसे उसका अवनिपाल नामका राजा बड़ा गुणी था, सब राजविद्याओंका पंडित था। अपने राज्यका पालन वह अच्छी नीतिके साथ करता था। उसके पास पाँचसौ अच्छे विद्वान् ब्राह्मण थे। वे वेद और वेदांगके जानकार थे। राजकार्यमें वे अवनिपालको अच्छी सहायता देते थे। उनमें एक अवगुण था, वह यह कि-उन्हें अपने कुलका बड़ा घमण्ड था। उससे वे सबको नीची दृष्टिसे देखा-करते थे। वे प्रातःकाल और सायंकाल नियमपूर्वक अपना सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करते थे। उनमें एक विशेष बात थी, वह यह कि वे जब राजकार्य करनेको राजसभामें जाते, तब उसके पहले कौतूहलसे पार्श्वनाथ जिनालयमें श्रीपार्श्वनाथकी पवित्र प्रतिमाका दर्शन कर जाया करते थे।

एक दिनकी बात है कि वे जब अपना सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करके जिनमन्दिरमें आये तब उन्होंने एक चारित्रभूषण नामके मुनिराजको भगवान्के सम्मुख देवागम नामक स्तोत्रका पाठ करते देखा। उन सबमें प्रधान पात्रकेसरीने मुनिसे पूछा, क्या आप इस स्तोत्रका अर्थ भी जानते हैं? सुनकर मुनि बोले-मैं इसका अर्थ नहीं जानता। पात्रकेसरी फिर बोले-साधुराज, इस स्तोत्रको फिर तो एक बार पढ़ जाइये। मुनिराजने पात्रकेसरीके कहे अनुसार धीरे धीरे और पदान्तमें विश्रामपूर्वक फिर देवागमको पढ़ा, उसे सुनकर लोगोंका चित्त बड़ा प्रसन्न होता था।

पात्रकेसरीकी धारणाशक्ति बड़ी विलक्षण थी। उन्हें एक बारके सुननेसे ही सबका सब याद हो जाता था। देवा-

गमको भी सुनते ही उन्होंने याद कर लिया। अब वे उसका अर्थ विचारने लगे। उस समय दर्शनमोहनीकर्मके क्षयोपशमसे उन्हें यह निश्चय हो गया कि जिन भगवान्ने जो जीवाजीवादिक पदार्थोंका स्वरूप कहा है, वही सत्य है और सत्य नहीं है। इसके बाद वे घरपर जाकर वस्तुका स्वरूप विचारने लगे। सब दिन उनका उसी तत्त्वविचारमें बीता। रातको भी उनका यही हाल रहा। उन्होंने विचार किया— जैनधर्ममें जीवादिक पदार्थोंको प्रमेय–जानने योग्य माना है और तत्त्वज्ञान–सम्यग्ज्ञानको प्रमाण माना है। पर क्या आश्चर्य है कि अनुमान प्रमाणका लक्षण कहा ही नहीं गया। यह क्यों? जैनधर्मके पदार्थोंमें उन्हें कुछ सन्देह हुआ, उससे उनका चित्त व्यग्र हो उठा। इतनेहीमें पद्मावती देवीका आसन कम्पायमान हुआ। वह उसी समय वहां आई और पात्रकेसरीसे उसने कहा—आपको जैनधर्मके पदार्थोंमें कुछ सन्देह हुआ है, पर इसकी आप चिन्ता न करें। आप प्रातःकाल जब जिनभगवान्के दर्शन करनेको जायंगे तब आपका सब सन्देह मिटकर आपको अनुमान प्रमाणका निश्चय हो जायगा। पात्रकेसरीसे इस प्रकार कहकर पद्मावती जिनमन्दिर गई और वहां पार्श्वजिनकी प्रतिमाके फणपर एक श्लोक लिखकर वह अपने स्थानपर चली गई। वह श्लोक यह था—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

अर्थात्—जहांपर अन्यथानुपपत्ति है, वहां हेतुके दूसरे तीन रूप माननेसे क्या प्रयोजन है? तथा जहांपर अन्य-

थानुपपत्ति नहीं है, वहां हेतुके तीन रूप माननेसे भी क्या फल है। भावार्थ साध्यके अभावमें न मिलनेवालेको ही अन्यथानुपपन्न कहते हैं। इसलिये अन्यथानुपपत्ति हेतुका असाधारण रूप है। किन्तु बौद्ध इसको न मानकर हेतुके १–पक्षेसत्त्व, २–सपक्षेसत्त्व, ३–विपक्षाद्व्यावृत्ति ये तीन रूप मानता है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि कहीं कहींपर त्रैरूप्यके न होनेपर भी अन्यथानुपत्तिके बलसे हेतु सद्धेतु होता है। और कहीं कहींपर त्रैरूप्यके होनेपर भी अन्यथानुपत्तिके न होनेसे हेतु सद्धेतु नहीं होता। जैसे एक मुहूर्तके अनन्तर शकटका उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय है। यहांपर पक्षेसत्त्वके न होनेपर भी अन्यथानुपत्तिके बलसे हेतु सद्धेतु है। और 'गर्भस्थ पुत्र श्याम होगा, क्योंकि यह मित्रका पुत्र है। यहांपर त्रैरूप्यके रहनेपर भी अन्यथानुपपत्तिके न होनेसे हेतु सद्धेतु नहीं होता। *

पात्रकेसरीने जब पद्मावतीको देखा तब ही उनकी श्रद्धा जैनधर्ममें खूब दृढ़ हो गई थी, जो कि सुख देनेवाली और संसारके परिवर्तनका नाश करनेवाली है। पश्चात् जब वे प्रातःकाल जिनमन्दिर गये और श्रीपार्श्वनाथकी प्रतिमापर उन्हें अनुमान प्रमाणका लक्षण लिखा हुआ मिला तब तो उनके आनन्दका कुछ पार नहीं रहा। उसे देखकर उनका सब सन्देह दूर हो गया। जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार नष्ट हो जाता है।

---

* इसका विशेष न्यायदीपिका आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये।

इसके बाद ब्राह्मण-प्रधान, पुण्यात्मा और जिनधर्मके परम श्रद्धालु पात्रकेसरीने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने हृदयमें निश्चयकर लिया कि जिन भगवान् ही निर्दोष और संसाररूपी समुद्रसे पार करनेवाले देव हो सकते हैं और जिनधर्म ही दोनों लोकमें सुख देनेवाला धर्म हो सकता है। इस प्रकार दर्शनमोहनीकर्मके क्षयोपशमसे उन्हें सम्यक्त्वरूपी परम रत्नकी प्राप्ति हो गई-उससे उनका मन बहुत प्रसन्न रहने लगा।

अब उन्हें निरन्तर जिनधर्मके तत्त्वोंकी मीमांसाके सिवा कुछ सूझने ही न लगा-वे उनके विचारमें मग्न रहने लगे। उनकी यह हालत देखकर उनसे उन ब्राह्मणोंने पूछा-आज कल हम देखते हैं कि आपने मीमांसा, गौतमन्याय, वेदान्त आदिका पठन पाठन बिलकुल ही छोड़ दिया है और उनकी जगह जिनधर्मके तत्त्वोंका ही आप विचार किया करते हैं। यह क्यों ? सुनकर पात्रकेसरीने उत्तर दिया-आप लोगोंको अपने वेदोंका अभिमान है-उनपर ही आपका विश्वास है, इसलिये आपकी दृष्टि सत्य बातकी ओर नहीं जाती। पर मेरा विश्वास आपसे उल्टा है-मुझे वेदोंपर विश्वास न होकर जैनधर्मपर विश्वास है। वही मुझे संसारमें सर्वोत्तम धर्म दिखता है। मैं आप लोगोंसे भी आग्रहपूर्वक कहता हूं कि आप विद्वान् हैं-सच झूठकी परीक्षा कर सकते हैं, इसलिये जो मिथ्या हो-झूठा हो, उसे छोड़कर सत्यको गृहण कीजिये और ऐसा सत्य धर्म एक जिनधर्म ही है; इसलिये वह गृहण करने योग्य है।

पात्रकेसरीके इस उत्तरसे उन ब्राह्मणोंको सन्तोष नहीं हुआ। वे इसके विपरीत उनसे शास्त्रार्थ करनेको तैयार हो गये। राजाके पास जाकर उन्होंने पात्रकेसरीके साथ शास्त्रार्थ करनेकी प्रार्थना की। राजाज्ञाके अनुसार पात्रकेसरी राजसभामें बुलवाये गये। उनका शास्त्रार्थ हुआ। उन्होंने वहाँ सब ब्राह्मणोंको पराजित कर संसारपूज्य और प्राणियोंको सुख देनेवाले जिनधर्मका खूब प्रभाव प्रगट किया और सम्यग्दर्शनकी महिमा प्रकाशित की।

उन्होंने एक जिनस्तोत्र बनाया। उसमें जिनधर्मके तत्त्वोंका विवेचन और अन्यमतोंके तत्त्वोंका बड़े पाण्डित्यके साथ खण्डन किया गया है। उसका पठन पाठन सबके लिये सुखका कारण है। पात्रकेसरीके श्रेष्ठ गुणों और अच्छे विद्वानों द्वारा उनका आदर सम्मान देखकर अवनिपाल राजाने तथा उन ब्राह्मणोंने मिथ्यामतको छोड़ कर शुभ भावोंके साथ जैनमतको ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार पात्रकेसरीके उपदेशसे संसारसमुद्रसे पार करनेवाले सम्यग्दर्शनको और स्वर्ग तथा मोक्षके देनेवाले पवित्र जिनधर्मको स्वीकार कर अवनिपाल-आदिने पात्रकेसरीकी बड़ी श्रद्धाके साथ प्रशंसा की कि-द्विजोत्तम, तुमने जैनधर्मको बड़े पाण्डित्यके साथ खोज निकाला है, तुमहीने जिन भगवान्के उपदेशित तत्त्वोंके मर्मको अच्छी तरह समझा है, तुम ही जिन भगवान्के चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले सच्चे भ्रमर हो, तुम्हारी जितनी स्तुति की जाय थोड़ी है। इस प्रकार-पात्रकेसरीके गुणों और पाण्डित्यकी हृदयसे प्रशंसा करके उन सबने उनका बड़ा आदर सम्मान किया।

जिस प्रकार पात्रकेसरीने सुखके कारण परम पवित्र सम्यग्दर्शनका उद्योत कर–उसका संसारमें प्रकाश कर-राजाओंके द्वारा सम्मान प्राप्त किया, इसी प्रकार और भी जो जिन धर्मका श्रद्धानी होकर भक्तिपूर्वक सम्यग्दर्शनका उद्योत करेगा वह भी यशस्वी बनकर अन्तमें स्वर्ग या मोक्षका पात्र होगा।

कुन्दपुष्प, चन्द्र–आदिके समान निर्मल और कीर्तियुक्त श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। श्रुतसागर उनके गुरुभाई हैं। उन्हींकी आज्ञासे मैंने यह कथा श्रीसिंहनन्दी मुनिके पास रहकर बनाई है। वह इसलिये कि इसके द्वारा मुझे सम्यक्त्वरत्नकी प्राप्ति हो।

२–भट्टाकलंकदेवकी कथा।

मैं जीवोंको सुखके देनेवाले जिनभगवान्को नमस्कार कर, इस अध्यायमें भट्टाकलंकदेवकी कथा लिखता हूं जो कि सम्यग्ज्ञानका उद्योत करनेवाली है।

भारतवर्षमें एक मान्यखेट नामका नगर था। उसके राजा थे शुभतुंग और उनके मंत्रीका नाम पुरुषोत्तम था। पुरुषोत्तमकी गृहिणी पद्मावती थी। उसके दो पुत्र हुए। उनके नाम थे अकलंक और निकलंक। वे दोनों भाई बड़े बुद्धिमान्-गुणी थे।

एक दिनकी बात है कि अष्टान्हिका पर्वकी अष्टमीके दिन पुरुषोत्तम और उसकी गृहिणी बड़ी विभूतिके साथ चित्रगुप्त

मुनिराजकी वन्दना करनेको गई। साथमें दोनों भाई भी गये। मुनिराजकी वन्दना कर इनके मातापिताने आठ दिनके लिये ब्रह्मचर्य लिया और साथ ही विनोदवश अपने दोनों पुत्रोंको भी उन्होंने ब्रह्मचर्य दे दिया।

कुछ दिनोंके बाद पुरुषोत्तमने अपने पुत्रोंके ब्याहकी आयोजना की। यह देख दोनों भाइयोंने मिलकर पितासे कहा-पिताजी! इतना भारी आयोजन, इतना परिश्रम आप किस लिये कर रहे हैं? अपने पुत्रोंकी भोली बात सुनकर पुरुषोत्तमने कहा-यह सब आयोजन तुम्हारे ब्याहके लिये है। पिताका उत्तर सुनकर दोनों भाइयोंने फिर कहा-पिताजी! अब हमारा ब्याह कैसा? आपने तो हमें ब्रह्मचर्य दे दिया था न? पिताने कहा नहीं, वह तो केवल विनोदसे दिया गया था। उन बुद्धिमान् भाइयोंने कहा-पिताजी! धर्म और व्रतमें विनोद कैसा? यह हमारी समझमें नहीं आया। अच्छा आपने विनोदहीसे दिया सही, तो अब उसके पालनकरनेमें भी हमें लज्जा कैसी? पुरुषोत्तमने फिर कहा-अस्तु। जैसा तुम कहते हैं वही सही, पर तब तो केवल आठ ही दिनके लिये ब्रह्मचर्य दिया था न? दोनों भाइयोंने कहा-पिताजी हमें आठ दिनके लिये ब्रह्मचर्य दिया गया था, इसका न तो आपने हमसे खुलासा कहा था और न आचार्य महाराजने ही। तब हम कैसे समझें कि वह व्रत आठ ही दिनके लिये था। इसलिये हम तो अब उसका आजन्म पालन करेंगे, ऐसी हमारी दृढ़ प्रतिज्ञा है। हम अब विवाह नहीं करेंगे। यह कह कर दोनों भाइयोंने घरका सब कारोबार छोड़कर

और अपना चित्त शास्त्राभ्यासकी ओर लगाया। थोड़े ही दिनोंमें ये अच्छे विद्वान् बन गये। इनके समयमें बौद्धधर्मका बहुत जोर था। इसलिये इन्हें उसके तत्त्व जाननेकी इच्छा हुई। उस समय मान्यखेटमें ऐसा कोई बौद्ध विद्वान् नहीं था, जिससे ये बौद्धधर्मका अभ्यास करते। इसलिये ये एक अज्ञ विद्यार्थीका वेष बनाकर महाबोधि नामक स्थानमें बौद्धधर्माचार्यके पास गये। आचार्यने इनकी अच्छी तरह परीक्षा करके कि-कहीं ये छली तो नहीं है, और जब उन्हें इनकी ओरसे विश्वास हो गया तब वे और और शिष्योंके साथ साथ इन्हें भी पढ़ाने लगे। ये भी अन्तरंगमें तो पक्के जिनधर्मी और बाहिर एक महामूर्ख बनकर स्वर व्यंजन सीखने लगे। निरंतर बौद्धधर्म सुनते रहनेसे अकलंकदेवकी बुद्धि बड़ी विलक्षण हो गई। उन्हें एक ही बारके सुननेसे कठिनसे कठिन बात भी याद हो जाने लगी और निकलंकको दो बार सुननेसे। अर्थात् अकलंक एक संस्थ और निकलंक दो संस्थ हो गये। इस प्रकार वहां रहते दोनों भाइयोंका बहुत समय बीत गया।

एक दिनकी बात है-बौद्धगुरु अपने शिष्योंको पढ़ा रहे थे। उस समय प्रकरण था जैनधर्मके सप्तभंगी सिद्धान्तका। वहां कोई ऐसा अशुद्धपाठ आ गया जो बौद्धगुरुकी समझमें न आया, तब वे अपने व्याख्यानको वहीं समाप्तकर कुछ समयके लिये बाहर चले आये। अकलंक बुद्धिमान् थे, वे बौद्धगुरुके भाव समझ गये; इसलिये उन्होंने बड़ी बुद्धिमानीके साथ उस पाठको शुद्धकर दिया और उसकी खबर किसीको न होने दी।

इतनेमें पीछे बौद्धगुरु आये। उन्होंने अपना व्याख्यान आरंभ किया। जो पाठ अशुद्ध था, वह अब देखते ही उनकी समझमें आ गया। यह देख उन्हें सन्देह हुआ कि अवश्य इस जगह कोई जिनधर्मरूप समुद्रका बढ़ानेवाला चन्द्रमा है और वह हमारे धर्मके नष्ट करनेकी इच्छासे बौद्धवेष धारणकर बौद्धशास्त्रका अभ्यास कर रहा है। उसका जल्दी ही पता लगाकर उसे मरवा डालना चाहिये। इस विचारके साथ ही बौद्धगुरुने सब विद्यार्थियोंको शपथ-प्रतिज्ञा आदि देकर पूछा, पर जैनधर्मीका पता उन्हें नहीं लगा। इसके बाद उन्होंने जिनप्रतिमा मँगवाकर उसे लाँघ जानेके लिये सबको कहा। सब विद्यार्थी तो लाँघ गये, अब अकलंककी बारी आई; उन्होंने अपने कपड़ेमेंसे एक सूतका सूक्ष्म धागा निकालकर उसे प्रतिमापर डाल दिया और उसे परिग्रही समझकर वे झटसे लाँघ गये। यह कार्य इतनी जल्दी किया गया कि किसीकी समझमें न आया। बौद्धगुरु इस युक्तिमें भी जब कृतकार्य नहीं हुए तब उन्होंने एक और नई युक्ति की। उन्होंने बहुतसे कांसीके बर्तन इकट्ठे करवाये और उन्हें एक बड़ी भारी गौनमें भरकर वह बहुत गुप्त रीतिसे विद्यार्थियोंके सोनेकी जगहके पास रखवादी और विद्यार्थियोंकी देख रेखके लिये अपना एक एक गुप्तचर रख दिया।

आधी रातका समय था। सब विद्यार्थी निडर होकर निद्रादेवीकी गोदमें सुखका अनुभव कर रहे थे। किसीको कुछ मालूम न था कि हमारे लिये क्या क्या षड्यंत्र रचे जा रहे हैं। एका एक बड़ा विकराल शब्द हुआ। मानों

आसमानसे बिजली टूटकर पड़ी। सब विद्यार्थी उस भयंकर आवाजसे काँप उठे। वे अपना जीवन बहुत थोड़े समयके लिये समझकर अपने उपास्य परमात्माका स्मरण कर उठे। अकलंक और निकलंक भी पंच नमस्कार मंत्रका ध्यान करने लग गये। पास ही बौद्धगुरुका जासूस खड़ा हुआ था। वह उन्हें बुद्ध भगवान्‌का स्मरण करनेकी जगह जिन भगवानका स्मरण करते देखकर बौद्धगुरुके पास ले गया और गुरुसे उसने प्रार्थना की–प्रभो! आज्ञा कीजिये कि इन दोनों धूर्तोंका क्या किया जाय? ये ही जैनी हैं। सुनकर वह दुष्ट बौद्धगुरु बोला–इस समय रात थोड़ी बीती है, इस लिये इन्हें लेजाकर कैदखानेमें वन्द करदो, जब आधीरात हो जाय तब इन्हें मार डालना। गुप्तचरने दोनों भाइयोंको लेजाकर कैदखानेमें वन्द कर दिया।

अपनेपर एक महाविपत्ति आई देखकर निकलंकने बड़े भाईसे कहा–भैया! हम लोगोंने इतना कष्ट उठाकर तो विद्या प्राप्त की, पर कष्ट है कि उसके द्वारा हम कुछ भी जिनधर्मकी सेवा न कर सके और एका एक हमें मृत्युका सामना करना पड़ा। भाईकी दुःखभरी बात सुनकर महा धीर-वीर अकलंकने कहा–प्रिय! तुम बुद्धिमान् हो, तुम्हें भय करना उचित नहीं। घबराओ मत। अब भी हम अपने जीवनकी रक्षा कर सकेंगे। देखो, मेरे पास यह छत्री है, इसके द्वारा अपनेको छुपा कर हम लोग यहाँसे निकल चलते हैं और शीघ्र ही अपने स्थानपर जा पहुँचते हैं। यह विचार कर वे दोनों भाई दबे पाँव निकल गये और जल्दी जल्दी रास्ता तय करने लगे।

इधर जब आधी रात बीत चुकी, और बौद्धगुरुकी आज्ञानुसार उन दोनों भाईयोंके मारनेका समय आया; तब उन्हें पकड़ लानेके लिये नौकर लोग दौड़े गये, पर वे कैद-खानेमें जाकर देखते हैं तो वहाँ उनका पता नहीं। उन्हें उनके एका एक गायब हो जानेसे बड़ा आश्चर्य हुआ। पर कर क्या सकते थे। उन्हें उनके कहीं आस पास ही छुपे रहनेका सन्देह हुआ। उन्होंने आस पासके वन, जंगल, खंडहर, बावड़ी, कूए, पहाड़, गुफायें—आदि सब एक एक करके ढूँढ़ डाले, पर उनका कहीं पता न चला। उन पापियों-को तब भी सन्तोप न हुआ सो उनके मारनेकी इच्छासे अश्व द्वारा उन्होंने यात्रा की। उनकी दयारूपी बेल क्रोधरूपी दावा-ग्निसे खूब ही झुलस गई थी, इसीलिये उन्हें ऐसा करनेको बाध्य होना पड़ा। दोनों भाई भागते जाते थे और पीछे फिर फिर कर देखते जाते थे, कि कहीं किसीने हमारा पीछा तो नहीं किया है। पर उनका सन्देह ठीक निकला। निकलंकने दूरतक देखा तो उसे आकाशमें धूल उठती हुई दीख पड़ी। उसने बड़े भाईसे कहा—भैया! हम लोग जितना कुछ करते हैं, वह सब निष्फल जाता है। जान पड़ता है दैवने अपनेसे पूर्ण शत्रुता बांधी है। खेद है— परम पवित्र जिनशासनकी हम लोग कुछ भी सेवा न कर सके और मृत्युने बीचहीमें आकर अपनेको धर दबाया। भैया! देखो, तो पापी लोग हमें मारनेके लिये पीछा किये चले आ रहे हैं। अब रक्षा होना असंभव है। हाँ मुझे एक उपाय सूझ पड़ा है और उसे आप करेंगे तो जैनधर्मका बड़ा उपकार होगा। आप बुद्धि-

मान् हैं, एकसंस्थ हैं। आपके द्वारा जिनधर्मका खूब प्रकाश होगा। देखते हैं–वह सरोवर है। उसमें बहुतसे कमल हैं। आप जल्दी जाइये और तालाबमें उतर कर कमलोंमें अपनेको छुपा लीजिये। जाइये, जल्दी कीजिये; देरीका काम नहीं है। शत्रु पास पहुँचे आ रहे हैं। आप मेरी चिन्ता न कीजिये। मैं भी जहाँतक बन पड़ेगा, जीवनकी रक्षा करूँगा। और यदि मुझे अपना जीवन दे देना भी पड़े तो मुझे उसकी कुछ परवा नहीं, जब कि मेरे प्यारे भाई जीते रहकर पवित्र जिनशासनकी भरपूर सेवा करेंगे। आप जाइये, मैं भी अब यहाँसे भागता हूँ।

अकलंककी आँखोंसे आसुओंकी धार बह चली। उनका गला भातृप्रेमसे भर आया। वे भाईसे एक अक्षर भी न कह पाये कि निकलंक वहाँसे भाग खड़ा हुआ। लाचार होकर अकलंकको अपने जीवनकी–नहीं, पवित्र जिनशासनकी रक्षाके लिये कमलोंमें छुपना पड़ा। उनके लिये कमलोंका आश्रय केवल दिखाऊ था। वास्तवमें तो उन्होंने जिसके बराबर संसारमें कोई आश्रय नहीं हो सकता, उस जिनशासनका आश्रय लिया था।

निकलंक भाईसे विदा हो जी छोड़कर भागा जाता था। रास्तेमें उसे एक धोबी कपड़े धोते हुए मिला। धोबीने आकाशमें धूलकी छटा छाई हुई देखकर निकलंकसे पूछा, यह क्या हो रहा है? और तुम ऐसे जी छोड़कर क्यों भागे जा रहे हो? निकलंकने कहा–पीछे शत्रुओंकी सेना आ रही है। उसे जो मिलता है उसे ही वह मार डाल-

ती है। इसीलिये मैं भागा जा रहा हूं। सुनते ही धोबी भी कपड़े वगैरह सब वैसे ही छोड़कर निकलंकके साथ भाग खड़ा हुआ। वे दोनों बहुत भागे, पर आखिर कहांतक भाग सकते थे। सवारोंने उन्हें धर पकड़ा और उसी समय अपनी चमचमाती तलवारसे दोनोंका शिर काटकर उन्हें वे अपने मालिकके पास ले गये। सच है—पवित्र जिनधर्म-अहिंसाधर्म—से रहित और मिथ्यात्वको अपनाये हुए पापी लोगोंके लिये ऐसा कौन महापाप बाकी रह जाता है, जिसे वे नहीं करते। जिनके हृदयमें जीवमात्रको सुख पहुंचाने-वाले जिनधर्मका लेश भी नहीं है, उन्हें दूसरोंपर दया आ भी कैसे सकती है?

उधर शत्रु अपना काम कर वापिस लौटे और इधर अक-लंक अपनेको निर्विघ्न समझ सरोवरसे निकले और निडर होकर आगे बढ़े। वहांसे चलते चलते वे कुछ दिनों बाद कलिंगदेशान्तर्गत रत्नसंचयपुर नामक शहरमें पहुँचे। इसके बादका हाल हम नीचे लिखते हैं।

उस समय रत्नसंचयपुरके राजा हिमशीतल थे। उनकी रानीका नाम था मदनसुन्दरी। वह जिन भगवान्की बड़ी भक्त थी। उसने स्वर्ग और मोक्षसुखके देनेवाले पवित्र जिनधर्मकी प्रभावनाके लिये अपने बनाये हुए जिन मन्दि-रमें फाल्गुण शुक्ल अष्टमीके दिनसे रथयात्रोत्सवका आरंभ करवाया था। उसमें उसने बहुत द्रव्य व्यय किया था।

वहाँ संघश्री नामक बौद्धोंका प्रधान आचार्य रहता था। उसे महारानीका कार्य सहन नहीं हुआ। उसने महाराजसे कहकर

रथयात्रोत्सव अटका दिया और साथ ही वहाँ जिनधर्मका प्रचार न देखकर शास्त्रार्थके लिये विज्ञापन भी निकाल दिया। महाराज शुभतुंगने अपनी महारानीसे कहा-प्रिये, जबतक कोई जैन विद्वान् बौद्धगुरुके साथ शास्त्रार्थ करके जिनधर्मका प्रभाव न फैलावेगा तबतक तुम्हारा उत्सव होना कठिन है। महाराजकी बातें सुनकर रानीको बड़ा खेद हुआ। पर वह कर ही क्या सकती थी। उस समय कौन उसकी आशा पूरी कर सकता था। वह उसी समय जिनमन्दिर गई और वहाँ मुनियोंको नमस्कार कर उनसे बोली-प्रभो, बौद्धगुरुने मेरा रथयात्रोत्सव रुकवा दिया है। वह कहता है कि- पहले मुझसे शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त करलो, फिर रथोत्सव करना। विना ऐसा किये उत्सव न हो सकेगा। इसलिये मैं आपके पास आई हूं। बतलाइए जैनदर्शनका अच्छा विद्वान् कौन है, जो बौद्धगुरुको जीतकर मेरी इच्छा पूरी करे? सुनकर मुनि बोले-इधर आसपास तो ऐसा विद्वान् नहीं दिखता जो बौद्धगुरुका सामना कर सके। हाँ मान्यखेट नगरमें ऐसे विद्वान् अवश्य हैं। उनके बुलवानेका आप प्रयत्न करें तो सफलता प्राप्त हो सकती है। रानीने कहा-वाह, आपने बहुत ठीक कहा, सर्प तो शिरके पास फुंकार कर रहा है और कहते हैं कि गारुड़ी दूर है। भला, इससे क्या सिद्धि हो सकती है? अस्तु। जान पड़ा कि आप लोग ...म विपत्तिका सद्यः प्रतिकार नहीं कर सकते। दैवको जिन-...का पतन कराना ही इष्ट मालूम देता है। जब मेरे पवित्र ...की दुर्दशा होगी तब मैं ही जीकर क्या करूंगी? यह

कहकर महारानी राजमहलसे अपना सम्बन्ध छोड़कर जिन-मन्दिर गई और उसने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की-" जब संघश्रीका मिथ्याभिमान चूर्ण होकर मेरा रथोत्सव बड़े ठाठबाटके साथ निकलेगा और जिनधर्मकी खूब प्रभावना होगी, तब ही मैं भोजन करूंगी, नहीं तो वैसे ही निराहार रहकर मर मिटूंगी; पर अपनी आँखोंसे पवित्र जैनशासनकी दुर्दशा कभी नहीं देखूँगी।" ऐसा हृदयमें निश्चय कर मदन-सुन्दरी जिन भगवान्के सम्मुख कायोत्सर्ग धारण कर पंच-नमस्कार मंत्रकी आराधना करने लगी। उस समय उसकी ध्यान-निश्चल अवस्था बड़ी ही मनोहर दीख पड़ती थी। मानो-सुमेरुगिरिकी श्रेष्ठ निश्चल चूलिका हो।

"भव्यजीवोंको जिनभक्तिका फल अवश्य मिलता है।" इस नीतिके अनुसार महारानी भी उससे वंचित नहीं रही। महारानीके निश्चल ध्यानके प्रभावसे पद्मावतीका आसन कंपित हुआ। वह आधीरातके समय आई और महारानीसे बोली-देवी, जब कि तुम्हारे हृदयमें जिनभगवान्के चरण कमल शोभित हैं, तब तुम्हें चिन्ता करनेकी कोई आवश्य-कता नहीं। उनके प्रसादसे तुम्हारा मनोरथ नियमसे पूर्ण होगा। सुनो, कल प्रातःकाल ही भगवान् अकलंकदेव इधर आवेंगे। वे जैनधर्मके बड़े भारी विद्वान् हैं। वे ही संघश्रीका दर्प चूर्णकर जिनधर्मकी खूब प्रभावना करेंगे और तुम्हारा रथोत्सवका कार्य निर्विघ्न समाप्त करेंगे। उन्हें अपने मनो-रथोंके पूर्ण करनेवाले मूर्त्तिमान् शरीर समझो। यह कह पद्मावती अपने स्थान चली गई।

देवीकी बात सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने बड़ी भक्तिके साथ जिनभगवान्‌की स्तुति की और प्रातःकाल होते ही महाभिषेक पूर्वक पूजा की। इसके बाद उसने अपने राजकीय प्रतिष्ठित पुरुषोंको अकलंकदेवके ढूंढनेको चारों ओर दौड़ाये। उनमें जो पूर्व दिशाकी ओर गये थे, उन्होंने एक बगीचेमें अशोक वृक्षके नीचे बहुतसे शिष्योंके साथ एक महात्माको बैठे देखा। उनके किसी एक शिष्यसे महात्माका परिचय और नाम धाम पूछकर वे अपनी मालकिनके पास आये और सब हाल उन्होंने उससे कह सुनाया। सुनकर ही वह धर्मवत्सला खानपान आदि सब सामग्री लेकर अपने सधर्मियोंके साथ बड़े वैभवसे महात्मा अकलंकके साम्हने गई। वहाँ पहुँचकर उसने बड़े प्रेम और भक्तिसे उन्हें प्रणाम किया। उनके दर्शनसे रानीको अत्यन्त आनन्द हुआ। जैसे सूर्यको देखकर कमलिनीको और मुनियोंका तत्त्वज्ञान देखकर बुद्धिको आनन्द होता है।

इसके बाद रानीने धर्मप्रेमके वश होकर अकलंकदेवकी चन्दन, अगुरु, फल, फूल, वस्त्रादिसे बड़े विनयके साथ पूजा की और पुनः प्रणाम कर वह उनके साम्हने बैठ गई। उसे आशीर्वाद देकर पवित्रात्मा अकलंक बोले—देवी, तुम अच्छी तरह तो हो, और सब संघ भी अच्छी तरह है न? महात्माके वचनोंको सुनकर रानीकी आँखोंसे आँसु बह निकले, उसका गला भर आया। वह बड़ी कठिनतासे बोली—प्रभो, संघ है तो कुशल, पर इस समय उसका घोर अपमान हो रहा है; उसका मुझे बड़ा कष्ट है। यह कहकर उसने संघ-

श्रीका सब हाल अकलंकसे कह सुनाया। पवित्र धर्मका अपमान अकलंक न सह सके। उन्हें क्रोध हो आया। वे बोले-वह वराक संघश्री मेरे पवित्र धर्मका अपमान करता है, पर वह मेरे साम्हने है कितना, इसकी उसे खबर नहीं है। अच्छा देखूंगा उसके अभिमानको कि वह कितना पाण्डित्य रखता है। मेरे साथ खास बुद्धतक तो शास्त्रार्थ करनेकी हिम्मत नहीं रखता, तब वह बेचारा किस गिनतीमें है? इस तरह रानीको सन्तुष्ट करके अकलंकने संघश्रीके शास्त्रार्थके विज्ञापनकी स्वीकारता उसके पास भेज दी और आप बड़े उत्सवके साथ जिनमन्दिर आ पहुँचे।

पत्र संघश्रीके पास पहुँचा। उसे देखकर और उसकी लेखनशैलीको पढ़कर उसका चित्त क्षुभित हो उठा। आखिर उसे शास्त्रार्थके लिये तैयार होना ही पड़ा।

अकलंकके आनेके समाचार महाराज हिमशीतलके पास पहुँचे। उन्होंने उसी समय बड़े आदर सम्मानके साथ उन्हें राजसभामें बुलवाकर संघश्रीके साथ उनका शास्त्रार्थ करवाया। संघश्री उनके साथ शास्त्रार्थ करनेको तो तैयार हो गया, पर जब उसने अकलंकके प्रश्नोत्तर करनेका पाण्डित्य देखा और उससे अपनी शक्तिकी तुलना की तब उसे ज्ञात हुआ कि मैं अकलंकके साथ शास्त्रार्थ करनेमें अशक्त हूं; पर राजसभामें ऐसा कहना भी उसने उचित न समझा। क्योंकि उससे उसका अपमान होता। तब उसने एक नई युक्ति सोचकर राजासे कहा-महाराज, यह धार्मिक विषय है, इसका निकाल होना कठिन है। इसलिये मेरी इच्छा है कि यह

शास्त्रार्थ सिलसिलेवार तबतक चलना चाहिये जबतक कि एक पक्ष पूर्ण निरुत्तर न हो जाय। राजाने अकलंककी अनुमति लेकर संघश्रीके कथनको मान लिया। उस दिनका शास्त्रार्थ बंद हुआ। राजसभा भंग हुई।

अपने स्थानपर आकर संघश्रीने जहाँ जहाँ बौद्धधर्मके विद्वान् रहते थे, उनके बुलवानेको अपने शिष्योंको दौड़ाये और आपने रात्रिके समय अपने धर्मकी अधिष्ठात्री देवीकी आराधना की। देवी उपस्थित हुई। संघश्रीने उससे कहा—देखती हो, धर्मपर बड़ा संकट उपस्थित हुआ है। उसे दूर कर धर्मकी रक्षा करनी होगी। अकलंक बड़ा पंडित है। उसके साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त करना असंभव था। इसी लिये मैंने तुम्हें कष्ट दिया है। यह शास्त्रार्थ मेरे द्वारा तुम्हें करना होगा और अकलंकको पराजित कर बुद्धधर्मकी महिमा प्रगट करनी होगी। बोलो—क्या कहती हो? उत्तरमें देवीने कहा—हाँ मैं शास्त्रार्थ करूंगी सही, पर खुली सभामें नहीं; किन्तु पड़दे भीतर घड़ेमें रहकर। 'तथास्तु' कहकर संघश्रीने देवीको विसर्जित किया और आप प्रसन्नताके साथ दूसरी निद्रा-देवीकी गोदमें जा लेटा।

प्रातःकाल हुआ। शौच, स्नान, देवपूजन—आदि नित्य कर्मसे छुट्टी पाकर संघश्री राजसभामें पहुँचा और राजासे बोला—महाराज, हम आजसे शास्त्रार्थ पड़देके भीतर रहकर करेंगे। हम शास्त्रार्थके समय किसीका मुहँ नहीं देखेंगे। आप पूछेंगे क्यों? इसका उत्तर अभी न देकर शास्त्रार्थके अन्तमें दिया जायगा। राजा संघश्रीके कपट—जालको कुछ नहीं

समझ सके। उसने जैसा कहा वैसा उन्होंने स्वीकार कर उसी समय वहाँ एक पड़दा लगवा दिया। संघश्रीने उसके भीतर जाकर बुद्धभगवान्की पूजा की और देवीकी पूजा कर उसका एक घड़ेमें आव्हान किया। धूर्त लोग बहुत कुछ छल कपट करते हैं, पर अन्तमें उसका फल अच्छा न होकर बुरा ही होता है।

इसके बाद घड़ेकी देवी अपनेमें जितनी शक्ति थी उसे प्रगट कर अकलंकके साथ शास्त्रार्थ करने लगी। इधर अकलंकदेव भी देवीके प्रतिपादन किये हुए विषयका अपनी दिव्य भारती द्वारा खण्डन और अपने पक्षका समर्थन तथा परपक्षका खण्डन करनेवाले परम पवित्र अनेकान्त-स्याद्वादमतका समर्थन बड़ेही पाण्डित्यके साथ निडर होकर करने लगे। इस प्रकार शास्त्रार्थ होते होते छह महिना बीत गये, पर किसीकी विजय न हो पाई। यह देखकर अकलंकदेवको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा-संघश्री साधारण पढ़ा लिखा और जो पहले ही दिन मेरे सम्मुख थोड़ी देर भी न ठहर सका था, वह आज बराबर छह महिनासे शास्त्रार्थ करता चला आता है; इसका क्या कारण है, सो नहीं जान पड़ता। उन्हें इसकी बड़ी चिन्ता हुई। पर वे कर ही क्या सकते थे। एक दिन इसी चिन्तामें वे डूबे हुए थे कि इतनेमें जिनशासनकी अधिष्ठात्री चक्रेश्वरी देवी आई और अकलंकदेवसे बोली-प्रभो! आपके साथ शास्त्रार्थ करनेकी मनुष्यमात्रमें शक्ति नहीं है और बेचारा संघश्री भी तो मनुष्य है तब उसकी क्या मजाल

जो वह आपसे शास्त्रार्थ करे? पर यहाँ तो बात कुछ और ही है। आपके साथ जो शास्त्रार्थ करता है वह संघश्री नहीं है, किन्तु बुद्धधर्मकी अधिष्ठात्री तारा नामकी देवी है। इतने दिनोंसे वही शास्त्रार्थ कर रही है। संघश्रीने उसकी आराधना कर यहाँ उसे बुलाया है। इसलिये कल जब शास्त्रार्थ होने लगे और देवी उस समय जो कुछ प्रतिपादन करे तब आप उससे उसी विषयका फिरसे प्रतिपादन करनेके लिये कहिये। वह उसे फिर न कह सकेगी और तब उसे अवश्य नीचा देखना पड़ेगा। यह कहकर देवी अपने स्थानपर चली गई। अकलंकदेवकी चिन्ता दूर हुई। वे बड़े प्रसन्न हुए।

प्रातःकाल हुआ। अकलंकदेव अपने नित्यकर्मसे मुक्त होकर जिनमन्दिर गये। बड़े भक्तिभावसे उन्होंने भगवानकी स्तुति की। इसके बाद वे वहाँसे सीधे राजसभामें आये। उन्होंने महाराज शुभतुंगको सम्बोधन करके कहा—राजन्! इतने दिनोंतक मैंने जो शास्त्रार्थ किया, उसका यह मतलब नहीं था कि मैं संघश्रीको पराजित नहीं कर सका। परन्तु ऐसा करनेसे मेरा अभिप्राय जिनधर्मका प्रभाव बतलानेका था। वह मैंने बतलाया। पर अब मैं इस वादका अन्त करना चाहता हूं। मैंने आज निश्चय कर लिया है कि मैं आज इस वादकी समाप्ति करके ही भोजन करूंगा। ऐसा कहकर उन्होंने पड़देकी ओर देखकर कहा—क्या जैनधर्मके सम्बन्धमें कुछ और कहना बाकी है या मैं शास्त्रार्थ समाप्त करूं? वे कहकर जैसे ही चुप रहे कि पड़देकी ओरसे

फिर वक्तव्य आरंभ हुआ। देवी अपना पक्ष समर्थन करके चुप हुई कि अकलंकदेवने उसी समय कहा-जो विषय अभी कहा गया है, उसे फिरसे कहो ? वह मुझे ठीक नहीं सुन पड़ा। आज अकलंकका यह नया ही प्रश्न सुनकर देवीका साहस एक साथ ही न जाने कहाँ चला गया। देवता जो कुछ बोलते वे एक ही वार बोलते हैं-उसी वातको वे पुनः नहीं बोल पाते। तारा देवीका भी यही हाल हुआ। वह अकलंक देवके प्रश्नका उत्तर न दे सकी। आखिर उसे अपमानित होकर भाग जाना पड़ा। जैसे सूर्योदयसे रात्रि भाग जाती है।

इसके वाद ही अकलंकदेव उठे और पड़देको फाड़कर उसके भीतर घुस गये। वहाँ जिस घड़ेमें देवीका आव्हान किया गया था, उसे उन्होंने पाँवकी ठोकरसे फोड़ डाला-संघश्री सरीखे जिनशासनके शत्रुओंका-मिथ्यात्वियोंका-अभिमान चूर्ण किया। अकलंकके इस विजय और जिनधर्मकी प्रभावनासे मदनसुन्दरी और सर्वसाधारणको वड़ा आनन्द हुआ। अकलंकने सव लोगोंके सामने जोर देकर कहा-सज्जनो! मैंने इस धर्मशून्य संघश्रीको पहले ही दिन पराजित कर दिया था; किन्तु इतने दिन जो मैंने देवीके साथ शास्त्रार्थ किया, वह जिनधर्मका माहात्म्य प्रगट करनेके लिये और सम्यग्ज्ञानका लोगोंके हृदयपर प्रकाश डालनेके लिये था। यह कहकर अकलंकदेवने इस श्लोकको पढ़ा—

नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुध्या मया।

राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः॥

अर्थात्—महाराज, हिमशीतलकी सभामें मैंने सब बौद्ध-विद्वानोंको पराजित कर सुगतको ठुकराया, यह न तो अभिमानके वश होकर किया गया और न किसी प्रकारके द्वेषभावसे। किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुए जनोंपर मुझे बड़ी दया आई, इसलिये उनकी दयासे बाध्य होकर मुझे ऐसा करना पड़ा।

उस दिनसे बौद्धोंका राजा और प्रजाके द्वारा चारों ओर अपमान होने लगा। किसीकी बुद्धधर्मपर श्रद्धा नहीं रही। सब उसे घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे। यही कारण है—बौद्ध-लोग यहाँसे भागकर विदेशोंमें जा बसे।

महाराज हिमशीतल और प्रजाके लोग जिनशासनकी प्रभावना देखकर बड़े खुश हुए। सबने मिथ्यात्वमत छोड़-कर जिनधर्म स्वीकार किया और अकलंकदेवका सोने, रत्न आदिके अलंकारोंसे खूब आदर सम्मान किया, खूब उनकी प्रशंसा की। सच बात है—जिनभगवान्‌के पवित्र सम्यग्ज्ञानके प्रभावसे कौन सत्कारका पात्र नहीं होता।

अकलंकदेवके प्रभावसे जिनशासनका उपद्रव टला देखकर महारानी मदनसुन्दरीने पहलेसे भी कई गुणे उत्साहके रथ निकलवाया। रथ बड़ी सुन्दरताके साथ सजाया गया था। उसकी शोभा देखते ही बन पड़ती थी। वह बेश कीमती वस्त्रोंसे शोभित था, छोटी छोटी घंटियां उसके चारों ओर लगी हुई थीं, उनकी मधुर आवाज एक बड़े

घंटेकी आवाजमें मिलकर, जो कि उन घंटियोंको ठीक बीचमें था, बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी, उसपर रत्नों, और मोतियोंकी मालायें अपूर्व शोभा दे रही थीं, उसके ठीक बीचमें रत्नमयी सिंहासनपर जिनभगवान्की बहुत सुन्दर प्रतिमा शोभित थी। वह मौलिक छत्र, चामर, भामण्डल—आदिसे अलंकृत थी। रथ चलता जाता था और उसके आगे आगे भव्यपुरुष बड़ी भक्तिके साथ जिनभगवान्की जय बोलते हुए और भगवान्पर अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोंकी, जिनकी महकसे सब दिशायें सुगन्धित होती थीं, वर्षा करते चले जाते थे। चारणलोग भगवान्की स्तुति पढ़ते जाते थे। कुलकामनियाँ सुन्दर सुन्दर गीत गाती जाती थीं। नर्तकियाँ नृत्य करती जाती थीं। अनेक प्रकारके बाजोंका सुन्दर शब्द दर्शकोंके मनको अपनी ओर आकर्षित करता था। इन सब शोभाओंसे रथ ऐसा जान पड़ता था, मानो पुण्यरूपी रत्नोंक उत्पन्न करनेको चलनेवाला वह एक दूसरा रोहण पर्वत उत्पन्न हुआ है। उस समय जो याचकोंको दान दिया जाता था, वस्त्राभूषण वितीर्ण किये जाते थे, उससे रथकी शोभा एक चलते हुए कल्पवृक्षकीसी जान पड़ती थी। हम रथकी शोभाका कहांतक वर्णन करें ? आप इसीसे अनुमान कर लीजिये कि जिसकी शोभाको देखकर ही बहुतसे अन्य-धर्मी लोगोंने जब सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया तब उसकी सुन्दरताका क्या ठिकाना है ? इत्यादि दर्शनीय वस्तुओंसे सजाकर रथ निकाला गया, उसे देखकर यही जान पड़ता था, मानो महादेवी मदनसुन्दरीकी यशोराशि ही चल रही

है। वह रथ भव्य-पुरुषोंके लिये सुखका देनेवाला था। उस सुन्दर रथकी हम प्रतिदिन भावना करते हैं-उसका ध्यान करते हैं। वह हमें सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी प्रदान करे।

जिस प्रकार अकलंकदेवने सम्यग्ज्ञानकी प्रभावना की, उसका महत्त्व सर्व साधारण लोगोंके हृदयपर अंकित कर दिया उसी प्रकार और और भव्य पुरुषोंको भी उचित है कि वे भी अपनेसे जिस तरह बन पड़े जिनधर्मकी प्रभावना करें-जैनधर्मके प्रति उनका जो कर्तव्य है उसे वे पूरा करें।

संसारमें जिनभगवान्‌की सदा जय हो, जिन्हें इन्द्र, धरणेन्द्र नमस्कार करते हैं और जिनका ज्ञानरूपी प्रदीप सारे संसारको सुख देनेवाला है।

श्रीप्रभाचन्द्र मुनि मेरा कल्याण करें, जो गुण-रत्नोंके उत्पन्न होनेके स्थान-पर्वत हैं और ज्ञानके समुद्र हैं।

३-सनत्कुमार चक्रवर्त्तीकी कथा।

स्वर्ग और मोक्ष सुखके देनेवाले श्रीअर्हत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार करके मैं सम्यक्चारित्रका उद्योत करनेवाले चौथे सनत्कुमार चक्रवर्त्तीकी कथा लिखता हूं।

अनन्तवीर्य भारतवर्षके अन्तर्गत वीतशोक नामक शहरके राजा थे। उनकी महारानीका नाम सीता था। हमारे चरित्र-

नायक सनत्कुमार इन्हींके पुण्यके फल थे। वे चक्रवर्ती थे। सम्यग्दृष्टियोंमें प्रधान थे। उन्होंने छहों खंड पृथ्वी अपने वश करली थी। उनकी विभूतिका प्रमाण ऋषियोंने इस प्रकार लिखा है-नवनिधि, चौदहरत्न, चौराशी लाख हाथी, इतने ही रथ, अठारा करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ शूरवीर, छ्यानवे करोड़ धान्यसे भरे हुए ग्राम, छ्यानवे हजार सुन्दरियां और सदा सेवामें तत्पर रहनेवाले बत्तीस हजार बड़े बड़े राजा, इत्यादि संसार-श्रेष्ठ सम्पत्तिसे वे युक्त थे। देव विद्याधर उनकी सेवा करते थे। वे बड़े सुन्दर थे, बड़े भाग्यशाली थे। जिनधर्मपर उनकी पूर्ण श्रद्धा थी। वे अपना नित्य नैमित्तिक कर्म श्रद्धाके साथ करते-कभी उनमें विघ्न नहीं आने देते। इसके सिवा अपने विशाल राज्यका वे बड़ी नीतिके साथ पालन करते और सुखपूर्वक दिन व्यतीत करते।

एक दिन सौधर्मस्वर्गका इन्द्र अपनी सभामें पुरुषोंके रूपसौंदर्यकी प्रशंसा कर रहा था। सभामें बैठे हुए एक विनोदी देवने उससे पूछा-प्रभो! जिस रूपगुणकी आप बेहद तारीफ कर रहे हैं, भला, ऐसा रूप भारतवर्षमें किसीका है भी या केवल यह प्रशंसा ही मात्र है?

उत्तरमें इन्द्रने कहा-हाँ इस समय भी भारत वर्षमें एक ऐसा पुरुष है, जिसके रूपकी मनुष्य तो क्या पर देव भी तुलना नहीं कर सकते। उसका नाम है सनत्कुमार चक्रवर्ती।

इन्द्रके द्वारा देव-दुर्लभ सनत्कुमार चक्रवर्तीके रूपसौंदर्यकी प्रशंसा सुनकर मणिमाल और रत्नचूल नामके दो देव

चक्रवर्तीकी रूपसुधाके पानकी बढ़ी हुई लालसाको किसी तरह नहीं रोक सके। वे उसी समय गुप्त वेषमें स्वर्गधराको छोड़कर भारतवर्षमें आये और स्नान करते हुए चक्रवर्तीका वस्त्रालंकार रहित, पर उस हालतमें भी त्रिभुवनप्रिय और सर्व सुन्दर रूपको देखकर उन्हें अपना शिर हिलाना ही पड़ा। उन्हें मानना पड़ा कि चक्रवर्तीका रूप वैसा ही सुंदर है, जैसा इंद्रने कहा था। और सचमुच यह रूप देवोंके लिये भी दुर्लभ है। इसके बाद उन्होंने अपना असली वेष बनाकर पहरेदारसे कहा–तुम जाकर अपने महाराजसे कहो कि आपके रूपको देखनेके लिये स्वर्गसे दो देव आये हुए हैं। पहरेदारने जाकर महाराजसे देवोंके आनेका हाल कहा। चक्रवर्तीने उसी समय अपने शृंगार भवनमें पहुँचकर अपनेको बहुत अच्छी तरह वस्त्राभूषणोंसे सिंगारा। इसके बाद वे सिंहासनपर आकर बैठे और देवोंको राजसभामें आनेकी आज्ञा दी।

देव राजसभामें आये और चक्रवर्तीका रूप उन्होंने देखा। देखते ही वे खेदके साथ बोल उठे, महाराज! क्षमा कीजिये; हमें बड़े दुःखके साथ कहना पड़ता है कि स्नान करते समय वस्त्राभूषणरहित आपके रूपमें जो सुन्दरता, जो माधुरी हमने छुपपर देख पाई थी, वह अब नहीं रही। इससे जैनधर्मका यह सिद्धान्त बहुत ठीक है कि संसारकी सब वस्तुएं क्षण-क्षणमें परिवर्तित होती हैं–सब क्षणभंगुर हैं।

देवोंकी विस्मय उत्पन्न करनेवाली बात सुनकर राजकर्मचारियोंने तथा और और उपस्थित सभ्योंने देवोंसे कहा-

हमें तो महाराजके रूपमें पहलेसे कुछ भी कमी नहीं दिखती, न जाने तुमने कैसे पहली सुन्दरतासे इसमें कमी बतलाई है। सुनकर देवोंने सबको उसका निश्चय करानेके लिये एक जल भरा हुआ घड़ा मँगवाया और उसे सबको बतलाकर फिर उसमेंसे तृण द्वारा एक जलकी बूंद निकाललीं। उसके बाद फिर घड़ा सबको दिखलाकर उन्होंने उनसे पूछा–बतलाओ पहले जैसे घड़ेमें जल भरा था अब भी वैसा ही भरा है, पर तुम्हें पहलेसे इसमें कुछ विशेपता दिखती है क्या? उनने एक मत होकर यही कहा कि नहीं। तब देवोंने राजासे कहा–महाराज, घड़ा पहले जैसा था, उसमेंसे एक बूंद जलकी निकालली गई तब भी वह इन्हें वैसा ही दिखता है। इसी तरह हमने आपका जो रूप पहले देखा था, वह अब नहीं रहा। वह कमी हमें दिखती है, पर इन्हें नहीं दिखती। यह कहकर वे दोनों देव स्वर्गकी ओर चले गये।

चक्रवर्तीने इस चमत्कारको देखकर विचारा–स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, धन, धान्य, दासी, दास, सोना, चांदी–आदि जितनी सम्पत्ति है, वह सब विजलीकी तरह क्षणभरमें देखते देखते नष्ट होनेवाली है और संसार दुःखका समुद्र है। यह शरीर भी, जिसे दिनरात प्यार किया जाता है, घिनौना है, सन्तापको बढ़ानेवाला है, दुर्गन्धयुक्त है और अपवित्र वस्तुओंसे भरा हुआ है। तब इस क्षण-विनाशी शरीरके साथ कौन बुद्धिमान् प्रेम करेगा? ये पांच-इन्द्रियोंके विषय ठगोंसे भी बढ़कर ठग हैं। इनके द्वारा ठगाया हुआ प्राणी एक पिशाचिनीकी तरह उनके वश होकर

अपनी सब सुधि भूल जाता है और फिर जैसा वे नाच नचाते हैं नाचने लगता है। मिथ्यात्व जीवका शत्रु है, उसके वश हुए जीव अपने आत्महितके करनेवाले-संसारके दुःखोंसे छुटाकर अविनाशी सुखके देनेवाले--पवित्र जिनधर्मसे भी प्रेम नहीं करते। सच भी तो है-पित्तज्वरवाले पुरुषको दूध भी कड़वा ही लगता है। परन्तु मैं तो अब इन विषयोंके जालसे अपने आत्माको छुड़ाऊंगा। मैं आज ही मोहमायाका नाशकर अपने हितके लिये तैयार होता हूं। यह विचार कर वैरागी चक्रवर्तीने जिनमन्दिरमें पहुँचकर सब सिद्धिकी प्राप्ति करानेवाले भगवानकी पूजा की, याचकोंको दयाबुद्धिसे दान दिया और उसी समय पुत्रको राज्यभार देकर आप वनकी ओर रवाना हो गये; और चारित्रगुप्त मुनिराजके पास पहुँचकर उनसे जिनदीक्षा गृहण कर ली, जो कि संसारकी हित करनेवाली है। इसके बाद वे पंचाचार आदि मुनिव्रतोंका निरतिचार पालन करते हुए कठिनसे कठिन तपश्चर्या करने लगे। उन्हें न शीत सताती है और न आताप सन्तापित करता है। न उन्हें भूखकी परवा है और न प्यास की। वनके जीवजन्तु उन्हें खूब सताते हैं, पर वे उससे अपनेको कुछ भी दुखी ज्ञान नहीं करते। वास्तवमें जैन साधुओंका मार्ग बड़ा कठिन है, उसे ऐसे ही धीर वीर महात्मा पाल सकते हैं। साधारण पुरुषोंकी उसके पास गम्य नहीं। चक्रवर्ती इस प्रकार आत्मकल्याणके मार्गमें आगे आगे बढ़ने लगे।

एक दिनकी बात है कि-वे आहारके लिये शहरमें गये। आहार करते समय कोई प्रकृति-विरुद्ध वस्तु उनके खानेमें

आ गई। उसका फल यह हुआ कि उनका सारा शरीर ख-शव हो गया, उसमें अनेक भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न हो गईं और सबसे भारी व्याधि तो यह हुई कि उनके सारे शरीरमें कोढ़ फूट निकली। उससे रुधिर, पीप बहने लगा, दुर्गंध आने लगी। यह सब कुछ हुआ पर इन व्याधियोंका असर चक्रवर्तीके मनपर कुछ भी नहीं हुआ। उन्होंने कभी इस बातकी चिन्तातक भी नहीं की कि मेरे शरीरकी क्या दशा है? किन्तु वे जानते थे कि—

> बीभत्सु तापकं पूति शरीरमशुचेर्गृहम्।
> का प्रीतिर्विदुपामत्र यत्क्षणार्धे परिक्षयि॥

इसलिये वे शरीरसे सर्वथा निर्मोही रहे और बड़ी साव-धानीसे तपश्चर्या करते रहे—अपने व्रत पालते रहे।

एक दिन सौधर्मस्वर्गका इन्द्र अपनी सभामें धर्म-प्रेमके वश हो मुनियोंके पाँच प्रकारके चारित्रका वर्णन कर रहा था। उस समय एक मदनकेतु नामक देवने उससे पूछा—प्रभो! जिस चारित्रका आपने अभी वर्णन किया उसका ठीक पालनेवाला क्या कोई इस समय भारतवर्षमें है? उत्तरमें इन्द्रने कहा, सनत्कुमार चक्रवर्ती हैं। वे छह खण्ड पृथ्वीको तृणकी तरह छोड़कर संसार, शरीर, भोग-आदिसे अत्यन्त उदास हैं और दृढ़ताके साथ तपश्चर्या तथा पंचप्रकारका चा-रित्र पालन करते हैं।

मदनकेतु सुनते ही स्वर्गसे चलकर भारतवर्षमें जहाँ सनत्कुमार मुनि तपश्चर्या करते थे, वहाँ पहुँचा। उसने देखा कि—उनका सारा शरीर रोगोंका घर बन रहा है, तब

भी चक्रवर्ती सुमेरुके समान निश्चल होकर तप कर रहे हैं। उन्हें अपने दुःखकी कुछ परवा नहीं है। वे अपने पवित्र चारित्रका धीरताके साथ पालनकर पृथ्वीको पावन कर रहे हैं। उन्हें देखकर मदनकेतु बहुत प्रसन्न हुआ। तब भी वे शरीरसे कितने निर्मोही हैं, इस बातकी परीक्षा करनेके लिये उसने वैद्यका वेष बनाया और लगा वनमें घूमने। वह घूम घूम कर यह चिल्लाता था कि "मैं एक बड़ा प्रसिद्ध वैद्य हूँ, सब वैद्योंका शिरोमणी हूँ। कैसी ही भयंकरसे भयंकर व्याधि क्यों न हो उसे देखते देखते नष्ट करके शरीरको क्षणभरमें मैं निरोग कर सकता हूँ।" देखकर सनत्कुमार मुनिराजने उसे बुलाया और पूछा तुम कौन हो? किसलिये इस निर्जन वनमें घूमते फिरते हो? और क्या कहते हो? उत्तरमें देवने कहा—मैं एक प्रसिद्ध वैद्य हूँ। मेरे पास अच्छीसे अच्छी दवायें हैं। आपका शरीर बहुत बिगड़ रहा है, यदि आज्ञा दें तो मैं क्षणमात्रमें इसकी सब व्याधियाँ खोकर इसे सोने सरीखा बना सकता हूँ। मुनिराज बोले—हाँ तुम वैद्य हो? यह तो बहुत अच्छा हुआ जो तुम इधर अनायास आ निकले। मुझे एक बड़ा भारी और महाभयंकर रोग हो रहा है, मैं उसके नष्ट करनेका प्रयत्न करता हूँ पर सफल प्रयत्न नहीं होता। क्या तुम उसे दूर कर दोगे?

देवने कहा—निस्सन्देह मैं आपके रोगको जड़ मूलसे खोदूंगा। वह रोग शरीरसे गलनेवाला कोढ़ ही है न?

मुनिराज बोले—नहीं, यह तो एक तुच्छ रोग है। इसकी तो मुझे कुछ भी परवा नहीं। जिस रोगकी बाबत मैं तुमसे कह रहा हूं, वह तो बड़ा ही भयंकर है।

देव बोला—अच्छा, तब बतलाइये वह क्या रोग है, जिसे आप इतना भयंकर बतला रहे हैं?

मुनिराजने कहा—सुनो, वह रोग है संसारका परिभ्रमण। यदि तुम मुझे उससे छुड़ा दोगे तो बहुत अच्छा होगा। बोलो क्या कहते हो? सुनकर देव बड़ा लज्जित हुआ। वह बोला, मुनिनाथ! इस रोगको तो आप ही नष्ट कर सकते हैं। आप ही इसके दूर करनेको शूरवीर और बुद्धिमान् हैं। तब मुनिराजने कहा—भाई, जब इस रोगको तुम नष्ट नहीं कर सकते तब मुझे तुम्हारी आवश्यकता भी नहीं। कारण—विनाशिक, अपवित्र, निर्गुण और दुर्जनके समान इस शरीरकी व्याधियोंको तुमने नष्ट कर भी दिया तो उसकी मुझे जरूरत नहीं। जिस व्याधिका वमनके स्पर्शमात्रसे ही जब क्षय हो सकता है, तब उसके लिये बड़े बड़े वैद्यशिरोमणीकी और अच्छी अच्छी दवाओंकी आवश्यकता ही क्या है? यह कहकर मुनिराजने अपने वमन द्वारा एक हाथके रोगको नष्ट कर उसे सोनेसा निर्मल बना दिया। मुनिकी इस अतुल शक्तिको देखकर देव भौंचकसा रह गया। वह अपने कृत्रिम वेषको पलटकर मुनिराजसे बोला—भगवन्! आपके विचित्र और निर्दोष चारित्रकी तथा शरीरमें निर्मोहपनेकी सौधर्मेन्द्रने धर्मप्रेमके वश होकर जैसी प्रशंसा की थी, वैसा ही मैंने आपको पाया। प्रभो! आप धन्य हैं, संसारमें आपहीका मनुष्य जन्म प्राप्त करना सफल और सुख देनेवाला है। इस प्रकार मदनकेतु सनत्कुमार मुनिराजकी प्रशंसाकर और बड़ी भक्तिके साथ उन्हें वारम्वार नमस्कार कर स्वर्गमें चला गया।

इधर सनत्कुमार मुनिराज क्षणक्षणमें बढ़ते हुए वैराग्यके साथ अपने चारित्रको क्रमशः उन्नत करने लगे और अन्तमें शुक्लध्यानके द्वारा घातिया कर्मोंका नाशकर उन्होंने लोकालोकका प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया और इन्द्र धरणेन्द्रादि द्वारा पूज्य हुए।

इसके बाद वे संसार-दुःखरूपी अग्निसे झुलसते हुए अनेक जीवोंको सद्धर्मरूपी अमृतकी वर्षासे शान्तकर-उन्हें मुक्तिका मार्ग बतलाकर, और अन्तमें अघातिया कर्मोंका भी नाशकर मोक्षमें जा विराजे, जो कभी नाश नहीं होनेवाला है।

उन स्वर्ग और मोक्ष-सुख देनेवाले श्रीसनत्कुमार केवलीकी हम भक्ति और पूजन करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं। वे हमें भी केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी प्रदान करें।

जिस प्रकार सनत्कुमार मुनिराजने सम्यक्चारित्रका उद्योत किया उसी तरह सब भव्य पुरुषोंको भी करना उचित है। वह सुखका देनेवाला है।

श्रीमूलसंघ-सरस्वतीगच्छमें चारित्रचूड़ामणी श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। सिंहनन्दी मुनि उनके प्रधान शिष्योंमें थे। वे बड़े गुणी थे और सत्पुरुषोंको आत्मकल्याणका मार्ग बतलाते थे। वे मुझे भी संसारसमुद्रसे पार करें।

४-समन्तभद्राचार्यकी कथा।

संसारके द्वारा पूज्य और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका उद्योत करनेवाले श्रीजिनभगवानको नमस्कार कर श्रीसमन्तभद्राचार्यकी पवित्र कथा लिखता हूं, जो कि सम्यक्चारित्रकी प्रकाशक है।

भगवान् समन्तभद्रका पवित्र जन्म दक्षिणप्रान्तके अन्तर्गत कांची नामकी नगरीमें हुआ था। वे बड़े तत्त्वज्ञानी और न्याय, व्याकरण, साहित्य-आदि विषयोंके भी बड़े भारी विद्वान् थे। संसारमें उनकी बहुत ख्याति थी। वे कठिनसे कठिन चारित्रका पालन करते, दुस्सह तप तपते और बड़े आनन्दसे अपना समय आत्मानुभव, पठनपाठन, ग्रन्थरचना आदिमें व्यतीत करते।

कर्मोंका प्रभाव दुर्निवार है। उसके लिये राजा हो या रंक हो, धनी हो या निर्धन हो, विद्वान् हो या मूर्ख हो, साधु हो या गृहस्थ हो, सब समान हैं-सबको अपने अपने कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है। भगवान् समन्तभद्रके लिये भी एक ऐसा ही कष्टका समय आया। वे बड़े भारी तपस्वी थे, विद्वान् थे, पर कर्मोंने इन बातोंकी कुछ परवा न कर उन्हें अपने चक्रमें फँसाया। असातावेदनीके तीव्र उदयसे भस्मव्याधि नामका एक भयंकर रोग उन्हें हो गया। उससे वे जो कुछ खाते वह उसी समय भस्म हो जाता और भूख वैसीकी वैसी बनी रहती। उन्हें इस बातका बड़ा कष्ट हुआ कि हम विद्वान् हुए और पवित्र जिनशासनका संसारभरमें

प्रचार करनेके लिये समर्थ भी हुए तब भी उसका कुछ उपकार नहीं कर पाते। इस रोगने असमयमें बड़ा कष्ट पहुंचाया। अस्तु। अब कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे इसकी शान्ति हो। अच्छे अच्छे स्निग्ध, सचिक्कण और पौष्टिक पक्वान्नका आहार करनेसे इसकी शान्ति हो सकेगी; इसलिये ऐसे भोजनका योग मिलाना चाहिये। पर यहां तो इसका कोई साधन नहीं दीख पड़ता। इसलिये जिस जगह, जिस तरह ऐसे भोजनकी प्राप्ति हो सकेगी मैं वहीं जाऊंगा और वैसा ही उपाय करूंगा।

यह विचार कर वे कांचीसे निकले और उत्तरकी ओर रवाना हुए। कुछ दिनोंतक चलकर वे पुण्ड्र नगरमें आये। वहां बौद्धोंकी एक बड़ीभारी दानशाला थी। उसे देखकर आचार्यने सोचा, यह स्थान अच्छा है। यहां अपना रोग नष्ट हो सकेगा। इस विचारके साथ ही उन्होंने बुद्धसाधुका वेष बनाया और दानशालामें प्रवेश किया। पर वहां उन्हें उनकी व्याधिशांतिके योग्य भोजन नहीं मिला। इसलिये वे फिर उत्तरकी ओर आगे बढ़े और अनेक शहरोंमें घूमते हुए कुछ दिनोंके बाद दशपुर-मन्दोसोरमें आये। वहां उन्होंने भागवत-वैष्णवोंका एक बड़ा भारी मठ देखा। उसमें बहुतसे भागवतसम्प्रदायके साधु रहते थे। उनके भक्तलोग उन्हें खूब अच्छा अच्छा भोजन देते थे। यह देखकर उन्होंने बौद्धवेषको छोड़कर भागवत-साधुका वेष ग्रहण कर लिया। वहां वे कुछ दिनोंतक रहे, पर उनकी व्याधिके योग्य उन्हें वहां भी भोजन नहीं मिला। तब वे वहांसे

भी निकलकर और अनेक देशों और पर्वतोंमें घूमते हुए वनारस आये। उन्होंने यद्यपि वाह्यमें जैनमुनियोंके वेषको छोड़कर कुलिंग धारण कर रक्खा था, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके हृदयमें सम्यग्दर्शनकी पवित्र ज्योति जगमगा रही थी। इस वेषमें वे ठीक ऐसे जान पड़ते थे, मानों कीचड़से भरा हुआ कान्तिमान् रत्न हो। इसके वाद आचार्य योगलिंग धारण कर शहरमें घूमने लगे।

उस समय वनारसके राजा थे शिवकोटी। वे शिवके वड़े भक्त थे। उन्होंने शिवका एक विशाल मन्दिर वनवाया था। वह वहुत सुन्दर था। उसमें प्रतिदिन अनेक प्रकारके व्यंजन शिवकी भेंट चढ़ा करते थे। आचार्यने देखकर सोचा कि यदि किसी तरह अपनी इस मन्दिरमें कुछ दिनोंके लिये स्थिति हो जाय, तो निस्सन्देह अपना रोग शान्त हो सकता है। यह विचार वे कर ही रहे थे कि इतनेमें पुजारी लोग महादेवकी पूजा करके वाहर आये और उन्होंने एक बड़ी भारी व्यंजनोंकी राशि, जो कि शिवकी भेंट चढ़ाई गई थी, लाकर वाहर रख दी। उसे देखकर आचार्यने कहा, क्या आप लोगोंमें ऐसी किसीकी शक्ति नहीं जो महाराजके भेजे हुए इस दिव्य भोजनको शिवकी पूजाके वाद शिवको ही खिला सके? तव उन ब्राह्मणोंने कहा, तो क्या आप अपनेमें इस भोजनको शिवको खिलानेकी शक्ति रखते हैं? आचार्यने कहा-हाँ मुझमें ऐसी शक्ति है। सुनकर उन वेचारोंको वड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उसी समय जाकर यह हाल राजासे कहा-प्रभो! आज एक योगी आया है।

उसकी बातें बड़ी विलक्षण हैं। हमने महादेवकी पूजा करके उनके लिये चढ़ाया हुआ नैवेद्य बाहर लाकर रक्खा, उसे देखकर वह योगी बोला कि–"आश्चर्य है, आप लोग इस महादिव्य भोजनको पूजनके बाद महादेवको न खिला कर पीछा उठा ले आते हो! भला, ऐसी पूजासे लाभ? उसने साथ ही यह भी कहा कि मुझमें ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा यह सब भोजन मैं महादेवको खिला सकता हूं। यह कितने खेदकी बात है कि जिसके लिये इतना आयोजन किया जाता है, इतना खर्च उठाया जाता है, वह यों ही रह जाय और दूसरे ही उससे लाभ उठावें? यह ठीक नहीं। इसके लिये कुछ प्रबन्ध होना चाहिये, जो जिसके लिये इतना परिश्रम और खर्च उठाया जाता है वही उसका उपयोग भी कर सके।"

महाराजको भी इस अभूतपूर्व बातके सुननेसे बड़ा अचंभा हुआ। वे इस विनोदको देखनेके लिये उसी समय अनेक प्रकारके सुन्दर और सुस्वादु पक्वान्न अपने साथ लेकर शिवमन्दिर गये और आचार्यसे बोले–योगिराज! सुना है कि आपमें कोई ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा शिवमूर्तिको भी आप खिला सकते हैं, तो क्या यह बात सत्य है? और सत्य है तो लीजिये यह भोजन उपस्थित है, इसे महादेवको खिलाइये।

उत्तरमें आचार्यने 'अच्छी बात है' यह कहकर राजाके लाये हुए सब पकानोंको मन्दिरके भीतर रखवा दिया और सब पुजारी पंडोंको मन्दिर बाहर निकालकर भीतरसे आपने

मन्दिरके किवाँड़ बन्दकर लिये। इसके वाद लगे उसे आप उदरस्थ करने। आप भूखे तो खूब थे ही, इसलिये थोड़ी ही देरमें सब आहारको हजमकर आपने झटसे मन्दिरका दरवाजा खोल दिया और निकलते ही नौकरोंको आज्ञा की कि सब वरतन वाहर निकललो। महाराज इस आश्चर्यको देखकर भौंचकसे रह गये। वे राजमहल लौट गये। उन्होंने वहुत तर्कवितर्क उठाये पर उनकी समझमें कुछ भी नहीं आया कि वास्तवमें वात क्या है?

अव प्रतिदिन एकसे एक वढ़कर पक्वान्न आने लगे और आचार्य महाराज भी उनके द्वारा अपनी व्याधि नाश करने लगे। इस तरह पूरे छह महिना वीत गये। आचार्यका रोग भी नष्ट हो गया।

एक दिन आहारराशिको ज्योंकी त्यों वची हुई देखकर पुजारी–पण्डोंने उनसे पूछा, योगिराज! यह क्या वात है? क्यों आज यह सब आहार यों ही पड़ा रहा? आचार्यने उत्तर दिया–राजाकी परम भक्तिसे भगवान् वहुत खुश हुए–वे अव तृप्त हो गये हैं। पर इस उत्तरसे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने जाकर आहारके वाकी वचे रहनेका हाल राजासे कहा। सुनकर राजाने कहा–अच्छा इस वातका पता लगाना चाहिये, कि वह योगी मन्दिरके किवाँड़ देकर भीतर क्या करता है? जव इस वातका ठीक ठीक पता लग जाय तव उससे भोजनके वचे रहनेका कारण पूछा जा सकता है और फिर उसपर विचार भी किया जा सकता है। विना ठीक हाल जाने उससे कुछ पूछना ठीक नहीं जान पड़ता।

एक दिनकी बात है कि आचार्य कहीं गये हुए थे और पीछेसे उन सबने मिलकर एक चालाक लड़केको महादेवके अभिषेक जलके निकलनेकी नालीमें छुपा दिया और उसे खूब फूल पत्तोंसे ढक दिया। वह वहाँ छिपकर आचार्यकी गुप्त क्रिया देखने लगा।

सदाके माफिक आज भी खूब अच्छे अच्छे पक्वान्न आये। योगिराजने उन्हें भीतर रखवाकर भीतरसे मन्दिरका दरवाजा बन्द कर लिया और आप लगे भोजन करने। जब आपका पेट भर गया, तब किवाँड़ खोलकर आप नौकरोंसे उस बचे सामानको उठा लेनेके लिये कहना ही चाहते थे कि उनकी दृष्टि साम्हने ही खड़े हुए राजा और ब्राह्मणोंपर पड़ी। आज एकाएक उन्हें वहाँ उपस्थित देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे झटसे समझ गये कि आज अवश्य कुछ न कुछ दालमें काला है। इतनेहीमें वे ब्राह्मण उनसे पूछ बैठे कि योगिराज! क्या बात है, जो कई दिनोंसे बराबर आहार बचा रहता है? क्या शिवजी अब कुछ नहीं खाते? जान पड़ता है, वे अब खूब तृप्त हो गये हैं। इसपर आचार्य कुछ कहना ही चाहते थे कि वह धूर्त लड़का उन फूल पत्तोंके नीचेसे निकलकर महाराजके सामने आ खड़ा हुआ और बोला—राजराजेश्वर! ये योगी तो यह कहते थे कि मैं शिवजीको भोजन कराता हूं, पर इनका यह कहना बिलकुल झूठा है। असलमें ये शिवजीको भोजन न कराकर स्वयं ही खाते हैं। इन्हें खाते हुए मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। योगिराज! सबकी आँखोंमें आपने तो बड़ी बुद्धिमानीसे धूल झोंकी है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप योगी नहीं, किन्तु एक बड़े भारी धूर्त हैं। और महाराज! इनकी धूर्तता तो देखिये, जो शिवजीको हाथ जोड़ना तो दूर रहा उल्टा ये उनका अविनय करते हैं। इतनेमें वे ब्राह्मण भी बोल उठे, महाराज! जान पड़ता है यह शिवभक्त भी नहीं है। इसलिये इससे शिवजीको हाथ जोड़नेके लिये कहा जाय, तब सब पोल स्वयं खुल जायगी। सब कुछ सुनकर महाराजने आचार्यसे कहा–अच्छा जो कुछ हुआ उसपर ध्यान न देकर हम यह जानना चाहते हैं कि तुम्हारा असल धर्म क्या है? इसलिये तुम शिवजीको नमस्कार करो। सुनकर भगवान्समन्तभद्र बोले–राजन्! मैं नमस्कार कर सकता हूं, पर मेरा नमस्कार स्वीकार कर लेनेको शिवजी समर्थ नहीं हैं। कारण-वे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया आदि विकारोंसे दूषित हैं। जिस प्रकार पृथ्वीके पालनका भार एक सामान्य मनुष्य नहीं उठा सकता, उसी प्रकार मेरी पवित्र और निर्दोष नमस्कृतिको एक रागद्वेषादि विकारोंसे अपवित्र देव नहीं सह सकता। किन्तु जो क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ–आदि अठारह दोषोंसे रहित है, केवलज्ञानरूपी प्रचण्ड तेजका धारक है और लोकालोकका प्रकाशक है, वही जिनसूर्य मेरे नमस्कारके योग्य है और वही उसे सह भी सकता है। इस लिये मैं शिवजीको नमस्कार नहीं करूंगा। इसके सिवा भी यदि आप आग्रह करेंगे तो आपको समझ लेना चाहिये कि इस शिवमूर्तिकी कुशल नहीं है, यह तुरत ही फट पड़ेगी।

आचार्यकी इस बातसे राजाका विनोद और भी बढ़ गया। उन्होंने कहा—योगिराज! आप इसकी चिन्ता न करे, यह मूर्ति यदि फट पड़ेगी तो इसे फट पड़ने दीजिये, पर आपको तो नमस्कार करना ही पड़ेगा। राजाका बहुत ही आग्रह देख आचार्यने "तथास्तु" कहकर कहा—अच्छा तो कल प्रातःकाल ही मैं अपनी शक्तिका आपको परिचय कराऊँगा। 'अच्छी बात है, यह कहकर राजाने आचार्यको मन्दिरमें बन्द करवा दिया और मन्दिरके चारों ओर नंगी तलवार लिये सिपाहियोंका पहरा लगवा दिया। इसके बाद "आचार्यकी सावधानीके साथ देखरेख की जाय, वे कहीं निकल न भागें" इस प्रकार पहरेदारोंको खूब सावधान कर आप राजमहल लौट गये।

आचार्यने कहते समय तो कह डाला, पर अब उन्हें खयाल आया कि मैंने यह ठीक नहीं किया। क्यों मैंने बिना कुछ सोचे विचारे जल्दीसे ऐसा कह डाला! यदि मेरे कहनेके अनुसार शिवजीकी मूर्ति न फटी तब मुझे कितना नीचा देखना पड़ेगा और उस समय राजा क्रोधमें आकर न जाने क्या कर बैठे! खैर, उसकी भी कुछ परवा नहीं पर इससे धर्मकी कितनी हँसी होगी! जिस परमात्माकी राजाके साम्हने मैं इतनी प्रशंसा कर चुका हूँ, उसे और मेरी झूठको देखकर सर्व साधारण क्या विश्वास करेंगे, आदि एकपर एक चिन्ता उनके हृदयमें उठने लगी। पर अब हो भी क्या सकता था। आखिर उन्होंने यह सोचकर–कि जो होना था वह तो हो चुका और कुछ बाकी है वह कल

सवेरे हो जायगा; अब व्यर्थ चिन्तासे ही लाभ क्या—जिन-भगवानकी आराधनामें अपने ध्यानको लगाया और बड़े पवित्र भावोंसे उनकी स्तुति करने लगे।

आचार्यकी पवित्र भक्ति और श्रद्धाके प्रभावसे शासनदेवी-का आसन कम्पित हुआ। वह उसी समय आचार्यके पास आई और उनसे बोली—"हे जिनचरणकमलोंके भ्रमर! हे प्रभो! आप किसी बातकी चिन्ता न कीजिये। विश्वास रखिये कि जैसा आपने कहा है वह अवश्य ही होगा। आप स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले इस पद्यांशको लेकर चतुर्विं-शति तीर्थंकरोंका एक स्तवन रचियेगा। उसके प्रभावसे आपका कहा हुआ सत्य होगा और शिवमूर्त्ति भी फट पड़ेगी। इतना कह कर अम्बिका देवी अपने स्थानपर चली गई।

आचार्यको देवीके दर्शनसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके हृदयकी चिन्ता मिटी, आनन्दने अब उसपर अपना अधि-कार किया। उन्होंने उसी समय देवीके कहे अनुसार एक बहुत सुन्दर जिनस्तवन बनाया, जो कि इस समय स्वयं-भूस्तोत्र-के नामसे प्रसिद्ध है।

रात सुखपूर्वक बीती। प्रातःकाल हुआ। राजा भी इसी समय वहाँ आ उपस्थित हुआ। उसके साथ और भी बहुतसे अच्छे अच्छे विद्वान् आये। अन्य साधारण जनसमूह भी बहुत इकट्ठा हो गया। राजाने आचार्यको बाहर ले आनेकी आज्ञा दी। वे बाहर लाये गये। अपने साम्हने आते हुए आचार्यको खूब प्रसन्न और उनके मुहँको सूर्यके समान तेजस्वी देखकर

राजाने सोचा—इनके मुँहपर तो चिन्ताके बदले स्वर्गीय तेजकी छटायें छूट रही हैं, इससे जान पड़ता है—ये अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी करेंगे। अस्तु। तब भी देखना चाहिये कि ये क्या करते हैं। इसके साथ ही उसने आचार्यसे कहा—योगिराज! कीजिये नमस्कार, जिससे हम भी आपकी अद्भुत शक्तिका परिचय पा सकें।

राजाकी आज्ञा होते ही आचार्यने संस्कृत भाषामें एक बहुत ही सुन्दर और अर्थपूर्ण जिनस्तवन आरंभ किया। स्तवन रचते रचते जहाँ उन्होंने चन्द्रप्रभभगवानकी स्तुतिका "चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरम्" यह पद्यांश रचना शुरू किया कि उसी समय शिवमूर्ती फटी और उसमेंसे श्रीचन्द्रप्रभभगवानकी चतुर्मुख प्रतिमा प्रगट हुई। इस आश्चर्यके साथ ही जयध्वनिके मारे आकाश गूंज उठा। आचार्यके इस अप्रतिम प्रभावको देखकर उपस्थित जनसमूहको दाँतोंतले अंगुली दबाना पड़ी। सबके सब आचार्यकी ओर देखतेके देखते ही रह गये।

इसके बाद राजाने आचार्यमहाराजसे कहा—योगिराज! आपकी शक्ति, आपका प्रभाव, आपका तेज देखकर हमारे आश्चर्यका कुछ ठिकाना नहीं रहता। बतलाइये तो आप हैं कौन? और आपने वेष तो शिवभक्तका धारणकर रक्खा है, पर आप शिवभक्त हैं नहीं। सुनकर आचार्यने नीचे लिखे दो श्लोक पढ़े—

> कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः,
> पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट्।
> वाणारस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी
> राजन् यस्यास्तिशक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटैर्विद्योत्कटैः सकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

भावार्थ—मैं कांचीमें नग्न दिगम्बर साधु होकर रहा। इसके बाद शरीरमें रोग हो जानेसे पुंड्र नगरमें बुद्धभिक्षुक, दशपुर (मन्दोसोर) में मिष्टान्नभोजी परिव्राजक और बनारसमें शैवसाधु बनकर रहा। राजन्, मैं जैननिर्ग्रन्थवादीस्याद्वादी हूं। जिसकी शक्ति वाद करनेकी हो, वह मेरे साम्हने आकर वाद करे।

पहले मैंने पाटलीपुत्र (पटना) में वादभेरी बजाई। इसके बाद मालवा, सिन्धुदेश, ढक्क (ढाका-बंगाल) कांचीपुर और विदिश नामक देशमें भेरी बजाई। अब वहाँसे चलकर मैं बड़े बड़े विद्वानोंसे भरे हुए इस करहाटक (कराड़-जिला सतारा) में आया हूं। राजन्, शास्त्रार्थ करनेकी इच्छासे मैं सिंहके समान निर्भय होकर इधर उधर घूमता ही रहता हूं।

यह कहकर ही समन्तभद्रस्वामीने शैव-वेष छोड़कर पीछा जिनमुनिका वेष धारण कर लिया, जिसमें साधुलोग जीवोंकी रक्षाके लिये हाथमें मोरकी पींछी रखते हैं।

इसके बाद उन्होंने शास्त्रार्थ कर बड़े बड़े विद्वानोंको, जिन्हें अपने पाण्डित्यका अभिमान था, अनेकान्त-स्याद्वादके बलसे पराजित किया और जैनशासनकी खूब प्रभावना की, जो स्वर्ग और मोक्षकी देनेवाली है। भगवान्समन्तभद्र भावी तीर्थंकर हैं। उन्होंने कुदेवको नमस्कार न कर सम्य-

ग्दर्शनका खूब प्रकाश किया–सबके हृदयपर उसकी श्रेष्ठता अंकित करदी। उन्होंने अनेक ऐकान्तवादियोंको जीतकर सम्यग्ज्ञानका भी उद्योत किया।

आश्चर्यमें डालनेवाली इस घटनाको देखकर राजाकी जैनधर्मपर बड़ी श्रद्धा हुई। विवेकबुद्धिने उसके मनको खूब ऊंचा बना दिया और चारित्रमोहनीकर्मका क्षयोपशम हो जानेसे उसके हृदयमें वैराग्यका प्रवाह बह निकला। उसने उसे सब राज्यभार छोड़ देनेके लिये बाध्य किया। शिवकोटीने क्षणभरमें सब मोहमायाके जालको तोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करली। साधु बनकर उन्होंने गुरुके पास खूब शास्त्रोंका अभ्यास किया। इसके बाद उन्होंने श्रीलोहाचार्यके बनाये हुए चौरासी हजार श्लोक प्रमाण आराधनाग्रन्थको संक्षेपमें लिखा। वह इसलिये कि अब दिनपर दिन मनुष्योंकी आयु और बुद्धि घटती जाती है, और वह ग्रन्थ बड़ा और गंभीर था–सर्व साधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। शिवकोटी मुनिके बनाये हुए ग्रन्थके चवालीस अध्याय हैं और उसकी श्लोकसंख्या साढ़े तीन हजार है। उससे संसारका बहुत उपकार हुआ।

वह आराधना ग्रन्थ और समन्तभद्राचार्य तथा शिवकोटी मुनिराज मुझे सुखके देनेवाले हों। तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परम रत्नोंके समुद्र और कामरूपी प्रचंड बलवान् हाथीके नष्ट करनेको सिंह समान विद्यानन्दी गुरु और छहों शास्त्रोंके अपूर्व विद्वान् तथा श्रुतज्ञानके समुद्र श्रीमल्लिभूषणमुनि मुझे मोक्षश्री प्रदान करें।

५-संजयन्तमुनिकी कथा।

सुखके देनेवाले श्रीजिनभगवानके चरणकमलोंको नमस्कार कर श्रीसंजयन्त मुनिराजकी कथा लिखता हूं, जिन्होंने सम्यक्तपका उद्योत किया था।

सुमेरुके पश्चिमकी ओर विदेहके अन्तर्गत गन्धमालिनी नामका देश है। उसकी प्रधान राजधानी वीतशोकपुर है। जिस समयकी बात हम लिख रहे हैं उस समय उसके राजा वैजयन्त थे। उनकी महारानीका नाम भव्यश्री था। उनके दो पुत्र थे। उनके नाम थे संजयन्त और जयन्त।

एक दिनकी बात है कि बिजलीके गिरनेसे महाराज वैजयन्तका प्रधान हाथी मर गया। यह देख उन्हें संसारसे बड़ा वैराग्य हुआ। उन्होंने राज्य छोड़नेका निश्चय कर अपने दोनों पुत्रोंको बुलाया और उन्हें राज्यभार सौंपना चाहा; तब दोनों भाईयोंने उनसे कहा--पिताजी, राज्य तो संसारके बढ़ानेका कारण है, इससे तो उल्टा हमें सुखकी जगह दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिये हम तो इसे नहीं लेते। आप भी तो इसीलिये छोड़ते हैं न? कि यह बुरा है-पापका कारण है। इसलिये हमारा तो विश्वास है कि बुद्धिमानोंको-आत्महितके चाहनेवालोंको, राज्य सरीखी झंझटोंको शिरपर उठा भद्र भावी स्वाभाविक शान्तिको नष्ट नहीं करना चाहिये।

यही विचार कर हम राज्य लेना उचित नहीं समझते। बल्कि हम तो आपके साथ ही साधु बनकर अपना आत्म-हित करेंगे।

वैजयन्तने पुत्रोंपर अधिक दबाव न डालकर उनकी इच्छा-के अनुसार उन्हें साधु बननेकी आज्ञा देदी और राज्यका भार संजयन्तके पुत्र वैजयन्तको देकर स्वयं भी तपस्वी बन गये। साथ ही वे दोनों भाई भी साधु हो गये।

तपस्वी बनकर वैजयन्त मुनिराज खूब तपश्चर्या करने लगे, कठिनसे कठिन परीषह सहने लगे। अन्तमें ध्यान-रूपी अग्निसे घातिया कर्मोंका नाश कर उन्होंने लोकालोकका प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया। उस समय उनके ज्ञान-कल्याणकी पूजा करनेको स्वर्गसे देव आये। उनके स्वर्गीय ऐश्वर्य और उनकी दिव्य सुन्दरताको देखकर संजयन्तके छोटे भाई जयन्तने निदान किया--"मैंने जो इतना तपश्चरण किया है, मैं चाहता हूं कि उसके प्रभावसे मुझे दूसरे जन्ममें ऐसी ही सुन्दरता और ऐसी ही विभूति प्राप्त हो।" वही हुआ। उसका किया निदान उसे फला। वह आयुके अन्तमें मरकर धरणेन्द्र हुआ।

इधर संजयन्तमुनि पन्द्रह पन्द्रह दिनके, एक एक महि-नाके उपवास करने लगे, भूख प्यासकी कुछ परवा न कर बड़ी धीरताके साथ परीषह सहने लगे। शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया, तब भी भयंकर वनोंमें सुमेरुके समान निश्चल रह कर सूर्यकी ओर मुहँ किये वे तपश्चर्या करने लगे। गरमीके दिनोंमें अत्यन्त गरमी पड़ती, शीतके दिनोंमें जाड़ा

खूब सताता, वर्षाके समय मूसलधार पानी वर्षा करता और आप वृक्षोंके नीचे बैठकर ध्यान करते। वनके जीव-जन्तु सताते, पर इन सब कष्टोंकी कुछ परवा न कर आप सदा आत्मध्यानमें लीन रहते।

एक दिनकी बात है--संजयन्त मुनिराज तो अपने ध्यानमें डूबे हुए थे कि उसी समय एक विद्युदंष्ट्र नामका विद्याधर आकाशमार्गसे उधर होकर निकला। पर मुनिके प्रभावसे उसका विमान आगे नहीं बढ़ पाया। एकाएक विमानको रुका हुआ देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने नीचेकी ओर दृष्टि डालकर देखा तो उसे संजयन्त मुनि दीख पड़े। उन्हें देखते ही उसका आश्चर्य क्रोधके रूपमें परिणत हो गया। उसने मुनिराजको अपने विमानको रोकनेवाले समझकर उनपर नाना तरहके भयंकर उपद्रव करना शुरू किया-उससे जहाँतक बना उसने उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया। पर मुनिराज उसके उपद्रवोंसे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। वे जैसे निश्चल थे वैसे ही खड़े रहे। सच है--वायुका कितना ही भयंकर वेग क्यों न चले, पर सुमेरु हिलता तक भी नहीं।

इन सब भयंकर उपद्रवोंसे भी जब उसने मुनिराजको पर्वतसे अचल देखा तब उसका क्रोध और भी बहुत बढ़ गया। वह अपने विद्याबलसे मुनिराजको वहाँसे उठा ले चला और भारतवर्षमें पूर्व दिशाकी ओर बहनेवाली सिंहवती नामकी एक बड़ी भारी नदीमें, जिसमें कि पाँच बड़ी बड़ी नदियाँ और मिली थीं, डाल दिया। भाग्यसे उस प्रान्तके लोग भी बड़े पापी थे। सो उन्होंने मुनिको एक राक्षस समझकर

और सर्वसाधारणमें यह प्रचारकर, कि यह हमें खानेके लिये आया है, पत्थरोंसे खूब मारा। मुनिराजने सब उपद्रव बड़ी शान्तिके साथ सहा—उन्होंने अपने पूर्ण आत्मबलके प्रभावसे हृदयको लेशमात्र भी अधीर नहीं बनने दिया। क्योंकि सच्चे साधु वेही हैं—

> तृणं रत्नं वा रिपुरिव परममित्रमथवा,
> स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ।
> सुखं वा दुःखं वा पितृवनमहोत्सौधमथवा,
> स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम्॥

जिनके पास रागद्वेषका बढ़ानेवाला परिग्रह नहीं है—जो निर्ग्रन्थ हैं, और सदा शान्तचित्त रहते हैं, उन साधुओंके लिये तृण हो या रत्न, शत्रु हो या मित्र, उनकी कोई प्रशंसा करो या बुराई, वे जीवें अथवा मर जायँ, उन्हें सुख हो या दुःख और उनके रहनेको श्मशान हो या महल, पर उनकी दृष्टि सबपर समान रहेगी—वे किसीसे प्रेम या द्वेष न कर सबपर समभाव रक्खेंगे। यही कारण था कि संजयन्त मुनिने विद्याधरकृत सब कष्ट समभावसे सहकर अपने अलौकिक धैर्यका परिचय दिया। इस अपूर्व ध्यानके बलसे संजयन्तमुनिने चार घातिया कर्मोंका नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया और इसके बाद अघातिया कर्मोंका भी नाश-कर वे मोक्ष चले गये। उनके निर्वाणकल्याणकी पूजन करनेको देव आये। वह धरणेन्द्र भी इनके साथ था, जो संजयन्त मुनिका छोटा भाई था और निदान करके धरणेन्द्र हुआ था। धरणेन्द्रको अपने भाईके शरीरकी दुर्दशा देखकर

बड़ा क्रोध आया। उसने भाईको कष्ट पहुँचानेका कारण वहांके नगरवासियोंको समझकर उन सबको अपने नागपाशसे बांध लिया और लगा उन्हें वह दुःख देने। नगरवासियोंने हाथ जोड़कर उससे कहा-प्रभो, हम तो इस अपराधसे सर्वथा निर्दोष हैं। आप हमें व्यर्थ ही कष्ट दे रहे हो। यह सब कर्म तो पापी विद्युद्दंष्ट्र विद्याधरका है। आप उसे ही पकड़िये न? सुनते ही धरणेन्द्र विद्याधरको पकड़नेके लिये दौड़ा और उसके पास पहुँचकर उसे उसने नागपाशसे बांध लिया। इसके बाद उसे खूब मार पीटकर धरणेन्द्रने समुद्रमें डालना चाहा।

धरणेन्द्रका इस प्रकार निर्दय व्यवहार देखकर एक दिवाकर नामके दयालु देवने उससे कहा-तुम इसे व्यर्थ ही क्यों कष्ट दे रहे हो? इसकी तो संजयन्त मुनिके साथ कोई चार भवसे शत्रुता चली आती है। इसीसे उसने मुनिपर उपसर्ग किया था।

धरणेन्द्र बोला-यदि ऐसा है तो उसका कारण मुझे बतलाइये?

दिवाकरदेवने तब यों कहना आरंभ किया--

पहले समयमें भारतवर्षमें एक सिंहपुरनामका शहर था। उसके राजा सिंहसेन थे। वे बड़े बुद्धिमान् और राजनीतिके अच्छे जानकार थे। उनकी रानीका नाम रामदत्ता था। वह बुद्धिमती और बड़ी सरल स्वभावकी थी। राजमंत्रीका नाम श्रीभूति था। वह बड़ा कुटिल था। दूसरोंको धोखा देना, उन्हें ठगना यह उसका प्रधान कर्म था।

एक दिन पद्मखंडपुरके रहनेवाले सुमित्र सेठका पुत्र समुद्र-दत्त श्रीभूतिके पास आया और उससे बोला-"महाशय, मैं व्यापारके लिये विदेश जा रहा हूं। दैवकी विचित्र लीलासे न जाने कौन समय कैसा आवे? इसलिये मेरे पास ये पाँच रत्न हैं, इन्हें आप अपनी सुरक्षामें रक्खें तो अच्छा होगा और मुझपर भी आपकी बड़ी दया होगी। मैं पीछा आकर अपने रत्न ले लूंगा।" यह कहकर और श्रीभूतिको रत्न सौंपकर समुद्रदत्त चल दिया।

कई वर्ष बाद समुद्रदत्त पीछा लौटा। वह बहुत धन कमाकर लाया था। जाते समय जैसा उसने सोचा था, दैवकी प्रतिकूलतासे वही घटना उसके भाग्यमें घटी। किनारे लगते लगते जहाज फट पड़ा। सब माल असबाब समुद्रके विशाल उदरमें समा गया। पुण्योदयसे समुद्रदत्तको कुछ ऐसा सहारा मिल गया, जिससे उसकी जान बच गई-वह कुशलपूर्वक अपना जीवन लेकर घर लौट आया।

दूसरे दिन वह श्रीभूतिके पास गया और अपनेपर जैसी विपत्ति आई थी उसे उसने आदिसे अन्ततक कहकर श्रीभूतिसे अपने अमानत रखे हुए रत्न पीछे मांगे। श्रीभूतिने आँखें चढ़ाकर कहा-कैसे रत्न तूं मुझसे मांगता है? जान पड़ता है जहाज डूब जानेसे तेरा मस्तक बिगड़ गया है। श्रीभूतिने बेचारे समुद्रदत्तको मनमानी फटकार बताकर और अपने पास बैठे हुए लोगोंसे कहा-देखिये न साहब, मैंने आपसे अभी ही कहा था न? कि कोई निर्धन मनुष्य पागल बनकर मेरे पास आवेगा और झूठा ही बखेड़ाकर झगड़ा क-

रेगा। वही सत्य निकला। कहिये तो ऐसे दरिद्रीके पास रत्न आ कहाँसे सकते हैं? भला, किसीने भी इसके पास कभी रत्न देखे हैं। यों ही व्यर्थ गले पड़ता है। ऐसा कहकर उसने नौकरों द्वारा समुद्रदत्तको निकलवा दिया। बेचारा समुद्रदत्त एक तो वैसे ही विपत्तिका मारा हुआ था; इसके सिवा उसे जो एक बड़ी भारी आशा थी उसे भी पापी श्रीभूतिने नष्ट कर दिया। वह सब ओरसे अनाथ हो गया। निराशाके अथाह समुद्रमें गोते खाने लगा। पहले उसे अच्छा होनेपर भी श्रीभूतिने पागल बना डाला था; पर अब वह सचमुच ही पागल हो गया। वह शहरमें घूम घूमकर चिल्लाने लगा कि पापी श्रीभूतिने मेरे पाँच रत्न ले लिये और अब वह उन्हें देता नहीं है। राजमहलके पास भी उसने बहुत पुकार मचाई, पर उसकी कहीं सुनाई नहीं हुई। सब उसे पागल समझकर दुतकार देते थे। अन्तमें निरुपाय हो उसने एक वृक्षपर चढ़कर, जो कि रानीके महलके पीछे ही था, पिछली रातको बड़े जोरसे चिल्लाना आरंभ किया। रानीने बहुत दिनोंतक तो उसपर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। उसने भी समझ लिया कि कोई पागल चिल्लाता होगा। पर एक दिन उसे खयाल हुआ कि वह पागल होता तो प्रतिदिन इसी समय आकर क्यों चिल्लाता? सारे दिन ही इसी तरह क्यों न चिल्लाता फिरता? इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। यह विचार कर उसने एक दिन राजासे कहा–प्राणनाथ! आप इस चिल्लानेवालेको पागल बताते हैं, पर मेरी समझमें यह बात नहीं आती। क्योंकि यदि वह पागल होता तो

न तो बराबर इसी समय चिल्लाता और न सदा एक ही वाक्य बोलता। इसलिये इसका ठीक ठीक पता लगाना चाहिये कि बात क्या है? ऐसा न हो कि अन्यायसे बेचारा एक गरीब बिना मौत मारा जाय। रानीके कहनेके अनुसार राजाने समुद्रदत्तको बुलाकर सब बातें पूछीं। समुद्रदत्तने जैसी अपनेपर बीती थी, वह ज्योंकी त्यों महाराजसे कह सुनाई। तब रत्न कैसे प्राप्त किये जायँ, इसके लिये राजाको चिन्ता हुई। रानी बड़ी बुद्धिमती थी, इसलिये रत्नोंके मँगालेनेका भार उसने अपनेपर लिया।

रानीने एक दिन श्रीभूतिको बुलाया और उससे कहा—मैं आपकी सतरंज खेलनेमें बड़ी तारीफ सुना करती हूँ। मेरी बहुत दिनोंसे इच्छा थी कि मैं एक दिन आपके साथ खेलूं। आज बड़ा अच्छा सुयोग मिला जो आप यहींपर उपस्थित हैं। यह कहकर उसने दासीको सतरंज ले आनेकी आज्ञा दी।

श्रीभूति रानीकी बात सुनते ही घबरा गया। उसके मुहँसे एक शब्दतक निकलना मुश्किल पड़ गया। उसने बड़ी घबराहटके साथ काँपते काँपते कहा—महारानीजी, आज आप यह क्या कह रही हैं। मैं एक क्षुद्र कर्मचारी और आपके साथ खेलूं? यह मुझसे न होगा। भला, राजा साहब सुन पावें तो मेरा क्या हाल हो?

रानीने कुछ मुस्कराते हुए कहा—वाह, आप तो बड़े ही डरते हैं। आप घबराइये मत। मैंने खुद राजा साहबसे पूछ लिया है। और फिर आप तो हमारे बुजुर्ग हैं। इसमें डरकी बात ही क्या है। मैं तो केवल विनोदवश होकर खेल रही हूँ।

"राजाकी मैंने स्वयं आज्ञा लेली" जब रानीके मुँहसे यह वाक्य सुना तब श्रीभूतिके जीमें जी आया और वह रानीके साथ खेलनेके लिये तैयार हुआ।

दोनोंका खेल आरंभ हुआ। पाठक जानते हैं कि रानीके लिये खेलका तो केवल बहाना था। असलमें तो उसे अपना मतलब गाँठना था। इसीलिये उसने यह चाल चली थी। रानीने खेलते खेलते श्रीभूतिको अपनी बातोंमें लुभाकर उसके घरकी सब बातें जानली और इशारेसे अपनी दासीको कुछ बातें बतलाकर उसे श्रीभूतिके यहां भेजा। दासीने जाकर श्रीभूतिकी पत्नीसे कहा-तुम्हारे पति बड़े कष्टमें फँसे हैं, इसलिये तुम्हारे पास उन्होंने जो पाँच रत्न रक्खे हैं, उनके लेनेको मुझे भेजा है। कृपा करके वे रत्न जल्दी देदो जिससे उनका छुटकारा हो जाय।

श्रीभूतिकी स्त्रीने उसे फटकार दिखला कर कहा चल, मेरे पास रत्न नहीं हैं और न मुझे कुछ मालूम है। जाकर उन्हींसे कहदे कि जहाँ रत्न रक्खे हों, वहाँसे तुम्हीं जाकर ले आओ।

दासीने पीछी लौट आकर सब हाल अपनी मालकिनसे कह दिया। रानीने अपनी चालका कुछ उपयोग नहीं हुआ देखकर दूसरी युक्ति निकाली। अबकी बार वह हारजीतका खेल खेलने लगी। मंत्रीने पहले तो कुछ आनाकानी की, पर फिर "रानीके पास धनका तो कुछ पार नहीं है और मेरी जीत होगी तो मैं मालामाल हो जाऊँगा" यह सोचकर वह खेलनेको तैयार हो गया।

रानी बड़ी चतुर थी। उसने पहले ही पासेमें श्रीभूतिकी एक कीमती अँगूठी जीत ली। उस अंगूठीको चुपकेसे दासीके हाथ देकर और कुछ समझाकर उसने श्रीभूतिके घर फिर भेजा और आप उसके साथ खेलने लगी।

अबकी बार रानीका प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया। दासीने पहुँचते ही बड़ी घबराहटके साथ कहा—देखो, पहले तुमने रत्न नहीं दिये, उससे उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा। अब उन्होंने यह अँगूठी देकर मुझे भेजा है और यह कहलाया है कि यदि तुम्हें मेरी जान प्यारी हो, तब तो इस अगूँठीको देखते ही रत्नोंको दे देना और रत्न प्यारे हों तो न देना। इससे अधिक मैं और कुछ नहीं कहता।

अब तो वह एक साथ घबरा गई। उसने उससे कुछ विशेष पूछताछ न करके केवल अँगूठीके भरोसेपर रत्न निकालकर दासीके हाथ सौंप दिये। दासीने रत्नोंको लाकर रानीको दे दिये और रानीने उन्हें महाराजके पास पहुंचा दिये।

राजाको रत्न देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने रानीकी बुद्धिमानीको बहुत बहुत धन्यवाद दिया। इसके बाद उन्होंने समुद्रदत्तको बुलाया और उन रत्नोंको और बहुतसे रत्नोंमें मिलाकर उससे कहा—देखो, इन रत्नोंमें तुम्हारे रत्न हैं क्या? और हों तो उन्हें निकाललो। समुद्रदत्तने अपने रत्नोंको पहचान कर निकाल लिया। सच है—बहुत समय बीत जानेपर भी अपनी वस्तुको कोई नहीं भूलता।

इसके बाद राजानें श्रीभूतिको राजसभामें बुलाया और रत्नोंको उसके सामने रखकर कहा—कहिये आप तो इस बेचारके रत्नोंको हड़पकर भी उलटा इसे ही पागल बनाते थे न? यदि महारानी मुझसे आग्रह न करती और अपनी बुद्धिमानीसे इन रत्नोंको प्राप्त नहीं करती, तब यह बेचारा गरीब तो व्यर्थ मारा जाता और मेरे सिरपर कलंकका टीका लगता। क्या इतने उच्च अधिकारी बनकर मेरी प्यारी प्रजाका [illegible] तरह तुमने सर्वस्व हरण किया है?

राजाको बड़ा क्रोध आया। उसने अपने राज्यके कर्मचारियोंसे पूछा—कहो, इस महापापीको इसके पापका क्या प्रायश्चित्त दिया जाय, जिससे आगेके लिये सब सावधान हो जायँ और इस दुरात्माका जैसा भयंकर कर्म है, उसीके उपयुक्त इसे उसका प्रायश्चित्त भी मिल जाय?

राज्यकर्मचारियोंने विचार कर और सबकी सम्मति मिलाकर कहा—महाराज, जैसा इन महाशयका नीच कर्म है, उसके योग्य हम तीन दंड उपयुक्त समझते हैं और उनमेंसे जो इन्हें पसन्द हो, वही ये स्वीकार करें। १—एक सेर पक्का गोमय खिलाया जाय; २—मल्लके द्वारा बत्तीस घूंसे लगवाये जायँ; या ३—सर्वस्व हरण पूर्वक देश निकाला दे दिया जाय।

राजाने अधिकारियोंके कहे माफिक दंडकी योजना कर श्रीभूतिसे कहा कि—तुम्हें जो दंड पसन्द हो, उसे बतलाओ। पहले श्रीभूतिने गोमय खाना स्वीकार किया, पर उसका उससे एक ग्रास भी नहीं खाया गया। तब उसने मल्लके घूंसे खाना स्वीकार किया। मल्ल बुलवाया गया। घूंसे

लगना आरंभ हुआ। कुछ घूँसोंकी मार पड़ी होगी कि उसका आत्मा शरीर छोड़कर चल बसा। उसकी मृत्यु बड़े आर्त्तध्यानसे हुई। वह मरकर राजाके खजानेपर ही एक विकराल सर्प हुआ।

इधर समुद्रदत्तको इस घटनासे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने संसारकी दशा देखकर उसमें अपनेको फँसाना उचित नहीं समझा। वह उसी समय अपना सब धन परोपकारके कामोंमें लगाकर वनकी ओर चल दिया और धर्माचार्य नामके महामुनिसे पवित्र धर्मका उपदेश सुनकर साधु बन गया। बहुत दिनोंतक उसने तपश्चर्या की। इसके बाद आयुके अन्तमें मृत्यु प्राप्त कर वह इन्हीं सिंहसेन राजाके सिंहचन्द्र नामक पुत्र हुआ।

एक दिन राजा अपने खजानेको देखनेके लिये गये थे, उन्हें देखकर श्रीभूतिके जीवको, जो कि खजानेपर सर्प हुआ है, बड़ा क्रोध आया। क्रोधके वश हो उसने महाराजको काट खाया। महाराज आर्त्तध्यानसे मरकर सल्लकी नामक वनमें हाथी हुए। राजाकी सर्प द्वारा मृत्यु देखकर सुघोष मंत्रीको बड़ा क्रोध आया। उसने अपने मंत्रबलसे बहुतसे सर्पोंको बुलाकर कहा—यदि तुम निर्दोष हो, तो इस अग्निकुण्डमें प्रवेश करते हुए अपने अपने स्थानपर चले जाओ। तुम्हें ऐसा करनेसे कुछ भी कष्ट न होगा। जितने बाहरके सर्प आये थे वे सब तो चले गये। अब श्रीभूतिका जीव बाकी रह गया। उससे कहा गया कि या तो तू विष खींचकर महाराजको छोड़ दे, या इस अग्निकुण्डमें प्रवेश कर। पर वह महाक्रोधी था। उसने

अग्निकुण्डमें प्रवेश करना अच्छा समझा, पर विष खींच लेना उचित नहीं समझा। वह क्रोधके वश हो अग्निमें प्रवेश कर गया। प्रवेश करते ही वह देखते देखते जलकर खाक हो गया। जिस सल्लकी वनमें महाराजका जीव हाथी हुआ था, वह सर्प भी मरकर उसी वनमें मुर्गा हुआ। सच है—पापियोंका कुयोनियोंमें उत्पन्न होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इधर तो ये सब अपने अपने कर्मोंके अनुसार दूसरे भवोंमें उत्पन्न हुए और उधर सिंहसेनकी रानी पति-वियोगसे बहुत दुखी हुई। उसे संसारकी क्षणभंगुर लीला देखकर बड़ा वैराग्य हुआ। वह उसी समय संसारका मायाजाल तोड़ ताड़कर वनश्री आर्यिकाके पास साध्वी बन गई। सिंहसेनका पुत्र सिंहचंद्र भी वैराग्यके वश हो अपने छोटे भाई पूर्णचन्द्रको राज्यभार सौंपकर सुव्रत नामक मुनिराजके पास दीक्षित हो गया। साधु होकर सिंहचन्द्रमुनिने खूब तपश्चर्या की, शान्ति और धीरताके साथ परीषहोंपर विजय प्राप्त किया, इन्द्रियोंको वश किया, और चंचल मनको दूसरी ओरसे रोककर ध्यानकी ओर लगाया। अन्तमें ध्यानके बलसे उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें मनःपर्ययज्ञानसे युक्त देखकर उनकी माताने, जो कि इन्हींके पहले आर्यिका हुई थीं, नमस्कार कर पूछा—साधुराज! मेरी कूंख धन्य है—वह आज कृतार्थ हुई, जिसने आपसे पुरुषोत्तमको धारण किया। पर अब यह तो कहिये कि आपके छोटे भाई पूर्णचंद्र आत्महितके लिये कब उद्युक्त होंगे?

उत्तरमें सिंहचंद्रमुनि बोले—माता, सुनो तो मैं तुम्हें संसारकी विचित्र लीला सुनाता हूं, जिसे सुनकर तुम भी

आश्चर्य करोगी। तुम जानती हो कि पिताजीको सर्पने काटा था और उसीसे उनकी मृत्यु हो गई थी। वे मरकर सल्लकीवनमें हाथी हुए। वे ही पिता एक दिन मुझे मारनेके लिये मेरे पर झपटे, तब मैंने उस हाथीको समझाया और कहा--गजेन्द्रराज, जानते हो, तुम पूर्व जन्ममें राजा सिंहसेन थे और मैं प्राणोंसे भी प्यारा सिंहचंद्र नामका तुम्हारा पुत्र था। कैसा आश्चर्य है कि आज पिता ही पुत्रको मारना चाहता है। मेरे इन शब्दोंको सुनते ही गजेन्द्रको जाति स्मरण हो आया--पूर्वजन्मकी उसे स्मृति हो गई। वह रोने लगा, उसकी आँखोंसे आसुओंकी धारा वह चली। वह मेरे सामने चित्र लिखासा खड़ा रह गया। उसकी यह अवस्था देखकर मैंने उसे जिनधर्मका उपदेश दिया और पंचाणुव्रतका स्वरूप समझाकर उसे अणुव्रत ग्रहण करनेको कहा। उसने अणुव्रत ग्रहण किये और पश्चात् वह प्रासुक भोजन और प्रासुक जलसे अपना निर्वाहकर व्रतका दृढ़ताके साथ पालन करने लगा।

एक दिन वह जल पीनेके लिये नदीपर पहुँचा। जलके भीतर प्रवेश करते समय वह कीचड़में फँस गया। उसने निकलनेकी वहुत चेष्टा की, पर वह सफल प्रयत्न नहीं हुआ। अपना निकलना असंभव समझकर उसने समाधिमरणकी प्रतिज्ञा लेली। उस समय वह श्रीभूतिका जीव, जो मुर्गा हुआ था, हाथीके सिरपर बैठकर उसका मांस खाने लगा। हाथीपर बड़ा भारी उपसर्ग आया, पर उसने उसकी कुछ परवा न कर बड़ी धीरताके साथ पंच नमस्कार मंत्रकी आराधना

करना शुरू कर दिया, जो कि सब पापोंका नाश करने वाला है। आयुके अन्तमें शान्तिके साथ मृत्यु प्राप्तकर वह सहस्रारस्वर्गमें देव हुआ। सच है—धर्मके सिवा और कल्याणका कारण हो ही क्या सकता है?

वह सर्प भी बहुत कष्टोंको सहनकर मरा और तीव्र पापकर्मके उदयसे चौथे नरकमें जाकर उत्पन्न हुआ, जहाँ अनन्त दुःख हैं और जबतक आयु पूर्ण नहीं होती तबतक पलक गिराने मात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता।

सिंहसेनका जीव जो हाथी मरा था, उसके दांत और कपोलोंमेंसे निकले हुए मोती, एक भीलके हाथ लगे। भीलने उन्हें एक धनमित्र नामक साहूकारके हाथ बेंच दिये और धनमित्रने उन्हें सर्वश्रेष्ठ और कीमती समझकर राजा पूर्णचंदकी भेंट कर दिये। राजा देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उनके बदलेमें धनमित्रको खूब धन दिया। इसके बाद राजाने दांतोंके तो अपने पलंगके पाये बनवाये और मोतियोंका रानीके लिये हार बनवा दिया। इस समय वे विषयसुखमें खूब मग्न होकर अपना काल बिता रहे हैं। यह संसारकी विचित्र दशा है। क्षणक्षणमें क्या होता है सो सिवा ज्ञानीके कोई नहीं जान पाता और इसीसे जीवोंको संसारके दुःख भोगना पड़ते हैं। माता, पूर्णचंद्रके कल्याणका एक मार्ग है, यदि तुम जाकर उपदेश दो और यह सब घटना उसे सुनाओ, तो वह अवश्य अपने कल्याणकी ओर दृष्टि देगा।

सुनते ही वह उठी और पूर्णचंद्रके महल पहुँची। अपनी माताको देखते ही पूर्णचंद्र उठे और बड़े विनयसे उसका

सत्कार कर उन्होंने उसके लिये पवित्र आसन दिया और हाथ जोड़कर वे बोले–माताजी, आपने अपने पवित्र चरणोंसे इस समय भी इस घरको पवित्र किया, उससे मुझे जो प्रसन्नता हुई वह वचनों द्वारा नहीं कही जा सकती। मैं अपने जीवनको सफल समझूंगा यदि मुझे आप अपनी आज्ञाका पात्र बनावेंगी। वह बोली–मुझे एक आवश्यक बातकी ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना है। इसीलिये मैं यहां आई हूं। और वह बड़ी विलक्षण बात है, सुनते हो न? इसके बाद आर्यिकाने यों कहना आरंभ किया—

"पुत्र, जानते हो, तुम्हारे पिताको सर्पने काटा था, उसकी वेदनासे मरकर वे सल्लकीवनमें हाथी हुए और वह सर्प मरकर उसी वनमें मुर्गा हुआ। एक दिन हाथी जल पीने गया। वह नदीके किनारेपर खूब गहरे कीचड़में फँस गया। वह उसमेंसे किसी तरह निकल नहीं सका। अन्तमें निरुपाय होकर वह मर गया। उसके दांत और मोती एक भीलके हाथ लगे। भीलने उन्हें एक सेठके हाथ बेंच दिये। सेठके द्वारा वे ही दांत और मोती तुम्हारे पास आये। तुमने दांतोंके तो पलंगके पाये बनवाये और मोतियोंकी अपनी पत्नीके लिये हार बनवाया। यह संसारकी विचित्र लीला है। इसके बाद तुम्हें उचित जान पड़े सो करो"। आर्यिका इतना कहकर चुप हो रही। पूर्णचन्द्र अपने पिताकी कथा सुनकर एक साथ रो पड़े। उनका हृदय पिताके-शोकसे सन्तप्त हो उठा। जैसे दावाग्निसे पर्वत सन्तप्त हो उठता है। उनके रोनेके साथ ही सारे अन्तःपुरमें हाहाकार मच गया। उन्होंने पितृ-

प्रेमके वश हो उन पलंगके पायोंको छातीसे लगाया। इसके बाद उन्होंने पलंगके पायों और मोतियोंकी चन्दनादिसे पूजा कर उन्हें जला दिया। ठीक है–मोहके वश होकर यह जीव क्या क्या नहीं करता ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोहका चक्र जब अच्छे अच्छे महात्माओंपर भी चल जाता है, तब पूर्णचन्द्रपर उसका प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्यका कारण नहीं है। पर पूर्णचन्द बुद्धिमान् थे, उन्होंने झटसे अपनेको सम्हाल लिया और पवित्र श्रावकधर्मको ग्रहण कर बड़ी श्रद्धा और भक्तिके साथ उनका वे पालन करने लगे। फिर आयुके अन्तमें वे पवित्रभावोंसे मृत्यु लाभकर महाशुक्र नामक स्वर्गमें देव हुए। उनकी माता भी अपनी शक्तिके अनुसार तपश्चर्याकर उसी स्वर्गमें देव हुई। सच है–संसारमें जन्म लेकर कौन कौन कालके ग्राससे नहीं बने ? मनःपर्ययज्ञानके धारक सिंहचंद्रमुनि भी तपश्चर्या और निर्मल चारित्रके प्रभावसे मृत्यु प्राप्त कर ग्रैवेयकमें जाकर देव हुए।

भारतवर्षके अन्तर्गत सूर्याभपुरनामक एक शहर है। उसके राजाका नाम सुरावर्त्त है। वे बड़े बुद्धिमान् और तेजस्वी हैं। उनकी महारानीका नाम था यशोधरा। वह बड़ी सुन्दरी थी, बुद्धिमती थी, सती थी, सरल स्वभाववाली थी, और विदुषी थी। वह सदा दान देती, जिन भगवानकी पूजा करती, और बड़ी श्रद्धाके साथ उपवासादि करती।

सिंहसेन राजाका जीव, जो हाथीकी पर्यायसे मरकर स्वर्ग गया था, यशोधरा रानीका पुत्र हुआ। उसका नाम

था रश्मिवेग। कुछ दिनों बाद महाराज सुरावर्त तो राज्य-भार रश्मिवेगके लिये सौंपकर साधु बन गये और राज्य-काम रश्मिवेग चलाने लगा।

एक दिनकी बात है कि धर्मात्मा रश्मिवेग सिद्धकूट जिनालयकी वन्दनाके लिये गया। वहां उसने एक हरिचंद्र नामके मुनिराजको देखा; उनसे धर्मोपदेश सुना। धर्मोपदेशका उसके चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसे बहुत वैराग्य हुआ। संसार शरीरभोगादिकोंसे उसे बड़ी घृणा हुई। उसने उसी समय मुनिराजसे दीक्षा ग्रहण करली।

एक दिन रश्मिवेग महामुनि एक पर्वतकी गुफामें कायोत्सर्ग धारण किये हुए थे कि एक भयानक अजगरने, जो कि श्रीभूतिका जीव सर्पपर्यायसे मरकर चौथे नरक गया था और वहांसे आकर यह अजगर हुआ, उन्हें काट खाया। मुनिराज तब भी ध्यानमें निश्चल खड़े रहे, जरा भी विचलित नहीं हुए। अन्तमें मृत्यु प्राप्तकर समाधिमरणके प्रभावसे वे कापिष्ठस्वर्गमें जाकर आदित्यप्रभ नामक महर्द्धिक देव हुए, जो कि सदा जिनभगवानके चरणकमलोंकी भक्तिमें लीन रहते थे। और वह अजगर मरकर पापके उदयसे फिर चौथे नरक गया। वहां उसे नारकियोंने कभी तलवारसे काटा और कभी करोंतीसे, कभी उसे अग्निमें जलाया और कभी घानीमें पेला, कभी अतिशय गरम तेलकी कढ़ाईमें डाला और कभी लोहेके गरम खंभोंसे आलिंगन कराया। मतलब यह कि नरकमें उसे घोर दुःख भोगना पड़े।

चक्रपुर नामका एक सुन्दर शहर है। उसके राजा हैं चक्रायुध और उनकी महारानीका नाम चित्रादेवी है। पूर्वजन्मके पुण्यसे सिंहसेन राजाका जीव स्वर्गसे आकर इनका पुत्र हुआ। उसका नाम था वज्रायुध। जिनधर्मपर उसकी बड़ी श्रद्धा थी। जब वह राज्य करनेको समर्थ हो गया, तब महाराज चक्रायुधने राज्यका भार उसे सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण करली। वज्रायुध सुख और नीतिके साथ राज्यका पालन करने लगे। उन्होंने बहुत दिनोंतक राज्यसुख भोगा। पश्चात् एक दिन किसी कारणसे उन्हें भी वैराग्य हो गया। वे अपने पिताके पास दीक्षा लेकर साधु बन गये। वज्रायुधमुनि एक दिन पियंगु नामक पर्वतपर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे कि इतनेमें एक दुष्ट भीलने, जो कि सर्पका जीव चौथे नरक गया था और वहांसे अब यही भील हुआ, उन्हें बाणसे मार दिया। मुनिराज तो समभावोंसे प्राण त्याग कर सर्वार्थसिद्धि गये और वह भील रौद्रभावसे मरकर सातवें नरक गया।

सर्वार्थसिद्धिसे आकर वज्रायुधका जीव तो संजयन्त हुआ, जो संसारमें प्रसिद्ध है और पूर्णचंद्रका जीव उनका छोटाभाई जयन्त हुआ। वे दोनों भाई छोटी ही अवस्थामें कामभोगोंसे विरक्त होकर पिताके साथ मुनि हो गये। और वह भीलका जीव सातवें नरकसे निकल कर अनेक कुगतियोंमें भटका। उनमें उसने बहुत कष्ट सहा। अन्तमें वह मरकर ऐरावत क्षेत्रान्तर्गत भूतरमण नामक वनमें बहनेवाली वेगवती नामकी नदीके किनारेपर गोशृंगतापसकी

शंखिनी नामकी स्त्रीके हरिणशृंग नामक पुत्र हुआ उनको पंचाग्नितप तपकर यह विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर हुआ है, जिसने कि संजयन्त मुनिपर पूर्वजन्मके वैरसे घोर उपसर्ग किया। और उनके छोटे भाई जयन्तमुनि निदान करके जो धरणेन्द्र हुए, वे तुम हो।

संजयन्त मुनिपर पापी विद्युद्दंष्ट्रने घोर उपसर्ग किया, तब भी वे पवित्रात्मा रंच मात्र विचलित नहीं हुए और सुमेरुके समान निश्चल रहकर उन्होंने सब परीषहोंको सहा और सम्यक्तपका उद्योत कर अन्तमें मोक्ष प्राप्त किया। वहाँ उनके अनन्तज्ञानादि स्वाभाविक गुण प्रगट हुए। वे अनन्त कालतक मोक्षमें ही रहेंगे। अब वे संसारमें नहीं आवेंगे।"

दिवाकरने कहा—नागेन्द्रराज! यह संसारकी स्थिति है। इसे देखकर इस बेचारेपर तुम्हें क्रोध करना उचित नहीं। इसे दया करके छोड़ दीजिये। सुनकर धरणेन्द्र बोला, मैं आपके कहनेसे इसे छोड़ देता हूं; परन्तु इसे अपने अभिमानका फल मिले, इसलिये मैं शाप देता हूं कि "मनुष्यपर्यायमें इसे कभी विद्याकी सिद्धि न हो।" इसके बाद धरणेन्द्र अपने भाई संजयन्तमुनिके मृतशरीरकी बड़ी भक्तिके साथ पूजा कर अपने स्थानपर चला गया।

इस प्रकार उत्कृष्ट तपश्चर्या करके श्रीसंजयन्तमुनिने अविनाशी मोक्षश्रीको प्राप्त किया। वे हमें भी उत्तम सुख प्रदान करें।

...छभूषण गुरु कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें हुए। ...जिनभगवानके चरणकमलोंके भ्रमर थे-उनकी भक्तिमें सदा लीन रहते थे, सम्यग्ज्ञानके समुद्र थे, पवित्र चारित्रके धारक थे और संसार-समुद्रसे भव्य जीवोंको पार करनेवाले थे। वे ही मल्लिभूषण गुरु मुझे भी सुख-सम्पत्ति प्रदान करें।

६-अंजनचोरकी कथा।

सुखके देनेवाले श्रीसर्वज्ञ वीतराग भगवानके चरणकमलोंको नमस्कार कर अंजनचोरकी कथा लिखता हूं, जिसने सम्यग्दर्शनके निःशंकित अंगका उद्योत किया है।

भारतवर्ष-मगधदेशके अन्तर्गत राजगृह नामक शहरमें एक जिनदत्त सेठ रहता था। वह बड़ा धर्मात्मा था। वह निरन्तर जिनभगवानकी पूजा करता, दीन दुखियोंको दान देता, श्रावकोंके व्रतोंका पालन करता और सदा शान्त और विषयभोगोंसे विरक्त रहता। एक दिन जिनदत्त चतुर्दशीके दिन आधीरातके समय स्मशानमें कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। उस समय वहाँ दो देव आये। उनके नाम अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ थे। अमितप्रभ जैनधर्मका विश्वासी था और विद्युत्प्रभ दूसरे धर्मका। वे अपने अपने स्थानसे परस्परके धर्मकी परीक्षा करनेको निकले थे। पहले उन्होंने एक पँचाग्नितप करनेवाले तापसकी परीक्षा की। वह अपने

ध्यानसे विचलित हो गया। इसके बाद इन्होंने जिनदत्तको स्मशानमें ध्यान करते देखा। तब अमितप्रभने विद्युत्प्रभसे कहा–प्रिय, उत्कृष्ट चारित्रके पालनेवाले जिनधर्मके सच्चे साधुओंकी परीक्षाकी बातको तो जाने दो, परन्तु देखते हो, वह गृहस्थ जो कायोत्सर्गसे खड़ा हुआ है, यदि तुममें कुछ शक्ति हो, तो तुम उसे ही अपने ध्यानसे विचलित करदो। यदि तुमने उसे ध्यानसे चला दिया तो हम तुम्हारा ही कहना सत्य मानलेंगे।

अमितप्रभसे उत्तेजना पाकर विद्युत्प्रभने जिनदत्तपर अत्यन्त दुस्सह और भयानक उपद्रव किया, पर जिनदत्त उससे कुछ भी विचलित न हुआ और पर्वतकी तरह खड़ा रहा। जब सवेरा हुआ तब दोनों देवोंने अपना असली वेष प्रगट कर बड़ी भक्तिके साथ उसका खूब सत्कार किया और बहुत प्रशंसा कर जिनदत्तको एक आकाशगामिनी विद्या दी। इसके बाद वे जिनदत्तसे यह कहकर, कि श्रावकोत्तम ! तुम्हें आजसे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई; तुम पंच नमस्कार मंत्रकी साधनविधिके साथ इसे दूसरोंको प्रदान करोगे तो उन्हें भी यह सिद्ध होगी–अपने स्थानपर चले गये।

विद्याकी प्राप्तिसे जिनदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ। उसकी अकृत्रिम चैत्यालयोंके दर्शन करनेकी इच्छा पूरी हुई। वह उसी समय विद्याके प्रभावसे अकृत्रिम चैत्यालयके दर्शन करनेको गया और खूब भक्तिभावसे उसने जिनभगवानकी पूजा की, जो कि स्वर्गमोक्षकी देनेवाली है।

इसी प्रकार अब जिनदत्त प्रतिदिन अकृत्रिम जिनमन्दिरोंके दर्शन करनेके लिये जाने लगा। एक दिन वह जानेके लिये तैयार खड़ा हुआ था कि उससे एक सोमदत्त नामके मालीने पूछा—आप प्रतिदिन सवेरे ही उठकर कहाँ जाया करते हैं? उत्तरमें जिनदत्त सेठने कहा—मुझे दो देवोंकी कृपासे आकाशगामिनी विद्याकी प्राप्ति हुई है। सो उसके बलसे सुवर्णमय अकृत्रिम जिनमन्दिरोंकी पूजा करनेके लिये जाया करता हूं, जो कि सुखशान्तिकी देनेवाली है। तब सोमदत्तने जिनदत्तसे कहा—प्रभो, मुझे भी विद्या प्रदान कीजिये न? जिससे मैं भी अच्छे सुन्दर सुगन्धित फूल लेकर प्रतिदिन भगवानकी पूजा करनेको जाया करूं और उसके द्वारा शुभकर्म उपार्जन करूं। आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप मुझे विद्या प्रदान करेंगे।

सोमदत्तकी भक्ति और पवित्रता देखकर जिनदत्तने उसे विद्या साधन करनेकी रीति बतला दी। सोमदत्त उससे सब विधि ठीक ठीक समझकर विद्या साधनेके लिये कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीकी अन्धेरी रातमें स्मशानमें गया, जो कि बड़ा भयंकर था। वहाँ उसने एक बड़की डालीमें एकसौ आठ लड़ीका एक दूबाका सींका बांधा और उसके नीचे अनेक भयंकर तीखे तीखे शस्त्र सीधे मुहँ गाड़कर उनकी पुष्पादिसे पूजा की। इसके बाद वह सींकेपर बैठकर पंच नमस्कार मंत्र जपने लगा। मंत्र पूरा होनेपर जब सींकाके काटनेका समय आया और उसकी दृष्टि चमचमाते हुए शस्त्रोंपर पड़ी तब उन्हें देखते ही वह कांप उठा। उसने विचारा—यदि जिनद-

तने मुझे झूठ कह दिया हो तब तो मेरे प्राण ही चले जायंगे; यह सोच कर वह नीचे उतर आया। उसके मनमें फिर कल्पना उठी कि भला जिनदत्तको मुझसे क्या लेना है जो वह झूठ कहकर मुझे ऐसे मृत्युके मुखमें डालेगा? और फिर वह तो जिनधर्मका परम श्रद्धालु है—उसके रोम रोममें दया भरी हुई है, उसे मेरी जान लेनेसे क्या लाभ? इत्यादि विचारोंसे अपने मनको सन्तुष्ट कर वह फिर सींकेपर चढ़ा, पर जैसे ही उसकी दृष्टि फिर शस्त्रोंपर पड़ी कि वह फिर भयके मारे नीचे उतर आया। इसी तरह वह वारवार उतरने और चढ़ने लगा, पर उसकी हिम्मत सींका काट देनेकी नहीं हुई। सच है जिन्हें स्वर्गमोक्षका सुख देनेवाले जिनभगवानके वचनोंपर विश्वास नहीं—मनमें उनपर निश्चय नहीं, उन्हें संसारमें कोई सिद्धि कभी प्राप्त नहीं होती।

उसी रातको एक और घटना हुई। वह उल्लेख योग्य है और खासकर उसका इसी घटनासे सम्बन्ध है। इसलिये उसे लिखते हैं। वह इस प्रकार है—

इधर तो सोमदत्त सशंक होकर क्षणभरमें वृक्षपर चढ़ता और क्षणभरमें उसपरसे उतरता था, और दूसरी ओर इसी समय माणिकांजन सुन्दरी नामकी एक वेश्याने अपनेपर प्रेम करनेवाले एक अंजन नामके चोरसे कहा—प्राणवल्लभ, आज मैंने प्रजापाल महाराजकी कनकवती नामकी पट्टरानीके गलेमें रत्नका हार देखा है। वह वहुत ही सुन्दर है। मेरा तो यह भी विश्वास है कि संसार भरमें उसकी तुलना करनेवाला कोई और हार होगा ही नहीं। सो आप उसे

लाकर मुझे दीजिये, तब ही आप मेरे स्वामी हो सकेंगे अन्यथा नहीं।

माणिकांजन सुन्दरीकी ऐसी कठिन प्रतिज्ञा सुनकर पहले तो वह कुछ हिचका, पर साथ ही उसके प्रेमने उसे वैसा करनेको वाध्य किया। वह अपने जीवनकी भी कुछ परवा न कर हार चुरा लानेके लिये राजमहल पहुँचा और मौका देखकर महलमें घुस गया। रानीके शयनागारमें पहुँचकर उसने उसके गलेमेंसे बड़ी कुशलताके साथ हार निकाल लिया। हार लेकर वह चलता बना। हजारों पहरेदारोंकी आँखोंमें धूल डालकर वह साफ निकल जाता, पर अपने दिव्य प्रकाशसे गाढ़ेसे गाढ़े अंधकारको भी नष्ट करनेवाले हार-ने उसे सफल प्रयत्न नहीं होने दिया। पहरेवालोंने उसे हार ले जाते हुए देख लिया। वे उसे पकड़नेको दौड़े। अंजन चोर भी खूब जी छोड़कर भागा, पर आखिर कहाँतक भाग सकता था। पहरदार उसे पकड़ लेना ही चाहते थे कि उसने एक नई युक्ति की। वह हारको पीछेकी ओर जोरसे फैंक कर भागा। सिपाही लोग तो हार उठानेमें लगे और इधर अंजनचोर बहुत दूर निकल आया। सिपाहियोंने तब भी उसका पीछा न छोड़ा। वे उसका पीछा किये चले ही गये। अंजनचोर भागता भागता श्मशानकी ओर जा निकला, जहाँ जिनदत्तके उपदेशसे सोमदत्त विद्यासाधनके लिये व्यग्र हो रहा था। उसका यह भयंकर उपक्रम देखकर अंजनने उससे पूछा कि तुम यह क्या कर रहे हो? क्यों अपनी जान दे रहे हो? उत्तरमें सोमदत्तने सब बातें

उसे बतादीं, जैसी कि जिनदत्तने इसे बतलाईं थीं। सोम-दत्तकी बातोंसे अंजनको बड़ी खुशी हुई। उसने सोचा कि सिपाही लोग तो मुझे मारनेके लिये पीछे आ ही रहे हैं और वे अवश्य मुझे मार भी डालेंगे। क्योंकि मेरा अपराध कोई साधारण अपराध नहीं है। फिर यदि मरना ही है तो धर्मके आश्रित रहकर ही मरना अच्छा है। यह विचार कर उसने सोमदत्तसे कहा—बस, इसी थोड़ीसी बातके लिये इतने डरते हो? अच्छा लाओ, मुझे तलवार दो, मैं भी तो जरा आजमा लूं। यह कहकर उसने सोमदत्तसे तलवार लेली और वृक्षपर चढ़कर सींकेपर जा बैठा। वह सींकेको काटनेके लिये तैयार हुआ कि सोमदत्तके बताये मंत्रको भूल गया। पर उसकी वह कुछ परवा न कर और केवल इस बातपर विश्वास करके कि "जैसा सेठने कहा उसका कहना मुझे प्रमाण है।" उसने निःशंक होकर एक ही झटकेमें सारे सींकेको काट दिया। काटनेके साथ ही जबतक वह शस्त्रोंपर गिरता है कि तबतक आकाशगामिनी विद्याने आकर उससे कहा—देव, आज्ञा कीजिये, मैं उपस्थित हूँ। विद्याको अपने सामने खड़ी देखकर अंजनचोरको बड़ी खुशी हुई। उसने विद्यासे कहा, मेरु पर्वतपर जहाँ जिनदत्त सेठ भगवानकी पूजा कर रहा है, वहीं मुझे पहुँचा दो। उसके कहनेके साथ ही विद्याने उसे जिनदत्तके पास पहुँचा दिया। सच है—जिन-धर्मके प्रसादसे क्या नहीं होता?

सेठके पास पहुँचकर अंजनने बड़ी भक्तिके साथ उन्हें प्रणाम किया और वह बोला—हे दयाके समुद्र! मैंने आपकी

कृपासे आकाशगामिनी विद्या तो प्राप्त की, पर अब आप मुझे कोई ऐसा मंत्र बतलाइये जिसमें मैं संसार समुद्रसे पार होकर मोक्षमें पहुँच जाऊँ—सिद्ध हो जाऊँ।

अंजनकी इस प्रकार वैराग्य भरी बातें सुनकर परोपकारी जिनदत्तने उसे एक चारणऋद्धिके धारक मुनिराजके पास लिवा लेजाकर उनसे जिन दीक्षा दिलवादी। अंजनचोर साधु बनकर धीरे धीरे कैलासपर जा पहुँचा। वहाँ खूब तपश्चर्या कर ध्यानके प्रभावसे उसने घातिया कर्मोंका नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर वह त्रैलोक्य द्वारा पूजित हुआ। अन्तमें अघातिया कर्मोंका भी नाश कर अंजनमुनिराजने अविनाशी, अनन्त गुणोंके समुद्र मोक्षपदको प्राप्त किया।

सम्यग्दर्शनके निःशंकितगुणका पालनकर अंजनचोर भी निरंजन हुआ-कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ हुआ। इसलिये भव्यपुरुषोंको तो निःशंकितअंगका पालन करना ही चाहिये।

मूलसंघमें श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। वे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—रूप उत्कृष्ट रत्नोंसे अलंकृत थे, बुद्धिमान् थे, और ज्ञानके समुद्र थे। सिंहनन्दीमुनि उनके शिष्य थे। वे मिथ्यात्वमतरूपी पर्वतोंको तोड़नेके लिये वज्रके समान थे—बड़े पाण्डित्यके साथ वे अन्य सिद्धान्तोंका खण्डन करते थे और भव्यपुरुषरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये वे सूर्यके समान थे। वे चिरकाल तक जीयें उनका यशःशरीर इस नश्वर संसारमें सदा बना रहे।

७—अनन्तमतीकी कथा।

मोक्ष-सुखके देनेवाले श्रीअर्हन्त भगवानके चरणोंको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अनन्तमतीकी कथा लिखता हूं, जिसके द्वारा सम्यग्दर्शनके निःकांक्षित-गुणका प्रकाश हुआ है।

संसारमें अंगदेश बहुत प्रसिद्ध देश है। जिस समयकी हम कथा लिखते हैं, उस समय उसकी प्रधान राजधानी चम्पापुरी थी। उसके राजा थे वसुवर्धन और उनकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था। वह सती थी, गुणवती थी और बड़ी सरल स्वभावकी थी। उनके एक पुत्र था। उसका नाम था प्रियदत्त। प्रियदत्तकी जिनधर्मपर पूर्ण श्रद्धा थी। उसकी गृहिणीका नाम अंगवती था। वह बड़ी धर्मात्मा थी, उदार थी। अंगवतीके एक पुत्री थी। उसका नाम अनन्तमती था। वह बहुत सुन्दर थी, गुणोंकी समुद्र थी।

अष्टाह्निका पर्व आया। प्रियदत्तने धर्मकीर्ति मुनिराजके पास आठ दिनके लिये ब्रह्मचर्य व्रत लिया। साथहीमें उसने अपनी प्रिय पुत्रीको भी विनोदके वश होकर ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया। कभी कभी सत्पुरुषोंका विनोद भी सत्य मार्गका प्रदर्शक बन जाता है। अनंतमतीकें चित्तपर भी प्रियदत्तके दिलाये व्रतका ऐसा ही प्रभाव पड़ा। जब अनन्तमतीके व्याहका समय आया और उसके लिये आयोजन होने लगा, तब अनन्तमतीने अपने पितासे कहा—पिताजी! आ-

पने मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिया था न? फिर यह व्याहका आयोजन आप किस लिये करते हैं?

उत्तरमें प्रियदत्तने कहा-पुत्री, मैंने तो तुझे जो व्रत दिलवाया था वह केवल मेरा विनोद था। क्या तू उसे सच समझ बैठी है?

अनन्तमती बोली-पिताजी, धर्म और व्रतमें हँसी विनोद कैसा, यह मैं नहीं समझी?

प्रियदत्तने फिर कहा-मेरे कुलकी प्रकाशक प्यारी पुत्री, मैंने तो तुझे ब्रह्मचर्य केवल विनोदसे दिया था। और तू उसे सच ही समझ बैठी है, तो भी वह आठ ही दिनके लिये था। फिर अब तू व्याहसे क्यों इन्कार करती है?

अनन्तमतीने कहा-मैं मानती हूं कि आपने अपने भावोंसे मुझे आठ ही दिनका ब्रह्मचर्य दिया होगा; परन्तु न तो आपने उस समय मुझसे ऐसा कहा और न मुनि महाराजने ही, तब मैं कैसे समझूं कि वह आठ ही दिनके लिये था। इसलिये अब जैसा कुछ हो, मैं तो जीवन पर्यन्त ही उसे पालूंगी। मैं अब व्याह नहीं करूंगी।

अनन्तमतीकी बातोंसे उसके पिताको बड़ी निराशा हुई; पर वे कर भी क्या सकते थे। उन्हें अपना सब आयोजन समेट लेना पड़ा। इसके बाद उन्होंने अनन्तमतीके जीवनको धार्मिक-जीवन बनानेके लिये उसके पठनपाठनका अच्छा प्रबन्ध कर दिया। अनन्तमती भी निराकुलतासे शास्त्रोंका अभ्यास करने लगी।

इस समय अनन्तमती पूर्ण युवती है। उसकी सुन्दरताने स्वर्गीय सुन्दरता धारण की है। उसके अंग अंगसे लावण्य-सुधाका झरना बह रहा है। चन्द्रमा उसके अमनिम मुखकी शोभाको देखकर फीका पड़ रहा है और नखोंके प्रतिबिम्बके बहानेसे उसके पावोंमें पड़कर अपनी इज्जत बचालेनेके लिये उससे प्रार्थना करता है। उसकी बड़ी बड़ी और प्रफुल्लित आँखोंको देखकर बेचारे कमलोंसे मुख भी ऊँचा नहीं किया जाता है। यदि सच पूछो तो उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा करना मानो उसकी मर्यादा बांध देना है, पर वह तो अमर्याद है, स्वर्गकी सुन्दरियोंको भी दुर्लभ है।

चैत्रका महिना था। एक दिन अनन्तमती विनोदवश हो, अपने बगीचेमें अकेली झूलेपर झूल रही थी। इसी समय एक कुण्डलमंडित नामका विद्याधरोंका राजा, जो कि विद्याधरोंकी दक्षिणश्रेणीके किन्नरपुरका स्वामी था, इधर ही होकर अपनी प्रियाके साथवा युयानमें बैठा हुआ जा रहा था। एकाएक उसकी दृष्टि झूलती हुई अनन्तमतीपर पड़ी। उसकी स्वर्गीय सुन्दरताको देखकर कुंडलमंडित कामके बाणोंसे बुरी तरह बींधा गया। उसने अनंतमतीकी प्राप्तिके विना अपने जन्मको व्यर्थ समझा। वह उस बेचारी बालिकाको उड़ा तो उसी वक्त ले जाता, पर साथमें प्रियाके होनेसे ऐसा अनर्थ करनेके लिये उसकी हिम्मत न पड़ी। पर उसे विना अनन्तमतीके कब चैन पड़ सकता था? इसलिये वह अपने विमानको शीघ्रतासे घर लौटा ले गया और वहाँ अपनी प्रियाको रखकर उसी समय अनंतमतीके बगीचेमें आ उपस्थित हुआ और

बड़ी फुर्तीसे उस भोली बालिकाको उठा ले चला। उधर उसकी प्रियाको भी इसके कर्मका कुछ कुछ अनुसंधान लग गया था। इसलिये कुण्डलमंडित तो उसे घरपर छोड़ आया था, पर वह घरपर न ठहर कर उसके पीछे पीछे हो चली। जिस समय कुण्डलमण्डित अनन्तमतीको लेकर आकाशकी ओर जा रहा था, कि उसकी दृष्टि अपनी प्रिया पर पड़ी। उसे क्रोधके मारे लाल मुख किये हुई देखकर कुण्डलमंडितके प्राणदेवता एक साथ शीतल पड़ गये। उसके शरीरको काटो तो खून नहीं। ऐसी स्थितिमें अधिक गोलमाल होनेके भयसे उसने बड़ी फुर्तीके साथ अनन्तमतीको एक पर्णलघ्वी नामकी विद्याके आधीन कर उसे एक भयंकर वनीमें छोड़ देनेकी आज्ञा दे दी और आप पत्नीके साथ घर लौट गया और उसके सामने अपनी निर्दोषताका यह सार्टिफिकट पेश कर दिया कि अनन्तमती न तो विमानमें उसे देखनेको मिली और न विद्याके सुपुर्द करते समय कुण्डलमंडितने ही उसे देखने दी।

उस भयंकर वनीमें अनन्तमती बड़े जोर जोरसे रोने लगी, पर उसके रोनेको सुनता भी कौन? वह तो कोसों-तक मनुष्योंके पदचारसे रहित थी। कुछ समय बाद एक भीलोंका राजा शिकार खेलता हुआ उधर आ निकला। उसने अनन्तमतीको देखा। देखते ही वह भी कामके बाणोंसे घायल हो गया और उसी समय उसे उठाकर अपने गांवमें ले गया। अनन्तमती तो यह समझी कि दैवने मुझे इसके हाथ सौंपकर मेरी रक्षाकी है और अब मैं अपने घर पहुँचा

दी जाऊँगी। पर नहीं, उसकी यह समझ ठीक नहीं थी। वह छुटकारेके स्थानमें एक और नई विपत्तिके मुखमें फँस गई है।

राजा उसे अपने महल लेजाकर बोला—बाले, आज तुम्हें अपना सौभाग्य समझना चाहिये कि एक राजा तुमपर मुग्ध है, और वह तुम्हें अपनी पट्टरानी बनाना चाहता है। प्रसन्न होकर उसकी प्रार्थना स्वीकार करो और अपने स्वर्गीय समागमसे उसे सुखी करो। वह तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ा है—तुम्हें वनदेवी समझकर अपना मन चाहा वर माँगता है। उसे देकर उसकी आशा पूरी करो। बेचारी भोली अनन्तमती उस पापीकी वार्तोका क्या जवाब देती? वह फूट फूटकर रोने लगी और आकाश पाताल एक करने लगी। पर उसकी सुनता कौन? वह तो राज्य ही मनुष्यजातिके राक्षसोंका था।

भीलराजाके निर्दयी हृदयमें तब भी अनन्तमतीके लिये कुछ भी दया नहीं आई। उसने और भी बहुत बहुत प्रार्थना की, विनय अनुनय किया, भय दिखाया, पर अनन्तमतीने उसपर कुछ ध्यान नहीं दिया। किन्तु यह सोचकर, कि इन नारकियोंके सामने रोने धोनेसे कुछ काम नहीं चलेगा, उसने उसे फटकारना शुरू किया। उसकी आँखोंसे क्रोधकी चिनगारियाँ निकलने लगीं, उसका चेहरा लालसुर्ख पड़ गया। सब कुछ हुआ, पर उस भीम राक्षसपर उसका कुछ प्रभाव न पड़ा। उसने अनन्तमतीपर बलात्कार करना चाहा। इतनेमें उसके पुण्यप्रभावसे, नहीं, शीलके

अखंड बलसे वनदेवीने आकर अनन्तमतीकी रक्षा की और उस पापीको उसके पापका खूब फल दिया और कहा- नीच, तू नहीं जानता यह कौन है ? याद रख यह संसारकी पूज्य एक महादेवी है, जो इसे तूने सताया कि समझ तेरे जीवनकी कुशल नहीं है। यह कहकर वनदेवी अपने स्थान-पर चली गई। उसके कहनेका भीलराजपर बहुत असर पड़ा और पड़ना चाहिये ही था। क्योंकि थी तो वह देवी ही न ? देवीके डरके मारे दिन निकलते ही उसने अनन्तम-तीको एक साहूकारके हाथ सौंपकर उससे कह दिया कि इसे इसके घर पहुँचा दीजियेगा। पुष्पक सेठने उस समय तो अनन्तमतीको उसके घर पहुँचा देनेका इकरार कर भीलराजसे लेली। पर यह किसने जाना कि उसका हृदय भी भीतरसे पापपूर्ण होगा। अनन्तमतीको पाकर वह समझने लगा कि मेरे हाथ अनायास स्वर्गकी सुन्दरी लग गई। यह यदि मेरी बात प्रसन्नता पूर्वक मानले तब तो अच्छा ही है, नहीं तो मेरे पंजेसे छूट कर भी तो यह नहीं जा सकती। यह विचारकर उस पापीने अनन्तमतीसे कहा–सुन्दरी, तुम बड़ी भाग्यवती हो, जो एक नरपिशाचके हाथसे छूटकर पुण्यपुरुषके सुपुर्द हुई। कहाँ तो यह तुम्हारी अनिन्द्य स्व-र्गीय सुन्दरता और कहाँ वह भीमराक्षस, कि जिसे देखते ही हृदय कांप उठता है ! मैं तो आज अपनेको देवोंसे भी कहीं बढ़कर भाग्यशाली समझता हूं, जो मुझे अनमोल स्त्री-रत्न सुलभताके साथ प्राप्त हुआ। भला, विना महाभाग्यके कहीं ऐसा रत्न मिल सकता है ? सुन्दरी, देखती हो, मेरे पास

अटूट धन है, अनन्त वैभव है, पर उस सबको तुमपर न्यौछावर करनेको तैयार हूं और तुम्हारे चरणोंका अत्यन्त दास बनता हूं। कहो, मुझपर प्रसन्न हो? मुझे अपने हृदयमें जगह दोगी न? दो, और मेरे जीवनको, मेरे धन-वैभवको सफल करो।

अनंतमतीने समझा था कि इस भले मानसकी कृपासे मैं सुखपूर्वक पिताजीके पास पहुंच जाऊंगी, पर वह बेचारी पापियोंके पापी हृदयकी बातको क्या जाने? उसे जो मिलता था, उसे वह भला ही समझती थी। यह स्वाभाविक बात है कि अच्छेको संसार अच्छा ही दिखता है। अनन्तमतीने पुष्पक सेठकी पापपूर्ण बातें सुनकर बड़े कोमल शब्दोंमें कहा-महाशय, आपको देखकर तो मुझे विश्वास हुआ था कि अब मेरे लिये कोई डरकी बात नहीं रही-मैं निर्विघ्न अपने घरपर पहुँच जाऊंगी। क्योंकि मेरे एक दूसरे पिता मेरी रक्षाके लिये आगये हैं। पर मुझे अत्यन्त दुःखके साथ कहना पड़ता है कि आप सरीखे भले मानसके मुहँसे और ऐसी नीच बातें? जिसे मैंने रस्सी समझकर हाथमें लिया था, मैं नहीं समझती थी कि वह इतना भयंकर सर्प होगा। क्या यह बाहरी चमक दमक और सीधापन केवल दाम्भिकपना है? केवल बगुलोंकी हंसोंमें गणना करानेके लिये है? यदि ऐसा है तो मैं तुम्हें, तुम्हारे इस ठगी वेषको, तुम्हारे कुलको, तुम्हारे धन-वैभवको और तुम्हारे जीवनको धिक्कार देती हूं-अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखती हूं। जो मनुष्य केवल संसारको ठगानेके लिये ऐसे मायाचार करता है, बाहर धर्मा-

त्मा बननेका ढोंग रचता है, लोगोंको धोखा देकर अपने मायाजालमें फँसाता है, वह मनुष्य नहीं है; किन्तु पशु है, पिशाच है, राक्षस है। वह पापी मुहँ देखने योग्य नहीं, नाम लेने योग्य नहीं। उसे जितना धिक्कार दिया जाय थोड़ा है। मैं नहीं जानती थी कि आप भी उन्ही पुरुषोंमेंसे एक होंगे। अनन्तमती और भी कहती, पर वह ऐसे कुलकलंक नीचोंके मुहँ लगना उचित नहीं समझ चुप हो रही। अपने क्रोधको वह दवा गई।

उसकी जली भुनी वातें सुनकर पुष्पक सेठकी अक्ल ठिकाने आ गई। वह जलकर खाक हो गया, क्रोधसे उसका सारा शरीर कांप उठा, पर तव भी अनन्तमतीके दिव्य तेजके सामने उससे कुछ करते नहीं वना। उसने अपने क्रोधका वदला अनन्तमतीसे इस रूपमें चुकाया कि वह उसे अपने शहरमें लेजाकर एक कामसेना नामकी कुट्टिनीके हाथ सौंप दिया। सच वात तो यह है कि यह सव दोष दिया किसे जा सकता है, किन्तु कर्मोंकी ही ऐसी विचित्र स्थिति है, जो जैसा कर्म करता है उसका उसे वैसा फल भोगना ही पड़ता है। इसमें नई वात कुछ नहीं है।

कामसेनाने भी अनन्तमतीको कष्ट देनेमें कुछ कसर नहीं की। जितना उससे वना उसने भयसे, लोभसे उसे पवित्र पथसे गिराना चाहा—उसके सतीत्वधर्मको भ्रष्ट करना चाहा, पर अनन्तमती उससे नहीं डिगी। वह सुमेरुके समान निश्चल वनी रही। ठीक तो है—जो संसारके दुःखोंसे डरते हैं, वे ऐसे भी सांसारिक कामोंके करनेसे घवरा उठते हैं,

जो न्यायमार्गसे भी क्यों न प्राप्त हुए हों, तब भला उन पुरुषोंकी ऐसे घृणित और पाप कार्योंमें कैसे प्रीति हो सकती है? कभी नहीं होती।

कामसेनाने उसपर अपना चक्र चला हुआ न देखकर उसे एक सिंहराज नामके राजाको सौंप दिया। बेचारी अनन्तमतीका जन्म ही न जाने कैसे बुरे समयमें हुआ था, जो वह जहाँ पहुँचती वहीं आपत्ति उसके सिरपर सवार रहती। सिंहराज भी एक ऐसा ही पापी राजा था। वह अनन्तमतीके देवांगनादुर्लभ रूपको देखकर उसपर मोहित हो गया। उसने भी उससे बहुत हाथाजोड़ी की, पर अनन्तमतीने उसकी बातोंपर कुछ ध्यान न देकर उसे भी फटकार डाला। पापी सिंहराजने अनन्तमतीका अभिमान नष्ट करनेको उससे बलात्कार करना चाहा। पर जो अभिमान मानवी प्रकृतिका न होकर अपने पवित्र आत्मीय तेजका होता है, भला, किसकी मजाल जो उसे नष्ट कर सके? जैसे ही पापी सिंहराजने उस तेजोमय मूर्त्तिकी ओर पाँव बढ़ाया कि उसी बनदेवीने, जिसने एक बार पहले भी अनन्तमतीकी रक्षा की थी, उपस्थित होकर कहा—खबरदार! इस सती देवीका स्पर्श भूलकर भी मत करना, नहीं तो समझ लेना कि तेरा जीवन जैसा संसारमें था ही नहीं। इसके साथ ही देवी उसे उसके पापकर्मोंका उचित दंड देकर अन्तर्हित हो गई। देवीको देखते ही सिंहराजका कलेजा काँप उठा। वह चित्रलिखेसा निश्चेष्ट हो गया। देवीके चले जानेपर बहुत देर बाद उसे होश हुआ। उसने

उसी समय नौकरको बुलवाकर अनन्तमतीको जंगलमें छोड़ आनेकी आज्ञा दी। राजाकी आज्ञाका पालन हुआ। अनन्तमती एक भयंकर वनमें छोड़ दी गई।

अनन्तमती कहाँ जायगी, किस दिशामें उसका शहर है, और वह कितनी दूर है? इन सब बातोंका यद्यपि उसे कुछ पता नहीं था, तब भी वह पंचपरमेष्ठीका स्मरणकर वहाँसे आगे बढ़ी और फल फूलादिसे अपना निर्वाह कर वन, जंगल, पर्वतोंको लाँघती हुई अयोध्यामें पहुँच गई। वहाँ उसे एक पद्मश्री नामकी आर्यिकाके दर्शन हुए। आर्यिकाने अनन्तमतीसे उसका परिचय पूछा। उसने अपना सब परिचय देकर अपनेपर जो जो विपत्ति आई थी और उससे जिस जिस प्रकार अपनी रक्षा हुई थी उसका सब हाल आर्यिकाको सुना दिया। आर्यिका उसकी कथा सुनकर बहुत दुखी हुई। उसे उसने एक सती-शिरोमणि रमणीरत्न समझकर अपने पास रख लिया। सच है सज्जनोंका व्रत परोपकारार्थ ही होता है।

उधर प्रियदत्तको जब अनन्तमतीके हरीजानेका समाचार मालूम हुआ तब वह अत्यन्त दुःखी हुआ। उसके वियोगसे वह अस्थिर हो उठा। उसे घर श्मशान सरीखा भयंकर दिखने लगा। संसार उसके लिये सूना हो गया। पुत्रीके विरहसे दुखी होकर तीर्थयात्राके बहानेसे वह घरसे निकल खड़ा हुआ। उसे लोगोंने बहुत समझाया, पर उसने किसीकी बातको न मानकर अपने निश्चयको नहीं छोड़ा। कुटुम्बके लोग उसे घरपर न रहते देखकर स्वयं भी उसके साथ साथ चले।

बहुतसे सिद्धक्षेत्रों और अतिशय-क्षेत्रोंकी यात्रा करते करते वे अयोध्यामें आये। वहींपर प्रियदत्तका साला जिनदत्त रहता था। प्रियदत्त उसीके घरपर ठहरा। जिनदत्तने बड़े आदर सम्मानके साथ अपने बहनोईकी पाहुनगति की। इसके बाद स्वस्थताके समय जिनदत्तने अपनी बहिन-आदिका समाचार पूछा। प्रियदत्तने जैसी घटना बीती थी, वह सब उससे कह सुनाई। सुनकर जिनदत्तको भी अपनी भानजीके बाबत बहुत दुःख हुआ। दुःख सभीको हुआ पर उसे दूर करनेके लिये सब लाचार थे। कर्मोंकी विचित्रता देखकर सबहीको सन्तोष करना पड़ा।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर और स्नानादि करके जिनदत्त तो जिनमन्दिर चला गया। इधर उसकी स्त्री भोजनकी तैयारी करके पद्मश्री आर्यिकाके पास जो बालिका थी, उसे भोजन करनेको और आँगनमें चौक पूरनेको बुला लाई। बालिकाने आकर चौक पूरा और बाद भोजन करके वह अपने स्थानपर लौट आई।

जिनदत्तके साथ प्रियदत्त भी भगवानकी पूजा करके घरपर आया। आते ही उसकी दृष्टि चौकपर पड़ी। देखते ही उसे अनन्तमतीकी याद हो उठी। वह रो पड़ा। पुत्रीके प्रेमसे उसका हृदय व्याकुल हो गया। उसने रोते रोते कहा-जिसने यह चौक पूरा है, क्या मुझ अभागेको उसके दर्शन होंगे? जिनदत्त अपनी स्त्रीसे उस बालिकाका ठिकाना पूछ कर जहाँ वह थी, वहीं दौड़ा गया और झटसे उसे अपने घर लिवा लाया। बालिकाको देखते ही प्रियदत्तके नेत्रोंसे आँसु

वह निकले। उसका गला भर आया। आज वर्षों बाद उसे अपनी पुत्रीके दर्शन हुए। बड़े प्रेमके साथ उसने अपनी प्यारी पुत्रीको छातीसे लगाया और उसे गोदीमें बैठाकर उससे एक एक बातें पूछना शुरू कीं। उसके दुःखोंका हाल सुनकर प्रियदत्त बहुत दुःखी हुआ। उसने कर्मोंका, इसलिये कि अनन्तमती इतने कष्टोंको सहकर भी अपने धर्मपर दृढ़ रही और कुशलपूर्वक अपने पितासे आ मिली, बहुत बहुत उपकार माना। पितापुत्रीका मिलाप हो जानेसे जिनदत्तको बहुत प्रसन्नता हुई। उसने इस खुशीमें जिनभगवानका रथ निकलवाया, सबका यथायोग्य आदर सन्मान किया और खूब दान किया।

इसके बाद प्रियदत्त अपने घर जानेको तैयार हुआ। उसने अनन्तमतीसे भी चलनेको कहा। वह बोली—पिताजी, मैंने संसारकी लीलाको खूब देखा है। उसे देखकर तो मेरा जी काँप उठता है। अब मैं घरपर नहीं चलूंगी। मुझे संसारके दुःखोंसे बहुत डर लगता है। अब तो आप दया करके मुझे दीक्षा दिलवा दीजिये। पुत्रीकी बात सुनकर प्रियदत्त बहुत दुखी हुआ, पर अब उसने उससे घरपर चलनेको विशेष आग्रह न करके केवल इतना कहा कि—पुत्री, तेरा यह नवीन शरीर अत्यन्त कोमल है और दीक्षाका पालन करना बड़ा कठिन है—उसमें बड़ी बड़ी कठिन परीषह सहना पड़ती हैं। इसलिये अभी कुछ दिनोंके लिये मन्दिरहीमें रहकर अभ्यास कर और धर्मध्यान पूर्वक अपना समय बिता। इसके बाद जैसा तू चाहती है, वह स्वयं ही हो जायगा।

प्रियदत्तने इस समय दीक्षा लेनेसे अनन्तमतीको रोका, पर उसके तो रोम रोममें वैराग्य प्रवेश कर गया था; फिर वह कैसे रुक सकती थी? उसने मोहजाल तोड़कर उसी समय पद्मश्री आर्यिकाके पास जिनदीक्षा ग्रहण कर ही ली। दीक्षित होकर अनन्तमती खूब दृढ़ताके साथ तप तपने लगी, महिना महिनाके उपवास करने लगी, परीषह सहने लगी। उसकी उमर और तपश्चर्या देखकर सबको दांतोंतले अंगुली दबाना पड़ती थी। अनन्तमतीका जबतक जीवन रहा तबतक उसने बड़े साहससे अपने व्रतको निवाहा। अन्तमें वह सन्यासमरण कर सहस्रारस्वर्गमें जाकर देव हुई। वहाँ वह नित्य नये रत्नोंके स्वर्गीय भूषण पहरती है, जिन-भगवानकी भक्तिके साथ पूजा करती है, हजारों देव देवाङ्गनायें उसकी सेवामें रहती हैं। उसके ऐश्वर्यका पार नहीं और न उसके सुखहीकी सीमा है। बात यह है कि पुण्यके उदयसे क्या क्या नहीं होता?

अनन्तमतीको उसके पिताने केवल विनोदसे शीलव्रत दे दिया था। पर उसने उसका बड़ी दृढ़ताके साथ पालन किया—कर्मोंके पराधीन सांसारिक सुखकी उसने स्वप्नमें भी चाह नहीं की। उसके प्रभावसे वह स्वर्गमें जाकर देव हुई, जहां सुखका पार नहीं। वहां वह सदा जिनभगवानके चरणोंमें लीन रह कर बड़ी शान्तिके साथ अपना समय बिताती है। सती-शिरोमणि अनन्तमती हमारा भी कल्याण करे।

८-उद्दायन राजाकी कथा।

संसार-श्रेष्ठ जिनभगवान, जिनवानी और जैन ऋषियोंको नमस्कार कर उद्दायन राजाकी कथा लिखता हूं, जिन्होंने सम्यक्त्वके तीसरे निर्विचिकित्सा अंगका पालन किया है।

उद्दायन रौरवक नामक शहरके राजा थे, जो कि कच्छदेशके अन्तर्गत था। उद्दायन सम्यग्दृष्टि थे, दानी थे, विचारशाली थे, जिनभगवानके सच्चे भक्त थे और न्यायी थे। सुतरां प्रजाका उनपर वहुत प्रेम था और वे भी प्रजाके हितमें सदा उद्युक्त रहा करते थे।

उनकी रानीका नाम प्रभावती था। वह भी सती थी, धर्मात्मा थी। उसका मन सदा पवित्र रहता था। वह अपने समयको प्रायः दान, पूजा, व्रत, उपवास, स्वाध्यायादिमें विताती थी।

उद्दायन अपने राज्यका शान्ति और सुखसे पालन करते और अपनी शक्तिके अनुसार जितना वन पड़ता, उतना धार्मिक काम करते। कहनेका मतलब यह कि वे सुखी थे-उन्हें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं थी। उनका राज्य भी शत्रुरहित निष्कंटक था।

एक दिन सौधर्मस्वर्गका इन्द्र अपनी सभामें धर्मोपदेश कर रहा था "कि संसारमें सच्चे देव अर्हन्त भगवान हैं, जो कि भूख, प्यास, रोग, शोक, भय, जन्म, जरा, मरण आदि दोषोंसे रहित और जीवोंको संसारके दुःखोंसे छुटानेवाले

है; सच्चा धर्म, उत्तम क्षमा, मार्दव आर्जव-आदि दशलक्षण रूप है; गुरु निर्ग्रन्थ हैं, जिनके पास परिग्रहका नाम निशान नहीं और जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष-आदिसे रहित हैं और वह सच्ची श्रद्धा है, जिससे जीवाजीवादिक पदार्थोंमें रुचि होती है। यही रुचि स्वर्गमोक्षकी देनेवाली है। यह रुचि अर्थात् श्रद्धा धर्ममें प्रेम करनेसे, तीर्थयात्रा करनेसे, रथोत्सव करानेसे, जिनमन्दिरोंका जीर्णोद्धार करानेसे, प्रतिष्ठा करानेसे, प्रतिमा बनवानेसे और साधर्मियोंसे वात्सल्य अर्थात् प्रेम करनेसे उत्पन्न होती है। आप लोग ध्यान रखिये कि सम्यग्दर्शन संसारमें एक सर्व श्रेष्ट वस्तु है। और कोई वस्तु उसकी समानता नहीं कर सकती। यही सम्यग्दर्शन दुर्गतियोंका नाश करके स्वर्ग और मोक्षका देनेवाला है। इसे तुम धारण करो।" इस प्रकार सम्यग्दर्शनका और उसके आठ अंगोंका वर्णन करते समय इन्द्रने निर्विचिकित्सा अंगका पालन करनेवाले उद्दायन राजाकी बहुत प्रशंसा की। इन्द्रके मुहँसे एक मध्यलोकके मनुष्यकी प्रशंसा सुनकर एक वासव नामका देव उसी समय स्वर्गसे भारतमें आया और उद्दायन राजाकी परीक्षा करनेके लिये एक कोढ़ी मुनिका वेश बनाकर भिक्षाके लिये दोपहरहीको उद्दायनके महल गया।

उसके शरीरसे कोढ़ गल रहा था, उसकी वेदनासे उसके पैर इधर उधर पड़ रहे थे, सारे शरीरपर मक्खियां भिनभिना रही थीं और सब शरीर विकृत हो गया था। उसकी यह हालत होनेपर भी जब वह राजद्वारपर पहुँचा और

महाराज उद्दायनकी उसपर दृष्टि पड़ी तब वे उसी समय सिंहासनसे उठकर आये और बड़ी भक्तिसे उन्होंने उस छली मुनिका आव्हान किया। इसके बाद नवधा भक्ति-पूर्वक हर्षके साथ राजाने मुनिको प्रासुक आहार कराया। राजा आहार कराकर निवृत्त हुए कि इतनेमें उस कपटी मुनिने अपनी मायासे महा दुर्गन्धित वमन कर दिया। उसकी असह्य दुर्गन्धके मारे जितने और लोग पास खड़े हुए थे, वे सब भाग खड़े हुए; किन्तु केवल राजा और रानी मुनिकी सम्हाल करनेको वहीं रह गये। रानी मुनिका शरीर पोंछनेको उसके पास गई। कपटी मुनिने उस बेचारीपर भी महा दुर्गन्धित उच्छाट करदी। राजा और रानीने इसकी कुछ परवा न कर उलटा इस बातपर बहुत पश्चात्ताप किया कि हमसे मुनिकी प्रकृति-विरुद्ध न जाने क्या आहार दे दिया गया, जिससे मुनिराजको इतना कष्ट हुआ। हम लोग बड़े पापी हैं। इसीलिये तो ऐसे उत्तम पात्रका हमारे यहां निरन्तराय आहार नहीं हुआ। सच है जैसे पापी लोगोंको मनोवांछितका देनेवाला चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष प्राप्त नहीं होता, उसी तरह सुपात्रके दानका योग भी पापियोंको नहीं मिलता है। इस प्रकार अपनी आत्मनिन्दा कर और अपने प्रमादपर बहुत बहुत खेद प्रकाश कर राजा रानीने मुनिका सब शरीर जलसे धोकर साफ किया। उनकी इस प्रकार अचलभक्ति देखकर देव अपनी माया समेटकर बड़ी प्रसन्नताके साथ बोला-राज-राजेश्वर, सचमुच ही तुम सम्यग्दृष्टि हो, महादानी हो।

निर्विचिकित्सा अंगके पालन करनेमें इन्द्रने जैसी तुम्हारी प्रशंसा की थी, वह अक्षर अक्षर ठीक निकली—वैसा ही मैंने तुम्हें देखा। वास्तवमें तुमहीने जैनशासनका रहस्य समझा है। यदि ऐसा न होता तो तुम्हारे बिना और कौन मुनिकी दुर्गन्धित उछाट अपने हाथोंसे उठाता? राजन्! तुम धन्य हो, शायद ही इस पृथ्वीमंडलपर इस समय तुम सरीखा सम्यग्दृष्टियोंमें शिरोमणि कोई होगा? इस प्रकार उद्दायनकी प्रशंसा कर देव अपने स्थानपर चला गया और राजा फिर अपने राज्यका सुखपूर्वक पालन करते हुए दान, पूजा, व्रत आदिमें अपना समय बिताने लगे।

इसी तरह राज्य करते करते उद्दायनका कुछ और समय वीत गया। एक दिन वे अपने महलपर बैठे हुए प्रकृतिकी शोभा देख रहे थे कि इतनेमें एक बड़ा भारी बादलका टुकड़ा उनकी आँखोंके सामनेसे निकला। वह थोड़ी ही दूर पहुँचा होगा कि एक प्रबल वायुके वेगने उसे देखते देखते नामशेष कर दिया। क्षणभरमें एक विशाल मेघखंडकी यह दशा देखकर उद्दायनकी आँखें खुलीं। उन्हें सारा संसार ही अब क्षणिक जान पड़ने लगा। उन्होंने उसी समय महलसे उतरकर अपने पुत्रको बुलाया और उसके मस्तकपर राजतिलक करके आप भगवान वर्द्धमानके समवसरणमें पहुँचे और भक्तिके साथ भगवानकी पूजा कर उनके चरणोंके पास ही उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण करली, जिसका इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि सभी आदर करते हैं।

साधु होकर उद्दायन राजाने खूब तपश्चर्या की, संसारका सर्व श्रेष्ठ पदार्थ रत्नत्रय प्राप्त किया। इसके बाद ध्यानरूपी

अग्निसे घातिया कर्मोंका नाशकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। उसके द्वारा उन्होंने संसारके दुःखोंसे तड़फते हुए अनेक जीवोंको उबारकर, अनेकोंको धर्मके पथपर लगाया और अन्तमें अघातिया कर्मोंका भी नाशकर अविनाशी अनन्त मोक्षपद प्राप्त किया।

उधर उनकी रानी सती प्रभावती भी जिनदीक्षा ग्रहण-कर तपश्चर्या करने लगी और अन्तमें समाधि मृत्यु प्राप्त कर ब्रह्मस्वर्गमें जाकर देव हुई।

वे जिनभगवान मुझे मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करें, जो सब श्रेष्ठ गुणोंके समुद्र हैं, जिनका केवलज्ञान संसारके जीवोंका हृदयस्थ अज्ञानरूपी आताप नष्ट करनेको चन्द्रमा समान है, जिनके चरणोंको इन्द्र, नरेन्द्र, आदि सभी नमस्कार करते हैं, जो ज्ञानके समुद्र और साधुओंके शिरोमणि हैं।

९-रेवती रानीकी कथा।

संसारका हित करनेवाले जिनभगवानको परम भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अमूढदृष्टि अंगका पालन करनेवाली रेवती रानीकी कथा लिखता हूं।

विजयार्धपर्वतकी दक्षिणश्रेणीमें मेघ-कूट नामका एक सुन्दर शहर है। उसके राजा हैं चन्द्र-

भम। चंद्रप्रभने बहुत दिनोंतक सुखके साथ अपना राज्य किया। एक दिन वे बैठे हुए थे कि एकाएक उन्हें तीर्थयात्रा करनेकी इच्छा हुई। राज्यका कारोबार अपने चन्द्रशेखर नामके पुत्रको सौंपकर वे तीर्थयात्राके लिये चल दिये। वे यात्रा करते हुए दक्षिणमथुरामें आये। उन्हें पुण्यसे वहाँ गुप्ताचार्यके दर्शन हुए। आचार्यसे चन्द्रप्रभने धर्मोपदेश सुना। उनके उपदेशका उनपर बहुत असर पड़ा। वे आचार्यके द्वारा—

प्रोक्तः परोपकारोऽत्र महापुण्याय भूतले।

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—परोपकार करना महान् पुण्यका कारण है, यह जानकर और तीर्थयात्रा करनेके लिये एक विद्याको अपने अधिकारमें रखकर क्षुल्लक बन गये।

एक दिन उनकी इच्छा उत्तरमथुराकी यात्रा करनेकी हुई। जब वे जानेको तैयार हुए तब उन्होंने अपने गुरु महाराजसे पूछा—हे दयाके समुद्र, मैं यात्राके लिये जा रहा हूं, क्या आपको कुछ समाचार तो किसीके लिये नहीं कहना है? गुप्ताचार्य बोले—मथुरामें एक सूरत नामके बड़े ज्ञानी और गुणी मुनिराज हैं, उन्हें मेरा नमस्कार कहना और सम्यग्दृष्टिनी धर्मात्मा रेवतीके लिये मेरी धर्मवृद्धि कहना।

क्षुल्लकने और पूछा कि इसके सिवा और भी आपको कुछ कहना है क्या? आचार्यने कहा नहीं। तब क्षुल्लकने विचारा कि क्या कारण है जो आचार्यने एकादशांगके ज्ञाता श्रीभव्यसेन मुनि तथा और और मुनियोंको रहते

उन्हें कुछ नहीं कहा और केवल सूरतमुनि और रेवतीके लिये ही नमस्कार किया तथा धर्मवृद्धि दी? इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। अस्तु। जो कुछ होगा वह आगे स्वयं मालूम हो जायगा। यह सोचकर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक वहांसे चल दिये। उत्तरमथुरा पहुँचकर उन्होंने सूरत मुनिको गुप्ताचार्यकी वन्दना कह सुनाई। उससे सूरतमुनि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने चन्द्रप्रभके साथ खूब वात्सल्यका परिचय दिया। उससे चन्द्रप्रभको बड़ी खुशी हुई। बहुत ठीक कहा है–

ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः।
साधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले॥
[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—संसारमें उन्हींका जन्म लेना सफल है जो धर्मात्माओंसे वात्सल्य–प्रेम करते हैं।

इसके बाद क्षुल्लक चन्द्रप्रभ एकादशांगके ज्ञाता, पर नाममात्रके भव्यसेन मुनिके पास गये। उन्होंने भव्यसेनको नमस्कार किया। पर भव्यसेन मुनिने अभिमानमें आकर चन्द्रप्रभको धर्मवृद्धितक भी न दी। ऐसे अभिमानको धिक्कार है! जिन अविचारी पुरुषोंके वचनोंमें भी दरिद्रता है–जो वचनोंसे भी प्रेमपूर्वक आये हुए अतिथिसे नहीं बोलते–वे उनका और क्या सत्कार करेंगे? उनसे तो स्वप्नमें भी अतिथिसत्कार नहीं बन सकेगा। जैन शास्त्रोंका ज्ञान सब दोषोंसे रहित है–निर्दोष है। उसे प्राप्त कर हृदय पवित्र होना ही चाहिये। पर खेद है कि उसे पाकर भी मान

होता है। पर यह शास्त्रका दोष नहीं, किन्तु यों कहना चाहिये कि पापियोंके लिये अमृत भी विष हो जाता है। जो हो, तब भी देखना चाहिये कि इनमें कुछ भी भव्यपना है भी, या ये केवल नाम मात्रके ही भव्य हैं? यह विचार कर दूसरे दिन सवेरे जब भव्यसेन कमण्डलु लेकर शौचके लिये चले तब उनके पीछे पीछे चन्द्रप्रभ क्षुल्लक भी हो लिये। आगे चलकर क्षुल्लक महाशयने अपने विद्याबलसे भव्यसेनके आगेकी भूमिको कोमल और हरे हरे तृणोंसे युक्त कर दिया। भव्यसेन उसकी कुछ परवा न कर और यह विचार कर, कि जैनशास्त्रोंमें तो इन्हें एकेन्द्री कहा है, इनकी हिंसाका विशेष पाप नहीं होता, उसपरसे निकल गये। आगे चलकर जब वे शौच हो लिये और शुद्धिके लिये कमण्डलुकी ओर देखा तो उसमें जल नहीं और वह औंधा पड़ा हुआ है, तब तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। इतनेमें एकाएक क्षुल्लक महाशय भी उधर आ निकले। कमण्डलुका जल यद्यपि क्षुल्लकजीने ही अपने विद्याबलसे सुखा दिया था, तब भी वे बड़े आश्चर्यके साथ भव्यसेनसे बोले—मुनिराज, पास ही एक निर्मल जलका सरोवर भरा हुआ है, वहीं जाकर शुद्धि कर लीजिये न? भव्यसेनने अपने पदस्थपर, अपने कर्त्तव्यपर कुछ भी ध्यान न देकर जैसा क्षुल्लकने कहा, वैसा ही कर लिया। सच बात तो यह है—

किं करोति न मूढात्मा कार्यं मिथ्यात्वदूषितः।
न स्यान्मुक्तिप्रदं ज्ञानं चरित्रं दुर्दशामपि।
उद्गतो भास्करश्चापि किं घूकस्य सुखायते॥

मिथ्यादृष्टेः श्रुतं शास्त्रं कुमार्गाय प्रवर्तते ।
यथा मृष्टं भवेत्कटुं सुदुग्धं तुम्बिकागतम् ॥
[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—मूर्ख पुरुष मिथ्यात्वके वश होकर कौन बुरा काम नहीं करते? मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान और चारित्र मोक्षका कारण नहीं होता। जैसे सूर्यके उदयसे उल्लूको कभी सुख नहीं होता। मिथ्यादृष्टियोंका शास्त्र सुनना, शास्त्राभ्यास करना केवल कुमार्गमें प्रवृत्त होनेका कारण है। जैसे मीठा दूध भी तूंबड़ीके सम्बन्धसे कड़वा हो जाता है। इन सब बातोंको विचारकर क्षुल्लकने भव्यसेनके आचरणसे समझ लिया कि ये नाम मात्रके जैनी हैं, पर वास्तवमें इन्हें जैनधर्मपर श्रद्धान नहीं—ये मिथ्यात्वी हैं। उस दिनसे चन्द्रप्रभने भव्यसेनका नाम अभव्यसेन रक्खा। सच बात है—दुराचारसे क्या नहीं होता?

क्षुल्लकने भव्यसेनकी परीक्षा कर अब रेवती रानीकी परीक्षा करनेका विचार किया। दूसरे दिन उसने अपने विद्यावलसे कमलपर बैठे हुए और वेदोंका उपदेश करते हुए चतुर्मुख ब्रह्माका वेष बनाया और शहरसे पूर्व दिशाकी ओर कुछ दूरीपर जंगलमें वह ठहरा। यह हाल सुनकर राजा, भव्यसेन-आदि सभी वहां गये और ब्रह्माजीको उन्होंने नमस्कार किया। उनके पावों पड़ कर वे बड़े खुश हुए। राजाने चलते समय अपनी प्रिया रेवतीसे भी ब्रह्माजीकी वन्दनाके लिये चलनेको कहा था, पर रेवती सम्यक्त्व रत्नसे भूषित थी, जिनभगवानकी अनन्यभक्त थी; इसलिये वह नहीं गई। उसने राजासे कहा—महाराज, मोक्ष और

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका प्राप्त करानेवाला सच्चा ब्रह्मा जिनशासनमें आदिजिनेन्द्र कहा गया है, उसके सिवा अन्य ब्रह्मा हो ही नहीं सकता और जिस ब्रह्माकी वन्दनाके लिये आप जा रहे हैं, वह ब्रह्मा नहीं है; किन्तु कोई धूर्त ठगानेके लिये ब्रह्माका वेष लेकर आया है। मैं तो नहीं चलूंगी।

दूसरे दिन क्षुल्लकने गरुड़पर बैठे हुए, चतुर्बाहु, शंख, चक्र, गदा—आदिसे युक्त और दैत्योंको कँपानेवाले वैष्णव भगवानका वेष बनाकर दक्षिण दिशामें अपना डेरा जमाया।

तीसरे दिन उस बुद्धिमान् क्षुल्लकने बैलपर बैठे हुए, पार्वतीके मुखकमलको देखते हुए, सिरपर जटा रखाये हुए, गणपति युक्त और जिन्हें हजारों देव आ आकर नमस्कार कर रहे हैं, ऐसा शिवका वेष धारणकर पश्चिम दिशाकी शोभा बढ़ाई।

चौथे दिन उसने अपनी मायासे सुन्दर समवसरणमें विराजे हुए, आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित, मिथ्यादृष्टियोंके मानको नष्ट करनेवाले मानस्तंभादिसे युक्त, निर्ग्रन्थ और जिन्हें हजारों देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आ आकर नमस्कार करते हैं, ऐसा संसार श्रेष्ठ तीर्थंकरका वेष बनाकर पूर्व दिशाको अलंकृत किया। तीर्थंकर भगवानका आगमन सुनकर सबको बहुत आनन्द हुआ। सब प्रसन्न होते हुए भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना करनेको गये। राजा, भव्यसेन आदि भी उनमें शामिल थे। तीर्थंकर भगवानके दर्शनोंके लिये भी रेवतीरानीको न जाती हुई देखकर सबको बड़ा आश्चर्य

हुआ। बहुतोंने उससे चलनेके लिये आग्रह भी किया, पर वह न गई। कारण वह सम्यक्त्वरूप मौलिक रत्नसे भूषित थी-उसे जिनभगवानके वचनोंपर पूरा विश्वास था कि तीर्थंकर परम देव चौवीस ही होते हैं, और वासुदेव नौ और रुद्र ग्यारा होते हैं। फिर उनकी संख्याको तोड़नेवाले ये दशवें वासुदेव, बारहवें रुद्र और पचीसवें तीर्थंकर आ कहाँसे सकते हैं? वे तो अपने अपने कर्मोंके अनुसार जहाँ उन्हें जाना था वहाँ चले गये। फिर यह नई सृष्टि कैसी? इनमें न तो कोई सच्चा रुद्र है, न वासुदेव है, और न तीर्थंकर है; किन्तु कोई मायावी ऐन्द्रजालिक अपनी धूर्ततासे लोगोंको ठगानेके लिये आया है। यह विचार कर रेवती रानी तीर्थंकरकी वन्दनाके लिये भी नहीं गई। सच है-कहीं वायुसे मेरु पर्वत भी चला है?

इसके बाद चन्द्रप्रभ, क्षुल्लक-वेषहीमें, पर अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे युक्त तथा अत्यन्त मलिन शरीर होकर रेवतीके घर भिक्षाके लिये पहुँचे। आँगनमें पहुँचते ही वे मूर्छा खाकर पृथ्वीपर धड़ामसे गिर पड़े। उन्हें देखते ही धर्मवत्सला रेवती रानी हाय हाय कहती हुई उनके पास दौड़ी गई और बड़ी भक्ति और विनयसे उसने उन्हें उठाकर सचेत किया। इसके बाद अपने महलमें लिवा जाकर बड़े कोमल और पवित्र भावोंसे उसने उन्हें प्रासुक आहार कराया। सच है-जो दयावान होते हैं उनकी बुद्धि दान देनेमें स्वभावहीसे तत्पर रहती है।

क्षुल्लकको अबतक भी रेवतीकी परीक्षासे सन्तोष नहीं हुआ। सो उन्होंने भोजन करनेके साथ ही वमन कर दिया,

जिसमें अत्यन्त दुर्गन्ध आ रही थी। क्षुल्लककी यह हालत देखकर रेवतीको बहुत दुःख हुआ। उसने बहुत पश्चात्ताप किया कि न जाने क्या अपथ्य मुझ पापिनीके द्वारा दे दिया गया, जिससे इनकी यह हालत हो गई। मेरी इस असावधानताको धिक्कार है। इस प्रकार बहुत कुछ पश्चात्ताप करके उसने क्षुल्लकका शरीर पोंछा और बाद कुछ कुछ गरम जलसे उसे धोकर साफ किया।

क्षुल्लक रेवतीकी भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हुए। वे अपनी माया समेटकर बड़ी खुशीके साथ रेवतीसे बोले-देवी, संसारश्रेष्ठ मेरे परम गुरु महाराज गुप्ताचार्यकी धर्मवृद्धि तेरे मनको पवित्र करे, जो कि सब सिद्धियोंकी देनेवाली है और तुम्हारे नामसे मैंने यात्रामें जहाँ जहाँ जिनभगवानकी पूजा की है वह भी तुम्हें कल्याणकी देनेवाली हो।

देवी, तुमने जिस संसारश्रेष्ठ और संसार-समुद्रसे पार करनेवाले अमूढदृष्टि अंगको ग्रहण किया है, उसकी मैंने नाना तरहसे परीक्षा की, पर उसमें तुम्हें अचल पाया। तुम्हारे इस त्रिलोकपूज्य सम्यक्त्वकी कौन प्रशंसा करनेको समर्थ है? कोई नहीं। इस प्रकार गुणवती रेवती रानीकी प्रशंसा कर और उसे सब हाल कहकर क्षुल्लक अपने स्थान चले गये।

इसके बाद वरुण नृपति और रेवती रानीका बहुत समय सुखके साथ बीता। एक दिन राजाको किसी कारणसे वैराग्य हो गया। वे अपने शिवकीर्ति नामक पुत्रको राज्य सौंपकर और सब मायाजाल तोड़कर तपस्वी बन

गये। साधु बनकर उन्होंने खूब तपश्चर्या की और आयुके अन्तमें समाधिमरण कर वे माहेन्द्रस्वर्गमें जाकर देव हुए।

जिनभगवानकी परम भक्त महारानी रेवती भी जिनदीक्षा ग्रहण कर और शक्तिके अनुसार तपश्चर्या कर आयुके अन्तमें ब्रह्मस्वर्गमें जाकर महर्द्धिक देव हुई।

भव्य पुरुषो, यदि तुम भी स्वर्ग या मोक्ष-सुखको चाहते हो, तो जिस तरह श्रीमती रेवती रानीने मिथ्यात्व छोड़ा उसी तरह तुम भी मिथ्यात्वको छोड़कर स्वर्ग-मोक्षके देनेवाले, अत्यन्त पवित्र और बड़े बड़े देव, विद्याधर, राजा महाराजाओंसे भक्तिपूर्वक ग्रहण किये हुए जैनधर्मका आश्रय स्वीकार करो।

१०–जिनेन्द्रभक्तकी कथा।

र्ग-मोक्षके देनेवाले श्रीजिनभगवानको नमस्कार कर मैं जिनेन्द्रभक्तकी कथा लिखता हूं, जिन्होंने कि सम्यग्दर्शनके उपगूहन अंगका पालन किया था।

नेमिनाथ भगवानके जन्मसे पवित्र और दयालु पुरुषोंसे परिपूर्ण सौराष्ट्र देशके अन्तर्गत एक पाटलिपुत्र नामका शहर था। जिस समयकी यह कथा है, उस समय उसके राजा यशोध्वज थे। उनकी रानीका नाम सुसीमा था। वह बड़ी सुन्दरी थी। उसके एक पुत्र था। उसका नाम था सुवीर। बेचारी सुसीमाके पापके उदयसे वह महा व्यसनी

और चोर हुआ। सच तो यह है-जिन्हें आगे कुयोनियोंके दुःख भोगना होता है, उनका न तो अच्छे कुलमें जन्म लेना काम आता है और न ऐसे पुत्रोंसे बेचारे मातापिताको कभी सुख होता है।

गौड़देशके अन्तर्गत ताम्रलिप्ता नामकी एक पुरी है। उसमें एक सेठ रहते हैं। उनका नाम है जिनेन्द्रभक्त। जैसा उनका नाम है वैसे ही वे जिनभगवानके भक्त हैं भी। जिनेन्द्रभक्त सच्चे सम्यग्दृष्टि थे और अपने श्रावक धर्मका बराबर सदा पालन करते थे। उन्होंने बड़े बड़े विशाल जिनमन्दिर बनवाये, बहुतसे जीर्ण मन्दिरोंका उद्धार किया, जिनप्रतिमायें बनवाकर उनकी प्रतिष्ठा करवाई और चारों संघोंको खूब दान दिया, खूब उनका सत्कार किया।

सम्यग्दृष्टि शिरोमणि जिनेन्द्रभक्तका महल सात मंजला था। उसकी अन्तिम मंजिलपर एक बहुत ही सुन्दर जिन चैत्यालय था। चैत्यालयमें श्रीपार्श्वनाथ भगवानकी बहुत मनोहर और रत्नमयी प्रतिमा थी। उसपर तीन छत्र, जो कि रत्नोंके बने हुए थे, बड़ी शोभा दे रहे थे। उन छत्रोंपर एक वैडूर्यमणि नामका अत्यन्त कान्तिमान बहुमूल्य रत्न लगा हुआ था। इस रत्नका हाल सुवीरने सुना। उसने अपने साथियोंको बुलाकर कहा-सुनते हो, जिनेन्द्रभक्त सेठके चैत्यालयमें प्रतिमापर लगे हुए छत्रोंमें एक रत्न लगा हुआ है, वह अमोल है। क्या तुम लोगोंमेंसे कोई उसे ला सकता है? सुनकर उनमेंसे एक सूर्यक नामका चोर बोला, यह तो एक अत्यन्त साधारण बात है। पर यदि वह रत्न

इन्द्रके सिरपर भी होता, तो मैं उसे क्षणभरमें ला सकता था। यह सच भी है कि जो जितने ही दुराचारी होते हैं वे उतना ही पापकर्म भी कर सकते हैं।

सूर्यकके लिये रत्न लानेकी आज्ञा हुई। वहांसे आकर उसने मायावी क्षुल्लकका वेष धारण किया। क्षुल्लक बनकर वह व्रत उपवासादि करने लगा। उससे उसका शरीर बहुत दुबला पतला हो गया। इसके बाद वह अनेक शहरों और ग्रामोंमें घूमता हुआ और लोगोंको अपने कपटी वेषसे ठगता हुआ कुछ दिनोंमें तामलिप्ता पुरीमें आ पहुँचा। जिनेन्द्रभक्त सच्चे धर्मात्मा थे, इसलिये उन्हें धर्मात्माओंको देखकर बड़ा प्रेम होता था। उन्होंने जब इस धूर्त क्षुल्लकका आगमन सुना तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उसी समय घरका सब कामकाज छोड़कर क्षुल्लक महाराजकी वन्दना करनेके लिये गये। उसे तपश्चर्यासे क्षीण शरीर देखकर उनकी उसपर और अधिक श्रद्धा हुई। उन्होंने भक्तिके साथ क्षुल्लकको प्रणाम किया और बाद वे उसे अपने महल लिवा लाये। सच बात यह है कि—

> अहो धूर्तस्य धूर्तत्वं लक्ष्यते केन भूतले।
> यस्य प्रपंचतो गाढं विद्वान्सश्चापि वंचिताः॥
>
> [ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—जिनकी धूर्ततासे अच्छे अच्छे विद्वान् भी जब ठगा जाते हैं, तब बेचारे साधारण पुरुषोंकी क्या मजाल जो वे उनकी धूर्तताका पता पा सकें।

क्षुल्लकजीने चैत्यालयमें पहुँच कर जब उस मणिको देखा तो उनका हृदय आनन्दके मारे बाँसों उछलने लगा। वे बहुत

सन्तुष्ट हुए। जैसे सुनार अपने पास कोई रकम बनवानेके लिये लाये हुए पुरुषके पासका सोना देखकर प्रसन्न होता है। क्योंकि उसकी नियत सदा चोरीकी ओर ही लगी रहती है।

जिनेन्द्रभक्तको उसके मायाचारका कुछ पता नहीं लगा। इसलिये उन्होंने उसे बड़ा धर्मात्मा समझ कर और मायाचारीसे क्षुल्लकके मना करनेपर भी जबरन अपने जिनालयकी रक्षाके लिये उसे नियुक्त कर दिया और आप उससे पूछकर समुद्रयात्रा करनेके लिये चल पड़े।

जिनेन्द्रभक्तके घर बाहर होते ही क्षुल्लकजीकी बन पड़ी। आधी रातके समय आप उस तेजस्वी रत्नको कपड़ोंमें छुपाकर घर बाहर हो गये। पर पापियोंका पाप कभी नहीं छुपता। यही कारण था कि रत्न लेकर भागते हुए उसे सिपाहियोंने देख लिया। वे उसे पकड़नेको दौड़े। क्षुल्लकजी दुबले पतले तो पहलेहीसे हो रहे थे, इसलिये वे अपनेको भागनेमें असक्त समझ लाचार होकर जिनेन्द्रभक्तकी ही शरणमें गये और प्रभो, बचाइये! बचाइये! यह कहते हुए उनके पावोंमें गिर पड़े। जिनेन्द्रभक्तने, "चोर भागा जाता है! इसे पकड़ना" ऐसा हल्ला सुन करके जान लिया कि यह चोर है और क्षुल्लक वेषमें लोगोंको ठगता फिरता है। यह जानकर भी दर्शनकी निन्दाके भयसे जिनेन्द्रभक्तने क्षुल्लकके पकड़नेको आये हुए सिपाहियोंसे कहा—आप लोग बड़े कम समझ हैं! आपने बहुत बुरा किया जो एक तपस्वीको चोर बतला दिया। रत्न तो ये मेरे कहनेसे लाये हैं। आप नहीं जानते कि ये बड़े सच्चरित्र साधु हैं? अस्तु।

आगेसे ध्यान रखियें। जिनेन्द्रभक्तके वचनोंको सुनते ही सब सिपाही लोग ठंडे पड़ गये और उन्हें नमस्कार कर चलते बने।

जब सब सिपाही चले गये तब जिनेन्द्रभक्तने क्षुल्लक-जीसे रत्न लेकर एकान्तमें उनसे कहा—बड़े दुःखकी बात है कि तुम ऐसे पवित्र वेषको धारण कर उसे ऐसे नीच कर्मोंसे लजा रहे हो? तुम्हें यही उचित है क्या? याद रक्खो, ऐसे अनर्थोंसे तुम्हें कुगतियोंमें अनन्त काल दुःख भोगना पड़ेंगे। शास्त्रकारोंने पापी पुरुषोंके लिये लिखा है कि—

ये कृत्वा पातकं पापाः पोषयन्ति स्वकं भुवि।
त्यक्त्वा न्यायक्रमं तेषां महादुःखं भवार्णवे॥

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—जो पापी लोग न्यायमार्गको छोड़कर और पापके द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, वे संसारसमुद्रमें अनन्त काल दुःख भोगते हैं। ध्यान रक्खो कि अनीतिसे चलनेवाले, और अत्यन्त तृष्णावान तुम सरीखे पापी लोग बहुत ही जल्दी नाशको प्राप्त होते हैं। तुम्हें उचित है—तुम बड़ी कठिनतासे प्राप्त हुए इस मनुष्य जन्मको इस तरह बर्बाद न कर कुछ आत्महित करो। इस प्रकार शिक्षा देकर जिनेन्द्रभक्तने अपने स्थानसे उसे अलग कर दिया।

इसी प्रकार और भी भव्य पुरुषोंको, दुर्जनोंके मलिन कर्मोंसे निन्दाको प्राप्त होनेवाले सम्यग्दर्शनकी रक्षा करनी उचित है।

जिनभगवानका शासन पवित्र है—निर्दोष है, उसे जो सदोष बनानेकी कोशिश करते हैं, वे मूर्ख हैं, उन्मत्त

हैं। ठीक भी है—उन्हें वह निर्दोष धर्म अच्छा जान भी नहीं पड़ता। जैसे पित्तज्वरवालेको अमृतके समान मीठा दूध भी कड़वा ही लगता है।

११—वारिषेण मुनिकी कथा।

मैं संसारपूज्य जिनभगवानको नमस्कार कर श्रीवारिषेण मुनिकी कथा लिखता हूँ, जिन्होंने सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण नामक अंगका पालन किया है।

अपनी सम्पदासे स्वर्गको नीचा दिखानेवाले मगधदेशके अन्तर्गत राजगृह नामका एक सुन्दर शहर है। उसके राजा हैं श्रेणिक। वे सम्यग्दृष्टि हैं, उदार हैं और राजनीतिके अच्छे विद्वान् हैं। उनकी महारानीका नाम चेलनी है। वह भी सम्यक्त्वरूपी अमोल रत्नसे भूषित है, बड़ी धर्मात्मा है, सती है और विदुषी है। उसके एक पुत्र है। उसका नाम है वारिषेण। वारिषेण बहुत गुणी है, धर्मात्मा है और श्रावक है।

एक दिन मगधसुन्दरी नामकी एक वेश्या राजगृहके उपवनमें क्रीड़ा करनेको आई हुई थी। उसने वहाँ श्रीकीर्ति नामक सेठके गलेमें एक बहुत ही सुन्दर रत्नोंका हार पड़ा हुआ देखा। उसे देखते ही मगधसुन्दरी उसके लिये लालायित हो उठी। उसे हारके बिना अपना जीवन निरर्थक जान पड़ने लगा। सारा संसार उसे हारमय दिखने लगा। वह उदास मुँह घरपर लौट आई। रातके

समय उसका प्रेमी विद्युतचोर जब घरपर आया तब उसने मगधसुन्दरीको उदास मुहँ देखकर बड़े प्रेमसे पूछा-प्रिये, आज मैं तुम्हें उदास देखता हूं; क्या इसका कारण तुम बतलाओगी ? तुम्हारी यह उदासी मुझे अत्यन्त दुखी कर रही है।

मगधसुन्दरीने विद्युतपर कटाक्षबाण चलाते हुए कहा- प्राणवल्लभ, तुम मुझपर इतना प्रेम करते हो, पर मुझे तो जान पड़ता है कि यह सब तुम्हारा दिखाऊ प्रेम है। और सचमुच ही तुम्हारा यदि मुझपर प्रेम है तो कृपाकर श्रीकीर्ति-सेठके गलेका हार, जिसे कि आज मैंने बगीचेमें देखा है और जो बहुत ही सुन्दर है, लाकर मुझे दीजिये; जिससे मेरी इच्छा पूरी हो। तब ही मैं समझूंगी कि आप मुझसे सच्चा प्रेम करते हैं और तब ही मेरे प्राणवल्लभ होनेके अधिकारी हो सकेंगे।

मगधसुन्दरीके जालमें फँसकर उसे इस कठिन कार्यके लिये भी तैयार होना पड़ा। वह उसे सन्तोष देकर उसी समय वहाँसे चल दिया और श्रीकीर्ति सेठके महलपर पहुँचा। वहाँसे वह श्रीकीर्तिके शयनागारमें गया और अपनी कार्यकुशलतासे उसके गलेमेंसे हार निकाल लिया और बड़ी फुर्तिके साथ वहाँसे चल दिया। हारके दिव्य तेजको वह नहीं छुपा सका। सो भागते हुए उसे सिपाहियोंने देख लिया। वे उसे पकड़नेको दौड़े। वह भागता हुआ श्मशानकी ओर निकल आया। वारिषेण इस समय श्मशानमें कार्यो-त्सर्ग ध्यान कर रहा था। सो विद्युत चोर मौका देखकर

पीछे आनेवाले सिपाहियोंके पंजेसे छूटनेके लिये उस हारको वारिषेणके आगे पटक कर वहांसे भाग खड़ा हुआ। इतनेमें सिपाही भी वहीं आ पहुंचे, जहां वारिषेण ध्यान किये खड़ा हुआ था। वे वारिषेणको हारके पास खड़ा देख-कर भौंचकसे रह गये। वे उसे इस अवस्थामें देखकर हँसे और बोले—वाह, चाल तो खूब खेली गई! मानों मैं कुछ जानता ही नहीं। मुझे धर्मात्मा जानकर सिपाही छोड़ जायँगे। पर याद रखिये हम अपने मालिककी सच्ची नौकरी खाते हैं। हम तुम्हें कभी नहीं छोड़ेंगे। यह कह कर वे वारिषेणको बांधकर श्रेणिकके पास ले गये और राजासे बोले—महाराज, ये हार चुरा कर लिये जाते थे, सो हमने इन्हें पकड़ लिया।

सुनते ही श्रेणिकका चेहरा क्रोधके मारे लाल सुर्ख हो गया, उनके ओठ कांपने लगे, आँखोंसे क्रोधकी ज्वालायें निक-लने लगीं। उन्होंने गर्जकर कहा—देखो, इस पापीका नीच कर्म जो श्मशानमें जाकर ध्यान करता है और लोगोंको, यह बतलाकर कि मैं बड़ा धर्मात्मा हूं, ठगता है—धोखा देता है। पापी! कुल-कलंक! देखा मैंने तेरा धर्मका ढोंग! सच है—दुराचारी, लोगोंको धोखा देनेके लिये क्या क्या अनर्थ नहीं करते? जिसे मैं राज्यसिंहासन बैठाकर संसारका अधीश्वर बनाना चाहता था, मैं नहीं जानता था कि वह इतना नीच होगा? इससे बढ़कर और क्या कष्ट हो सकता है? अच्छा तो जो इतना दुराचारी है और प्रजाको धोखा देकर ठगता है उसका जीना रहना सिवा हानिके लाभदायक नहीं हो सकता। इसलिये जाओ इसे लेजाकर मार डालो।

अपने खास पुत्रके लिये महाराजकी ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सब चित्र लिखसे होकर महाराजकी ओर देखने लगे। सबकी आँखोंमें पानी भर आया। पर किसकी मजाल जो उनकी आज्ञाका प्रतिवाद कर सके। जल्लाद लोग उसी समय वारिषेणको वध्यभूमिमें ले गये। उनमेंसे एकने तलवार खींचकर बड़े जोरसे वारिषेणकी गर्दनपर मारी, पर यह क्या आश्चर्य ? जो उसकी गर्दनपर बिलकुल घाव नहीं हुआ; किन्तु वारिषेणको उलटा यह जान पड़ा—मानो किसीने उसपर फूलोंकी माला फैंकी है। जल्लाद लोग देखकर दांतोंमें अंगुली दबा गये। वारिषेणके पुण्यने उसकी रक्षा की। सच है—

अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं याति भूतले।
समुद्रः स्थलतामेति दुर्विषं च सुधायते॥
शत्रुर्मित्रत्वमाप्नोति विपत्तिः सम्पदायते।
तस्मात्सुखैषिणो भव्याः पुण्यं कुर्वन्तु निर्मलम्॥

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—पुण्यके उदयसे अग्नि जल बन जाता है, समुद्र स्थल हो जाता है, विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है और विपत्ति सम्पत्तिके रूपमें परिणत हो जाती है। इसलिये जो लोग सुख चाहते हैं, उन्हें पवित्र कार्यों द्वारा सदा पुण्य उत्पन्न करना चाहिये।

जिनभगवानकी पूजा करना, दान देना, व्रत उपवास करना, सदा विचार पवित्र और शुद्ध रखना, परोपकार करना, हिंसा, झूठ, चोरी—आदि पापकर्मोंका न करना, ये पुण्य उत्पन्न करनेके कारण हैं।

वारिषेणकी यह हालत देखकर सब उसकी जयजयकार करने लगे । देवोंने प्रसन्न होकर उसपर सुगंधित फूलोंकी वर्षा की । नगरवासियोंको इस समाचारसे बड़ा आनन्द हुआ । सबने एक स्वरसे कहा कि, वारिषेण तुम धन्य हो, तुम वास्तवमें साधु पुरुष हो, तुम्हारा चारित्र बहुत निर्मल है, तुम जिनभगवानके सच्चे सेवक हो, तुम पवित्र पुरुष हो, तुम जैनधर्मके सच्चे पालन करनेवाले हो । पुण्य-पुरुष, तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है । सच है-पुण्यसे क्या नहीं होता ?

श्रेणिकने जब इस अलौकिक घटनाका हाल सुना तो उन्हें भी अपने अविचारपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ । वे दुखी होकर बोले—

ये कुर्वन्ति जडात्मानः कार्यं लोकेऽविचार्य च ।
ते सीदन्ति महन्तोपि मादृशा दुःखसागरे ॥

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्-जो मूर्ख लोग आवेशमें आकर विना विचारे किसी कामको कर बैठते हैं, वे फिर बड़े भी क्यों न हों, उन्हें मेरी तरह दुःख ही उठाना पड़ते हैं । इसलिये चाहे कैसा ही काम क्यों न हो, उसे बड़े विचारके साथ करना चाहिये ।

श्रेणिक बहुत कुछ पश्चात्ताप करके पुत्रके पास श्मशानमें आये । वारिषेणकी पुण्यमूर्तिको देखते ही उनका हृदय पुत्र-प्रेमसे भर आया । उनकी आँखोंसे आंसु बह निकले । उन्होंने पुत्रको छातीसे लगाकर रोते रोते कहा-प्यारे पुत्र,

मेरी मूर्खताको क्षमा करो! मैं क्रोधके मारे अन्धा बन गया था; इसलिये आगे पीछेका कुछ सोच विचार न कर मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया। पुत्र, पश्चात्तापसे मेरा हृदय जल रहा है, उसे अपने क्षमारूप जलसे बुझाओ! दुःखके समुद्रमें मैं गोते खा रहा हूं, मुझे सहारा देकर निकालो!

अपने पूज्य पिताकी यह हालत देखकर वारिषेणको बड़ा कष्ट हुआ। वह बोला–पिताजी, आप यह क्या कहते हैं? आप अपराधी कैसे? आपने तो अपने कर्त्तव्यका पालन किया है और कर्त्तव्य पालन करना कोई अपराध नहीं है। मान लीजिये कि यदि आप पुत्र-प्रेमके वश होकर मेरे लिये ऐसे दंडकी आज्ञा न देते, तो उससे प्रजा क्या समझती? चाहे मैं अपराधी नहीं भी था, तब भी क्या प्रजा इस बातको देखती? वह तो यही समझती कि आपने मुझे अपना पुत्र जानकर छोड़ दिया। पिताजी, आपने बहुत ही बुद्धिमानी और दूरदर्शिताका काम किया है। आपकी नीतिपरायणता देखकर मेरा हृदय आनन्दके समुद्रमें लहरें ले रहा है। आपने पवित्र वंशकी आज लाज रख ली। यदि आप ऐसे समयमें अपने कर्त्तव्यसे जरा भी खिसक जाते, तो सदाके लिये अपने कुलमें कलंकका टीका लग जाता। इसके लिये तो आपको प्रसन्न होना चाहिये न कि दुखी। हाँ इतना जरूर हुआ कि मेरे इस समय पापकर्मका उदय था; इसलिये मैं निरपराधी होकर भी अपराधी बना। पर इसका मुझे कुछ खेद नहीं। क्योंकि–

अवश्यं ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।

[वादीभसिंह.]

अर्थात्-जो जैसा कर्म करता है उसका शुभ या अशुभ फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। फिर मेरे लिये कर्मोंका फल भोगना कोई नई बात नहीं है।

पुत्रके ऐसे उन्नत और उदार विचार सुनकर श्रेणिक बहुत आनन्दित हुए। वे सब दुःख भूल गये। उन्होंने कहा, पुत्र, सत्पुरुषोंने बहुत ठीक लिखा है-

चंदनं घृष्यमाणं च दह्यमानो यथाऽगुरुः।
न याति विक्रियां साधुः पीडितो पि तथाऽपरैः॥

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्-चन्दनको कितना भी घिसिये, अगुरुको खूब जलाइये, उससे उनका कुछ न बिगड़कर उलटा उनमेंसे अधिक अधिक सुगन्ध निकलेगी। उसी तरह सत्पुरुषोंको दुष्ट लोग कितना ही सतावें-कितना ही कष्ट दें, पर वे उससे कुछ भी विकारको प्राप्त नहीं होते-सदा शान्त रहते हैं और अपनी बुराई करनेवालेका भी उपकार ही करते हैं।

वारिषेणके पुण्यका प्रभाव देखकर विद्युतचोरको बड़ा भय हुआ। उसने सोचा कि राजाको मेरा हाल मालूम हो जानेसे वे मुझे बहुत कड़ी सजा देंगे। इससे यही अच्छा है कि मैं स्वयं ही जाकर उनसे सब सच्चा सच्चा हाल कह दूं। ऐसा करनेसे वे मुझे क्षमा भी कर सकेंगे। यह विचार कर विद्युतचोर महाराजके सामने जा खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर उनसे बोला-प्रभो, यह सब पापकर्म मेरा है। पवित्रात्मा वारिषेण सर्वथा निर्दोष है। पापिनी वेश्याके जालमें फँसकर ही मैंने यह नीच काम किया था; पर आजसे मैं कभी ऐसा काम नहीं करूंगा। मुझे दया करके क्षमा कीजिये।

विद्युतचोरको अपने कृतकर्मके पश्चात्तापसे दुखी देख श्रेणिक उसे अभय देकर अपने प्रिय पुत्र वारिषेणसे बोले- पुत्र, अब राजधानीमें चलो, तुम्हारी माता तुम्हारे वियोगसे वहुत दुखी हो रही होंगी।

उत्तरमें वारिषेणने कहा-पिताजी, मुझे क्षमा कीजिये। मैंने संसारकी लीला देख ली। मेरा आत्मा उसमें और प्रवेश करनेके लिये मुझे रोकता है। इसलिये मैं अब घरपर न जाकर जिनभगवानके चरणोंका आश्रय ग्रहण करूंगा। सुनिये, अबसे मेरा कर्तव्य होगा कि मैं हाथहीमें भोजन करूंगा, सदा वनमें रहूंगा और मुनि मार्गपर चलकर अपना आत्महित करूंगा। मुझे अब संसारमें पैठनकी इच्छा नहीं, विषयवासनासे प्रेम नहीं। मुझे संसार दुःखमय जान पड़ता है, इसलिये मैं जान बूझकर अपनेको दुःखोंमें फँसाना नहीं चाहता। क्योंकि—

निजे पाणौ दीपे लसति भुवि कूपे निपततां
फलं किं तेन स्यादिति—

[जीवंधर चम्पू]

अर्थात्-हाथमें प्रदीप लेकर भी यदि कोई कूएमें गिरना चाहे, तो बतलाइये उस दीपकसे क्या लाभ? जब मुझे दो अक्षरोंका ज्ञान है और संसारकी लीलासे मैं अपरिचित नहीं हूं; इतना होकर भी फिर मैं यदि उसमें फसूँ, तो मुझसा मूर्ख और कौन होगा? इसलिये आप मुझे क्षमा कीजिये कि मैं आपकी पालनीय आज्ञाका भी बाध्य होकर विरोध कर रहा हूं। यह कहकर वारिषेण फिर एक मिनटके लिये भी

न ठहर कर वनकी ओर चल दिया और श्रीसुरदेवमुनिके पास जाकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण करली।

तपस्वी बनकर वारिषेणमुनि बड़ी दृढ़ताके साथ चारित्रका पालन करने लगे। वे अनेक देशों विदेशोंमें घूम घूम कर धर्मोपदेश करते हुए एकबार पलाशकूट नामक शहरमें पहुँचे। वहाँ श्रेणिकका मंत्री अग्निभूति रहता था। उसका एक पुष्पडाल नामका पुत्र था। वह बहुत धर्मात्मा था और दान, व्रत, पूजा आदि सत्कर्मोंके करनेमें सदा तत्पर रहा करता था। वह वारिषेणमुनिको भिक्षार्थ आये हुए देखकर बड़ी प्रसन्नताके साथ उनके साम्हने गया और भक्तिपूर्वक उनका आव्हान कर उसने नवधा भक्तिसहित उन्हें प्रासुक आहार दिया। आहार करके जब वारिषेणमुनि वनमें जाने लगे तब पुष्पडाल भी, कुछ तो भक्तिसे, कुछ बालपनेकी मित्रताके नातेसे और कुछ राजपुत्र होनेके लिहाजसे, उन्हें थोड़ी दूर पहुँचा आनेके लिये अपनी स्त्रीसे पूछकर उनके पीछे पीछे चल दिया। वह दूरतक जानेकी इच्छा न रहने भी मुनिके साथ साथ चलता गया। क्योंकि उसे विश्वास था कि थोड़ी दूर गये बाद ये मुझे लौट जानेके लिये कहेंगे ही। पर मुनिने उसे कुछ नहीं कहा, तब उसकी चिन्ता बढ़ गई। उसने मुनिको यह समझानेके लिये, कि मैं शहरसे बहुत दूर निकल आया हूँ, मुझे घरपर जल्दी लौट जाना है, कहा—कुमार, देखते हैं यह वही सरोवर है, जहाँ हम आप खेला करते थे; यह वही छायादार और उन्नत आमका वृक्ष है, जिसके नीचे आप हम

बाललीलाका सुख लेते थे; और देखो, यह वही विशाल भूभाग है, जहाँ मैंने और आपने बालपनमें अनेक खेल खेले थे। इत्यादि अपने पूर्व परिचित चिन्होंको बार बार दिखलाकर पुष्पडालने मुनिका ध्यान अपने दूर निकल आनेकी ओर आकर्षित करना चाहा, पर मुनि उसके हृदयकी बात जानकर भी उसे लौट जानेको न कह सके। कारण वैसा करना उनका मार्ग नहीं था। इसके विपरीत उन्होंने पुष्पडालके कल्याणकी इच्छासे उसे खूब वैराग्यका उपदेश देकर मुनिदीक्षा देदी। पुष्पडाल मुनि हो गया, संयमका पालन करने लगा और खूब शास्त्रोंका अभ्यास करने लगा; पर तब भी उसकी विषयवासना न मिटी–उसे अपनी स्त्रीकी बार बार याद आने लगी। आचार्य कहते

[illegible] ऽङ्भोगान्यैस्तु वंचितः।
सन्मार्गेऽपि स्थिता [illegible] जानाति निजं हितम्॥
(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्–[illegible] उन भोगोंको धिक्कार है, जिनके वश होकर [illegible] नेवाले भी अपना हित नहीं कर पाते। यही हाल [illegible] हुआ, जो मुनि होकर भी वह अपनी स्त्रीको हृदयसे [illegible] सका।

इसी तरह पुष्पडालको बारह वर्ष [illegible] गये। उसकी तपश्चर्या सार्थक होनेके लिये गुरुने उसे ती[illegible] करनेकी आज्ञा दी और उसके साथ वे भी चले। यात्रा [illegible] करते एक दिन वे भगवान् वर्धमानके समवसरणमें [illegible] गये। भगवान्को उन्होंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। [illegible] समय

वहाँ गंधर्वदेव भगवान्की भक्ति कर रहे थे। उन्होंने आपकी निन्दामें एक पद्य पढ़ा। वह पद्य यह था—

मइलकुचेली दुम्मणी णाहे पवसियएण।
कह जीवेसइ धणियघर उज्झन्ते विरहेण॥

(संस्कृत)

अर्थात्—स्त्री चाहे मैली हो, कुचैली हो, हृदयकी मलिन हो, पर वह भी अपने पतिके प्रवासी होनेपर—विदेशमें रहनेपर—नहीं जीकर पतिवियोगसे वन वन, पर्वतों पर्वतोंमें मारी मारी फिरती है। अर्थात्—कामके वश होकर नहीं करनेके काम भी कर डालती है।

उक्त पद्यको सुनते ही पुष्पडालमुनि भी कामसे पीड़ित होकर अपनी स्त्रीकी प्राप्तिके लिये अधीर हो उठे। वे व्रतसे उदासीन होकर अपने शहरकी ओर रवाना हुए। उनके हृदयकी बात जानकर वारिषेणमुनि भी उन्हें धर्ममें दृढ़ करनेके लिये उनके साथ साथ चल दिये।

गुरु और शिष्य अपने शहरमें पहुँचे। उन्हें देखकर सती चेलनाने सोचा—कि जान पड़ता है, पुत्र चारित्रसे चलायमान हुआ है। नहीं तो ऐसे समय इसके यहां आनेकी क्या आवश्यकता थी? यह विचार कर उसने उनकी परीक्षाके लिये उसके बैठनेको दो आसन दिये। उनमें एक काष्ठका था और दूसरा रत्नजड़ित। वारिषेणमुनि रत्नजड़ित आसनपर न बैठकर काष्ठके आसनपर बैठे। सच है—जो सच्चे मुनि होते हैं वे कभी ऐसा तप नहीं करते जिससे उनके आचरणमें किसीको सन्देह हो। इसके बाद वारिषेण

मुनिने अपनी माताके सन्देहको दूर करके उससे कहा-माता, कुछ समयके लिये मेरी सब स्त्रियोंको यहाँ बुलवा तो लीजिये। महारानीने वैसा ही किया। वारिषेणकी सब स्त्रियाँ खूब वस्त्राभूषणोंसे सजकर उनके साम्हने आ उपस्थित हुईं। वे बड़ी सुन्दरी थीं। देवकन्यायें भी उनके रूपको देखकर लज्जित होती थीं। मुनिको नमस्कार कर वे सब उनकी आज्ञाकी प्रतिक्षाके लिये खड़ी रहीं।

वारिषेणने तब अपने शिष्य पुष्पडालसे कहा-क्यों देखते हो न? ये मेरी स्त्रियाँ हैं, यह राज्य है, यह सम्पत्ति है, यदि तुम्हें ये अच्छी जान पड़ती हैं-तुम्हारा संसारसे प्रेम है, तो इन्हें तुम स्वीकार करो। वारिषेणमुनिराजका यह आश्चर्यमें डालनेवाला कर्त्तव्य देखकर पुष्पडाल बड़ा लज्जित हुआ। उसे अपनी मूर्खतापर बहुत खेद हुआ। वह मुनिके चरणोंको नमस्कार कर बोला-प्रभो, आप धन्य हैं, आपने लोभरूपी पिशाचको नष्ट कर दिया है, आपहीने जिनधर्मका सच्चा सार समझा है। संसारमें वे ही बड़े पुरुष हैं-महात्मा हैं, जो आपके समान संसारकी सब सम्पत्तिको लात मारकर वैरागी बनते हैं। उन महात्माओंके लिये फिर कौन वस्तु संसारमें दुर्लभ रह जाती है? दयासागर, मैं तो सचमुच जन्मान्ध हूं, इसीलिये तो मौलिक तपरत्नको प्राप्तकर भी अपनी स्त्रीको चित्तसे अलग नहीं कर सका। प्रभो, जहाँ आपने बारह वर्ष पर्यन्त खूब तपश्चर्या की वहाँ मुझ पापीने इतने दिन व्यर्थ गँवा दिये-सिवा आत्माको कष्ट पहुँचानेके कुछ नहीं किया। स्वामी, मैं बहुत

अपराधी हूँ, इसलिये दया करके मुझे अपने पापका प्राय-श्चित्त देकर पवित्र कीजिये। पुष्पडालके भावोंका परिवर्तन और कृतकर्मके पश्चात्तापसे उनके परिणामोंकी कोमलता तथा पवित्रता देखकर वारिषेणमुनिराज बोले—धीर, इतने दुखी न बनिये। पापकर्मोंके उदयसे कभी कभी अच्छे अच्छे विद्वान् भी हतबुद्धि हो जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। यही अच्छा हुआ जो तुम पीछे अपने मार्गपर आ गये। इसके बाद उन्होंने पुष्पडालमुनिको उचित प्राय-श्चित्त देकर पीछा धर्ममें स्थिर किया—अज्ञानके कारण सम्य-ग्दर्शनसे विचलित देखकर उनका धर्ममें स्थितिकरण किया।

पुष्पडालमुनि गुरु महाराजकी कृपासे अपने हृदयको शुद्ध बनाकर बड़े वैराग्यभावोंसे कठिन कठिन तपश्चर्या करने लगे, भूख प्यासकी कुछ परवा न कर परीषह सहने लगे।

इसी प्रकार अज्ञान वा मोहसे कोई धर्मात्मा पुरुष धर्म-रूपी पर्वतसे गिरता हो, तो उसे सहारा देकर न गिरने देना चाहिये। जो धर्मज्ञ पुरुष इस पवित्र स्थितिकरण अंगका पालन करते हैं, समझो कि वे स्वर्ग और मोक्ष-सुखके देने-वाले धर्मरूपी वृक्षको सींचते हैं। शरीर, सम्पत्ति, कुटुम्ब-आदि अस्थिर हैं—विनाशीक हैं, इनकी रक्षा भी जब कभी कभी सुख देनेवाली हो जाती है तब अनन्तसुख देनेवाले धर्मकी रक्षाका कितना महत्त्व होगा, यह सहजमें जाना जा सकता है। इसलिये धर्मात्माओंको उचित है कि वे दुःख देनेवाले प्रमादको छोड़कर संसार-समुद्रसे पार करनेवाले पवित्र धर्मका सेवन करें।

श्रीवारिषेणमुनि, जो कि सदा जिनभगवान्की भक्तिमें लीन रहते हैं, तप पर्वतसे गिरते हुए पुष्पडालमुनिको हाथका सहारा देकर तपश्चर्या और ध्यानाध्ययन करनेके लिये वनमें चले गये, वे प्रसिद्ध महात्मा आत्मसुख प्रदान कर मुझे भी संसार-समुद्रसे पार करें।

१२—विष्णुकुमारमुनिकी कथा।

अनन्त सुख प्रदान करनेवाले जिनभगवान्, जिनवानी और जैन साधुओंको नमस्कार कर मैं वात्सल्यांगके पालन करनेवाले श्री विष्णुकुमार मुनिराजकी कथा लिखता हूं।

अवन्तिदेशके अन्तर्गत उज्जयिनी बहुत सुन्दर और प्रसिद्ध नगरी है। जिस समयका यह उपाख्यान है, उस समय उसके राजा श्रीवर्मा थे। वे बड़े धर्मात्मा थे, सब शास्त्रोंके अच्छे विद्वान् थे, विचारशील थे और अच्छे शूरवीर थे। वे दुराचारियोंको उचित दण्ड देते और प्रजाका नीतिके साथ पालन करते। सुतरां प्रजा उनकी बड़ी भक्त थी।

उनकी महारानीका नाम था श्रीमती। वह भी विदुपी थी। उस समयकी स्त्रियोंमें वह प्रधान सुन्दरी समझी जाती थी। उसका हृदय बड़ा दयालु था। वह जिसे दुखी देखती, फिर उसका दुःख दूर करनेके लिये जी जानसे प्रयत्न करती। महारानीको सारी प्रजा देवी ज्ञान करती थी।

श्रीवर्माके राजमंत्री चार थे। उनके नाम थे बलि, बृहस्पति, प्रल्हाद और नमुचि। ये चारों ही धर्मके कट्टर शत्रु थे। इन पापी मंत्रियोंसे युक्त राजा ऐसे जान पड़ते थे मानो जहरीले सर्पसे युक्त जैसे चन्दनका वृक्ष हो।

एक दिन ज्ञानी अकम्पनाचार्य देश विदेशोंमें पर्यटन कर भव्य पुरुषोंको धर्मरूपी अमृतसे सुखी करते हुए उज्जयि-नीमें आये। उनके साथ सातसौ मुनियोंका बड़ा भारी संघ था। वे शहर बाहर एक पवित्र स्थानमें ठहरे। अकम्प-नाचार्यको निमित्तज्ञानसे उज्जयिनीकी स्थिति अनिष्टकर जान पड़ी। इसलिये उन्होंने सारे संघसे कह दिया कि देखो, राजा, वगैरह कोई आवे पर आप लोग उनसे वादविवाद न कीजियेगा। नहीं तो सारा संघ बड़े कष्टमें पड़ जायगा—उसपर घोर उपसर्ग आवेगा। गुरुकी हितकर आज्ञाको स्वीकार कर सब मुनि मौनके साथ ध्यान करने लगे। सच है—

> शिष्यास्तेत्र प्रशस्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः।
> प्रीतितो विनयोपेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत्॥
>
> (ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—शिष्य वे ही प्रशंसाके पात्र हैं, जो विनय और प्रेमके साथ अपने गुरुकी आज्ञाका पालन करते हैं। उनसे विपरीत चलनेवाले कुपुत्रके समान निन्दाके पात्र हैं।

अकम्पनाचार्यके आनेके समाचार शहरके लोगोंको मालूम हुए। वे पूजाद्रव्य लेकर बड़ी भक्तिके साथ आचा-र्यकी वन्दनाको जाने लगे। आज एकाएक अपने शहरमें

आनन्दकी धूमधाम देखकर महलपर बैठे हुए श्रीवर्माने मंत्रियोंसे पूछा–ये सब लोग आज ऐसे सजधजकर कहाँ जा रहे हैं? उत्तरमें मंत्रियोंने कहा–महाराज, सुना जाता है कि अपने शहरमें नंगे जैनसाधु आये हुए हैं। ये सब उनकी पूजाके लिये जा रहे हैं। राजाने प्रसन्नताके साथ कहा–तब तो हमें भी चलकर उनके दर्शन करना चाहिये। वे महापुरुष होंगे! यह विचार कर राजा भी मंत्रियोंके साथ आचार्यके दर्शन करनेको गये। उन्हें आत्मध्यानमें लीन देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने क्रमसे एक एक मुनिको भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। सब मुनि अपने आचार्यकी आज्ञानुसार मौन रहे। किसीने भी उन्हे धर्मवृद्धि नहीं दी। राजा उनकी वन्दना कर वापिस महल लौट चले। लौटते समय मंत्रियोंने उनसे कहा–महाराज, देखे साधुओंको? बेचारे बोलना तक भी नहीं जानते, सब नितान्त मूर्ख हैं। यही तो कारण है कि सब मौनी बने बैठे हुए हैं। उन्हें देखकर सर्व साधारण तो यह समझेंगे कि ये सब आत्मध्यान कर रहे हैं, बड़े तपस्वी हैं। पर यह इनका ढोंग है। अपनी सब पोल न खुल जाय, इसलिये उन्होंने लोगोंको धोखा देनेको यह कपटजाल रचा है। महाराज, ये दाम्भिक हैं। इस प्रकार त्रैलोक्यपूज्य और परम शान्त मुनिराजोंकी निन्दा करते हुए ये मलिन-हृदयी मंत्री राजाके साथ लौटे आ रहे थे कि रास्तेमें इन्हें एक मुनि मिल गये, जो कि शहरसे आहार करके वनकी ओर आ रहे थे। मुनिको देखकर इन पापियोंने उनकी हँसी की, कि महाराज, देखिये वह एक

बैल और पेटभरकर चला आ रहा है! मुनिने मंत्रियोंके निन्दा-वचनोंको सुन लिया। सुनकर भी उनका कर्तव्य था कि वे शान्त रह जाते, पर वे निन्दा न सह सके। कारण वे आहारके लिये शहरमें चले गये थे, इसलिये उन्हें अपने आचार्य महाराजकी आज्ञा मालूम न थी। मुनिने यह समझ कर, कि इन्हें अपनी विद्याका बड़ा अभिमान है, इसे मैं चूर्ण करूंगा, कहा—तुम व्यर्थ क्यों किसीकी बुराई करते हो? यदि तुममें कुछ विद्या हो, आत्मबल हो, तो मुझसे शास्त्रार्थ करो! फिर तुम्हें जान पड़ेगा कि बैल कौन है? भला वे भी तो राजमंत्री थे, उसपर भी दुष्टता उनके हृदयमें कूट कूटकर भरी हुई थी; फिर वे कैसे एक अकिंचन्य साधुके वचनोंको सह सकते थे? उन्होंने मुनिके साथ शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। अभिमानमें आकर उन्होंने कह तो दिया कि हम शास्त्रार्थ करेंगे, पर जब शास्त्रार्थ हुआ तब उन्हें जान पड़ा कि शास्त्रार्थ करना बच्चोंकासा खेल नहीं है। एक ही मुनिने अपने स्याद्वादके बलसे बातकी बातमें चारों मंत्रियोंको पराजित कर दिया। सच है—एक ही सूर्य सारे संसारके अन्धकारको नष्ट करनेके लिये समर्थ है।

विजय लाभकर: श्रुतसागरमुनि अपने आचार्यके पास आये। उन्होंने रास्तेकी सब घटना आचार्यसे ज्योंकी त्यों कह सुनाई। सुनकर आचार्य खेदके साथ बोले—हाय! तुमने बहुत ही बुरा किया, जो उनसे शास्त्रार्थ किया। तुमने अपने हाथोंसे सारे संघका घात किया—संघकी अब कुशल नहीं है। अस्तु, जो हुआ, अब यदि तुम सारे संघकी

जीवनरक्षा चाहते हो, तो पीछे जाओ और जहाँ मंत्रियोंके साथ शास्त्रार्थ हुआ है, वहीं जाकर कायोत्सर्ग ध्यान करो। आचार्यकी आज्ञाको सुनकर श्रुतसागरमुनिराज जरा भी विचलित नहीं हुए। वे संघकी रक्षाके लिये उसी समय वहांसे चल दिये और शास्त्रार्थकी जगहपर आकर मेरुकी तरह निश्चल हो बड़े धैर्यके साथ कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे।

शास्त्रार्थमें मुनिसे पराजित होकर मंत्री बड़े लज्जित हुए। अपने मानभंगका बदला चुकानेका विचार कर मुनिवधके लिये रात्रिके समय वे चारों शहरसे बाहर हुए। रास्तेमें उन्हें श्रुतसागरमुनि ध्यान करते हुए मिले। पहले उन्होंने अपना मानभंग करनेवालेहीको परलोक पहुँचा देना चाहा। उन्होंने मुनिकी गर्दन काटनेको अपनी तलवारको म्यानसे खींचा और एक ही साथ उनका काम तमाम करनेके विचारसे उनपर वार करना चाहा कि, इतनेमें मुनिके पुण्यप्रभावसे पुरदेवीने आकर उन्हें तलवार उठाये हुए ही कील दिये।

प्रातःकाल होते ही बिजलीकी तरह सारे शहरमें मंत्रियोंकी दुष्टताका हाल फैल गया। सब शहर उनके देखनेको आया। राजा भी आये। सबने एक स्वरसे उन्हें धिक्कारा। है भी तो ठीक, जो पापी लोग निरापराधोंको कष्ट पहुँचाते हैं वे इस लोकमें भी घोर दुःख उठाते हैं और परलोकमें नरकोंके असह्य दुःख सहते हैं। राजाने उन्हें बहुत धिक्कार कर कहा–पापियो, जब तुमने मेरे सामने इन निर्दोष और संसारमात्रका उपकार करनेवाले मुनियोंकी

निन्दा की थी, तब मैं तुम्हारे विश्वासपर निर्भर रहकर यह समझा था कि संभव है मुनि लोग ऐसे ही हों. पर आज मुझे तुम्हारी नीचताका ज्ञान हुआ–तुम्हारे पापी हृदयका पता लगा। तुम इन्हीं निर्दोष साधुओंकी हत्या करनको आये थे न? पापियो, तुम्हारा मुख देखना भी महापाप है। तुम्हें तुम्हारे इस घोर कर्मका उपयुक्त दंड तो यही देना चाहिये था कि जैसा तुम करना चाहते थे, वही तुम्हारे लिये किया जाता। पर पापियो, तुम ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए हो और तुम्हारी कितनी ही पीढ़ियां मेरे यहाँ मंत्रीपदपर प्रतिष्ठा पा चुकी हैं; इसलिये उसके लिहाजसे तुम्हें अभय देकर अपने नौकरोंको आज्ञा करता हूं कि वे तुम्हें गधोंपर बैठाकर मेरे देशकी सीमासे बाहर करदें। राजाकी आज्ञाका उसी समय पालन हुआ। चारों मंत्री देशसे निकाल दिये गये। सच है–पापियोंकी ऐसी दशा होना उचित ही है।

धर्मके ऐसे प्रभावको देखकर लोगोंके आनन्दका ठिकाना न रहा। वे अपने हृदयमें बढ़ते हुए हर्षके वेगको रोकनेमें समर्थ नहीं हुए। उन्होंने जयध्वनिके मारे आकाशपातालको एक कर दिया। मुनिसंघका उपद्रव टला। सबके चित्त स्थिर हुए। अकम्पनाचार्य भी उज्जयिनीसे विहार कर गये।

हस्तिनापुर नामका एक शहर है। उसके राजा हैं महापद्म। उनकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था। उसके पद्म और विष्णु नामके दो पुत्र हुए।

एक दिन राजा संसारकी दशापर विचार कर रहे थे। उसकी अनित्यता और निस्सारता देखकर उन्हें बहुत वै-

राज्य हुआ। उन्हें संसार दुःखमय दिखने लगा। वे उसी समय अपने बड़े पुत्र पद्मको राज्य देकर अपने छोटे पुत्र विष्णुकुमारके साथ वनमें चले गये और श्रुतसागरमुनिके पास पहुँचकर दोनों पितापुत्रने दीक्षा ग्रहण करली। विष्णुकुमार बालपनसे ही संसारसे विरक्त थे। इसलिये पिताके रोकनेपर भी वे दीक्षित हो गये। विष्णुकुमारमुनि साधु बनकर खूब तपश्चर्या करने लगे। कुछ दिनों बाद तपश्चर्याके प्रभावसे उन्हें विक्रियाऋद्धि प्राप्त हो गई।

पिताके दीक्षित हो जानेपर हस्तिनापुरका राज्य पद्मराज करने लगे। उन्हें सब कुछ सुख होनेपर भी एक बातका बड़ा दुःख था। वह यह कि, कुंभपुरका राजा सिंहबल उन्हें बड़ा कष्ट पहुंचाया करता था। उनके देशमें अनेक उपद्रव किया करता था। उसके अधिकारमें एक बड़ा भारी सुदृढ़ किला था। इसलिये वह पद्मराजकी प्रजापर एकाएक धावा मारकर अपने किलेमें जाकर छुप रहता। तब पद्मराज उसका कुछ अनिष्ट नहीं कर पाते थे। इस कष्टकी उन्हें सदा चिन्ता रहा करती थी।

इसी समय श्रीवर्माके चारों मंत्री उज्जयिनीसे निकलकर कुछ दिनों बाद हस्तिनापुरकी ओर आ निकले। उन्हें किसी तरह राजाके इस दुःखका सूत्र मालूम हो गया। वे राजासे मिले और उन्हें चिन्तासे निर्मुक्त करनेका वचन देकर कुछ सेनाके साथ सिंहबलपर जा चढ़े और अपनी बुद्धिमानीसे किलेको तोड़कर सिंहबलको उन्होंने बांध लिया और लाकर पद्मराजके साम्हने उपस्थित कर दिया। पद्मराज

उनकी वीरता और बुद्धिमानीसे बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उन्हें अपने मंत्री बनाकर कहा—कि तुमने मेरा बहुत उपकार किया है। तुम्हारा मैं बहुत कृतज्ञ हूं। यद्यपि उसका प्रतिफल नहीं दिया जा सकता, तब भी तुम जो कहो वह मैं तुम्हें देनेको तयार हूं। उत्तरमें बलि नामके मंत्रीने कहा—प्रभो, आपकी हमपर कृपा है, तो हमें सब कुछ मिल चुका। इसपर भी आपका आग्रह है, तो उसे हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते। अभी हमें कुछ आवश्यकता नहीं है। जब समय होगा तब आपसे प्रार्थना करेंगे ही।

इसी समय श्रीअकम्पनाचार्य अनेक देशोंमें विहार करते हुए और धर्मोपदेश द्वारा संसारके जीवोंका हित करते हुए हस्तिनापुरके बगीचेमें आकर ठहरे। सब लोग उत्सवके साथ उनकी वन्दना करनेको गये। अकम्पनाचार्यके आनेका समाचार राजमंत्रियोंको मालूम हुआ। मालूम होते ही उन्हें अपने अपमानकी बात याद हो आई। उनका हृदय प्रतिहिंसासे उद्विग्न हो उठा। उन्होंने परस्परमें विचार किया कि समय बहुत उपयुक्त है, इसलिये बदला लेना ही चाहिये। देखो न, इन्हीं दुष्टोंके द्वारा अपनेको कितना दुःख उठाना पड़ा था? सबके हम धिक्कार पात्र बने और अपमानके साथ देशसे निकाले गये। पर हां अपने मार्गमें एक कांटा है। राजा इनका बड़ा भक्त है। वह अपने रहते हुए इनका अनिष्ट कैसे होने देगा? इसके लिये कुछ उपाय सोच निकालना आवश्यक है। नहीं तो ऐसा न हो कि ऐसा अच्छा समय हाथसे निकल जाय?

इतनेमें बलि मंत्री बोल उठा कि, हाँ इसकी आप चिन्ता न करें। अपना सिंहबलके पकड़ लानेका पुरस्कार राजासे पाना बाकी है, उसकी ऐवजमें उससे सात दिनका राज्य ले लेना चाहिये। फिर जैसा हम करेंगे वही होगा। राजाको उसमें दखल देनेका कुछ अधिकार न रहेगा। यह प्रयत्न सबको सर्वोत्तम जान पड़ा। बलि उसी समय राजाके पास पहुँचा और बड़ी विनीततासे बोला–महाराज, आपपर हमारा एक पुरस्कार पाना है। आप कृपाकर अब उसे दीजिये। इस समय उससे हमारा बड़ा उपकार होगा। राजा उसका कूट कपट न समझ और यह विचार कर, कि इन लोगोंने मेरा बड़ा उपकार किया था, अब उसका बदला चुकाना मेरा कर्त्तव्य है, बोला–बहुत अच्छा, जो तुम्हें चाहिये वह माँगलो, मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके तुम्हारे ऋणसे उऋण होनेका यत्न करूंगा।

बलि बोला–महाराज, यदि आप वास्तवमें ही हमारा हित चाहते हैं, तो कृपा करके सात दिनके लिये अपना राज्य हमें प्रदान कीजिये।

राजा सुनते ही अवाक् रह गया। उसे किसी बड़े भारी अनर्थकी आशंका हुई। पर अब उसका वश ही क्या था? उसे वचनवद्ध होकर राज्य दे देना ही पड़ा। राज्यके प्राप्त होते ही उनकी प्रसन्नताका कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने मुनियोंके मारनेके लिये यज्ञका बहाना बनाकर षड्यंत्र रचा, जिससे कि सर्वसाधारण न समझ सकें।

मुनियोंके बीचमें रखकर यज्ञके लिये एक बड़ा भारी मंडप तैयार किया गया। उनके चारों ओर काष्ठ ही काष्ठ रखवा दिया गया। हजारों पशु इकट्ठे किये गये। यज्ञ आरंभ हुआ। वेदोंके जानकार बड़े बड़े विद्वान यज्ञ कराने लगे। वेदध्वनिसे यज्ञमंडप गूँजने लगा। बेचारे निरपराध पशु बड़ी निर्दयतासे मारे जाने लगे। उनकी आहुतियां दी जाने लगीं। देखते देखते दुर्गन्धित धुएसे आकाश परिपूर्ण हुआ। मानो इस महापापको न देख सकनेके कारण सूर्य अस्त हुआ। मनुष्योंके हाथसे राज्य राक्षसोंके हाथोंमें गया।

सारे मुनिसंघपर भयंकर उपसर्ग हुआ। परन्तु उन शान्तिकी मूर्त्तियोंने इसे अपने किये कर्मोंका फल समझकर बड़ी धीरताके साथ सहना आरंभ किया। वे मेरु समान निश्चल रहकर एक चित्तसे परमात्माका ध्यान करने लगे। सच है–जिन्होंने अपने हृदयको खूब उन्नत और दृढ़ बना लिया है, जिनके हृदयमें निरन्तर यह भावना बनी रहती है—

अरि मित्र, महल मसान, कंचन काच, निन्दन थुतिकरन।
अर्घावतारन असिप्रहारनमें सदा समता धरन॥

वे क्या कभी ऐसे उपसर्गोंसे विचलित होते हैं? नहीं। पाण्डवोंको शत्रुओंने लोहेके गरम गरम भूषण पहना दिये। अग्निकी भयानक ज्वाला उनके शरीरको भस्म करने लगी। पर वे विचलित नहीं हुए। धैर्यके साथ उन्होंने सब उपसर्ग सहा। जैनसाधुओंका यही मार्ग है कि वे आये हुए कष्टोंको शान्तिसे सहें और वे ही यथार्थ साधु

हैं। जिनका हृदय दुर्वल है, जो रागद्वेषरूपी शत्रुओंको जीतनेके लिये ऐसे कष्ट नहीं सह सकते-दुःखोंके प्राप्त होनेपर समभाव नहीं रख सकते, वे न तो अपने आत्महितके मार्गमें आगे वढ़ पाते हैं और न वे साधुपद स्वीकार करने योग्य हो सकते हैं।

मिथिलामें श्रुतसागरमुनिको निमित्तज्ञानसे इस उपसर्गका हाल मालूम हुआ। उनके मुँहसे वड़े कष्टके साथ वचन निकले-हाय! हाय!! इस समय मुनियोंपर वड़ा उपसर्ग हो रहा है। वहीं एक पुष्पदन्त नामक क्षुल्लक भी उपस्थित थे। उन्होंने मुनिराजसे पूछा-प्रभो, यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है? उत्तरमें श्रुतसागरमुनि वोले-हस्तिनापुरमें सातसौ मुनियोंका संघ ठहरा हुआ है। उसके संरक्षक अकम्पनाचार्य हैं। उस सारे संघपर पापी वलिके द्वारा यह उपसर्ग किया जा रहा है।

क्षुल्लकने फिर पूछा-प्रभो, कोई ऐसा उपाय भी है, जिससे यह उपसर्ग दूर हो?

मुनिने कहा-हाँ उसका एक उपाय है। श्रीविष्णुकुमार मुनिको विक्रियाऋद्धि प्राप्त हो गई है। वे अपनी ऋद्धिके वलसे उपसर्गको रोक सकते हैं।

पुष्पदन्त फिर एक क्षणभर भी वहां न ठहरे और जहां विष्णुकुमार मुनि तपश्चर्या कर रहे थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर उन्होंने सव हाल विष्णुकुमार मुनिसे कह सुनाया। विष्णुकुमारको ऋद्धि प्राप्त होनेकी पहले खवर नहीं हुई थी। पर जव पुष्पदन्तके द्वारा उन्हें मालूम हुआ, तव उन्होंने परीक्षाके

लिये एक हाथ पसारकर देखा। पसारते ही उनका हाथ बहुत दूरतक चला गया। उन्हें विश्वास हुआ। वे उसी समय हस्तिनापुर आये और अपने भाईसे बोले—भाई, आप किस नींदमें सोते हुए हो? जानते हो, शहरमें कितना बड़ा भारी अनर्थ हो रहा है? अपने राज्यमें तुमने ऐसा अनर्थ क्यों होने दिया? क्या पहले किसीने भी अपने कुलमें ऐसा घोर अनर्थ आजतक किया है? हाय! धर्मके अवतार, परम शान्त और किसीसे कुछ लेने देने नहीं, उन मुनियोंपर यह अत्याचार? और वह भी तुम सरीखे धर्मात्माओंके राज्यमें? खेद! भाई, राजाओंका धर्म तो यह कहा गया है कि वे सज्जनोंकी, धर्मात्माओंकी रक्षा करें और दुष्टोंको दंड दें। पर आप तो बिल्कुल इससे उल्टा कर रहे हैं। समझते हो, साधुओंका सताना ठीक नहीं। ठंढा जल भी गरम होकर शरीरको जला डालता है। इसलिये जबतक कोई आपत्ति तुमपर न आवे, उसके पहले ही उपसर्गकी शान्ति करवा दीजिये।

अपने भाईका उपदेश सुनकर पद्मराज बोले—मुनिराज, मैं क्या करूं? मुझे क्या मालूम था कि ये पापी लोग मिलकर मुझे ऐसा धोखा देंगे? अब तो मैं बिल्कुल विवश हूं। मैं कुछ नहीं कर सकता। सात दिनतक जैसा कुछ ये करेंगे वह सब मुझे सहना होगा। क्योंकि मैं वचनबद्ध हो चुका हूं। अब तो आप ही किसी उपाय द्वारा मुनियोंका उपसर्ग दूर कीजिये। आप इसके लिये समर्थ भी हैं और सब जानते हैं। इसमें मेरा दखल देना तो ऐसा है जैसा सूर्यको दीपक

दिखलाना। आप अब जाइये और शीघ्रता कीजिये। विलम्ब करना उचित नहीं।

विष्णुकुमारमुनिने विक्रियाऋद्धिके प्रभावसे बावन ब्राह्मणका वेष बनाया और बड़ी मधुरतासे वेदध्वनिका उच्चारण करते हुए वे यज्ञमंडपमें पहुंचे। उनका सुन्दर स्वरूप और मनोहर वेदोच्चार सुनकर सब बड़े प्रसन्न हुए। बलि तो उनपर इतना मुग्ध हुआ कि उसके आनन्दका कुछ पार नहीं रहा। उसने बड़ी प्रसन्नतासे उनसे कहा—महाराज, आपने पधारकर मेरे यज्ञकी अपूर्व शोभा करदी। मैं बहुत खुश हुआ। आपको जो इच्छा हो, मांगिये। इस समय मैं सब कुछ देनेको समर्थ हूं।

विष्णुकुमार बोले—मैं एक गरीब ब्राह्मण हूं। मुझे अपनी जैसी कुछ स्थिति है, उसमें सन्तोष है। मुझे धन-दौलतकी कुछ आवश्यकता नहीं। पर आपका जब इतना आग्रह है, तो आपको असन्तुष्ट करना भी मैं नहीं चाहता। मुझे केवल तीन पैंड पृथ्वीकी आवश्यकता है। यदि आप कृपा करके उतनी भूमि मुझे प्रदान कर देंगे तो मैं उसमें टूटी फूटी झोंपड़ी बनाकर रह सकूंगा। स्थानकी निराकुलतासे मैं अपना समय वेदाध्ययनादिमें बड़ी अच्छी तरह बिता सकूंगा। बस, इसके सिवा मुझे और कुछ आशा नहीं है।

विष्णुकुमारकी यह तुच्छ याचना सुनकर और और ब्राह्मणोंको उनकी बुद्धिपर बड़ा खेद हुआ। उन्होंने कहा भी-कृपानाथ, आपको थोड़ेमें ही सन्तोष था, तब भी आपका यह कर्त्तव्य तो था कि आप बहुत कुछ माँगकर अपने जाति भाइयोंका ही उपकार करते? उसमें आपका बिगड़ क्या जाता था?

बलिने भी उन्हें बहुत समझाया और कहा कि आपने तो कुछ भी नहीं माँगा। मैं तो यह समझा था कि आप अपनी इच्छासे माँगते हैं, इसलिये जो कुछ माँगेंगे वह अच्छा ही माँगेंगे; परन्तु आपने तो मुझे बहुत ही हताश किया। यदि आप मेरे वैभव और मेरी शक्तिके अनुसार मागते तो मुझे बहुत सन्तोष होता। महाराज, अब भी आप चाहें तो और भी अपनी इच्छानुसार माँग सकते हैं। मैं देनेको प्रस्तुत हूं।

विष्णुकुमार बोले–नहीं, मैंने जो कुछ मांगा है, मेरे लिये वही बहुत है। अधिक मुझे चाह नहीं। आपको देना ही है तो और बहुतसे ब्राह्मण मौजूद हैं, उन्हें दीजिये। बलिने अगत्या कहा कि–जैसी आपकी इच्छा। आप अपने पाँवोंसे भूमि माप लीजिये। यह कहकर उसने हाथमें जल लिया और संकल्प कर उसे विष्णुकुमारके हाथमें छोड़ दिया। संकल्प छोड़ते ही उन्होंने पृथ्वी मापना शुरू की। पहला पाँव उन्होंने सुमेरु पर्वतपर रक्खा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वतपर, अब तीसरा पाँव रखनेको जगह नहीं। उसे वे कहाँ रक्खें? उनके इस प्रभावसे सारी पृथ्वी काँप उठी, सब पर्वत चल गये, समुद्रोंने मर्यादा तोड़ दी, देवों और ग्रहोंके–विमान एकसे एक टकराने लगे और देवगण आश्चर्यके मारे भौंचकसे रह गये। वे सब विष्णुकुमारके पास आये और बलिको बांधकर बोले–प्रभो, क्षमा कीजिये! क्षमा कीजिये!! यह सब दुष्कर्म इसी पापीका है। यह आपके सामने उपस्थित है। बलिने मुनिराजके पाँवोंमें गिरकर उनसे अपना अपराध क्षमा कराया और अपने दुष्कर्मपर बहुत पश्चात्ताप किया।

विष्णुकुमार मुनिने संघका उपद्रव दूर किया। सबको शान्ति हुई। राजा और चारों मंत्री तथा प्रजाके सब लोग बड़ी भक्तिके साथ अकम्पनाचार्यकी वन्दना करनेको गये। उनके पाँवोंमें पड़कर राजा और मंत्रियोंने अपना अपराध उनसे क्षमा कराया और उसी दिनसे मिथ्यात्वमत छोड़कर सब अहिंसामयी पवित्र जिनशासनके उपासक बने।

देवोंने प्रसन्न होकर विष्णुकुमारकी पूजनके लिये तीन बहुत ही सुन्दर स्वर्गीय वीणायें प्रदान कीं, जिनके द्वारा उनका गुणानुवाद गा गाकर लोग बहुत पुण्य उत्पन्न करेंगे। जैसा विष्णुकुमारने वात्सल्य अंगका पालनकर अपने धर्म बन्धुओंके साथ प्रेमका अपूर्व परिचय दिया, उसी प्रकार और और भव्य पुरुषोंको भी अपने और दूसरोंके हितके लिये समय समयपर दूसरोंके दुःखोंमें शामिल होकर वात्सल्य–उदारप्रेम–का परिचय देना उचित है।

इस प्रकार जिनभगवान्‌के परमभक्त विष्णुकुमारने धर्मप्रेमके वश हो मुनियोंका उपसर्ग दूरकर वात्सल्य अंगका पालन किया और पश्चात् ध्यानाग्नि द्वारा कर्मोंका नाश कर मोक्ष गये। वे ही विष्णुकुमार मुनिराज मुझे भवसमुद्रसे पारकर मोक्ष प्रदान करें।

१३-वज्रकुमारकी कथा।

संसारके परम गुरु श्रीजिनभगवान्को नमस्कार कर मैं प्रभावनांगके पालन करनेवाले श्रीवज्रकुमारमुनिकी कथा लिखता हूं।

जिस समयकी यह कथा है, उस समय हस्तिनापुरके राजा थे बल। वे राजनीतिके अच्छे विद्वान् थे, बड़े तेजस्वी थे और दयालु थे। उनके मंत्रीका नाम था गरुड़। उसका एक पुत्र था। उसका नाम सोमदत्त था। वह सब शास्त्रोंका विद्वान् था और सुन्दर भी बहुत था। उसे देखकर सबको बड़ा आनन्द होता था। एक दिन सोमदत्त अपने मामाके यहाँ गया, जो कि अहिछत्रपुरमें रहता था। उसने मामासे विनयपूर्वक कहा-मामाजी, यहाँके राजासे मिलनेकी मेरी बहुत उत्कंठा है। कृपाकर आप मेरी उनसे मुलाकात करवा दीजिये न? सुभूतिने अभिमानमें आकर अपने महाराजसे सोमदत्तकी मुलाकात नहीं कराई। सोमदत्तको मामाकी यह बात बहुत खटकी। आखिर वह स्वयं ही दुर्मुख महाराजके पास गया और मामाका अभिमान नष्ट करनेके लिये राजाको अपने पाण्डित्य और प्रतिभाशालिनी बुद्धिका परिचय कराकर स्वयं भी उनका राजमंत्री बन गया। ठीक भी है-सबको अपनी ही शक्ति सुख देनेवाली होती है।

सुभूतिको अपने भानजेका पाण्डित्य देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उसके साथ अपनी यज्ञदत्ता नामकी पुत्रीको ब्याह दिया। दोनों दम्पति सुखसे रहने लगे। कुछ दिनों बाद यज्ञदत्ताके गर्भ रहा।

समय चतुर्मासका था। यज्ञदत्ताको दोहद उत्पन्न हुआ। उसे आम खानेकी प्रबल उत्कण्ठा हुई। स्त्रियोंको स्वभावसे गर्भावस्थामें दोहद उत्पन्न हुआ ही करते हैं। सो आमका समय न होनेपर भी सोमदत्त वनमें आम ढूंढनेको चला। बुद्धिमान् पुरुष असमयमें भी अप्राप्त वस्तुके लिये साहस करते ही हैं। सोमदत्त वनमें पहुँचा, तो भाग्यसे उसे सारे बगीचेमें केवल एक आमका वृक्ष फला हुआ मिला। उसके नीचे एक परम महात्मा योगिराज बैठे हुए थे। उनसे वह वृक्ष ऐसा जान पड़ता था, मानो मूर्तिमान् धर्म है। सारे वनमें एक ही वृक्षको फला हुआ देखकर उसने समझ लिया कि यह मुनिराजका प्रभाव है। नहीं तो असमयमें आम कहाँ? वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उसपरसे बहुतसे फल तोड़कर अपनी प्रियाके पास पहुँचा दिये और आप मुनिराजको नमस्कार कर भक्तिसे उनके पाँवोंके पास बैठ गया। उसने हाथ जोड़कर मुनिसे पूछा—प्रभो, संसारमें सार क्या है? इस बातको आपके श्रीमुखसे सुननेकी मेरी बहुत उत्कण्ठा है। कृपाकर कहिये।

मुनिराज बोले—वत्स, संसारमें सार—आत्माको कुगतियोंसे बचाकर सुख देनेवाला, एक धर्म है। उसके दो भेद हैं, १—मुनिधर्म, २—श्रावक धर्म। मुनियोंका धर्म—अहिंसा,

सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग ऐसे पांच महाव्रत, तथा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप-आदि दश लक्षण धर्म और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसे तीन रत्नत्रय, पांच समिति, तीन गुप्ति, खड़े होकर आहार करना, स्नान न करना, सहन-शक्ति बढ़ानेके लिये सिरके बालोंका हाथोंसे ही लोच करना, वस्त्रका न रखना-आदि है। और श्रावक धर्म-बारह व्रतों-का पालन करना, भगवान्की पूजा करना, पात्रोंको दान देना और जितना अपनेसे बन सके दूसरोंका उपकार करना, किसीकी निन्दा बुराई न करना, शान्तिके साथ अपना जीवन बिताना-आदि है। मुनिधर्मका पालन सर्वदेश किया जाता है और श्रावक धर्मका एकदेश। जैसे अहिंसाव्रतका पालन मुनि तो सर्वदेश करेंगे। अर्थात्-स्थावर जीवोंकी भी हिंसा वे नहीं करेंगे और श्रावक इसी व्रतका पालन एकदेश अर्थात् स्थूल रूपसे करेगा। वह त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका त्याग करेगा और स्थावर जीव-वनस्पति आ-दिको अपने कामलायक उपयोगमें लाकर शेषकी रक्षा करेगा।

श्रावकधर्म परम्परा मोक्षका कारण है और मुनिधर्म-द्वारा उसी पर्यायसे भी मोक्ष जा सकता है। श्रावकको मु-निधर्म धारण करना ही पड़ता है। क्योंकि उसके बिना मोक्ष होता ही नहीं। जन्मजरामरणका दुःख बिना मुनिध-र्मके कभी नहीं छूटता। इसमें भी एक विशेषता है। वह यह कि-जितने मुनि होते हैं, वे सब मोक्षमें ही जाते होंगे ऐसा नहीं समझना चाहिये। उसमें परिणामोंपर सब बात निर्भर

है। जिसके जितने जितने परिणाम उन्नत होते जायँगे और राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ—आदि आत्मशत्रु नष्ट होकर अपने स्वभावकी प्राप्ति होती जायगी वह उतना ही अन्तिम साध्य मोक्षके पास पहुँचता जायगा। पर यह पूर्ण रीतिसे ध्यानमें रखना चाहिये कि मोक्ष होगा तो मुनिधर्म-हीसे।

इस प्रकार श्रावक और मुनिधर्म तथा उनकी विशेषतायें सुनकर सोमदत्तको मुनिधर्म ही बहुत पसन्द पड़ा। उसने अत्यन्त वैराग्यके वश होकर मुनिधर्मकी ही दीक्षा ग्रहण की, जो कि सब पापोंकी नाश करनेवाली है। साधु बनकर गुरुके पास उसने खूब शास्त्राभ्यास किया। सब शास्त्रोंमें उसने बहुत योग्यता प्राप्त करली। इसके बाद सोमदत्त मुनिराज नाभिगिरी नामक पर्वतपर जाकर तपश्चर्या करने लगे और परीषह सहन द्वारा अपनी आत्मशक्तिको बढ़ाने लगे।

इधर यज्ञदत्ताके समय पाकर पुत्र हुआ। उसकी दिव्य सुन्दरता और तेजको देखकर यज्ञदत्ता बड़ी प्रसन्न हुई। एक दिन उसे किसीके द्वारा अपने स्वामीके समाचार मिले। उसने वह हाल अपने और घरके लोगोंसे कहा और उनके पास चलनेके लिये उनसे आग्रह किया। उन्हें साथ लेकर यज्ञदत्ता नाभिगिरीपर पहुँची। मुनि इस समय तापसयोगसे अर्थात् सूर्यके सामने मुहँ किये ध्यान कर रहे थे। उन्हें मुनिवेषमें देखकर यज्ञदत्ताके क्रोधका कुछ ठिकाना नहीं रहा—उसने गर्जकर कहा—दुष्ट! पापी!! यदि तुझे ऐसा

करना था-मेरी जिन्दगी बिगाड़ना थी, तो पहलेहीसे मुझे न ब्याहता? बतला तो अब मैं किसके पास जाकर रहूँ? निर्दय! तुझे दया भी न आई जो मुझे निराश्रय छोड़कर तप करनेको यहां चला आया? अब इस बच्चेका पालन कौन करेगा? जरा कह तो सही! मुझसे इसका पालन नहीं होता। तू ही इसे लेकर पाल। यह कहकर निर्दयी यज्ञदत्ता वेचारे निर्दोष बालकको मुनिके पाँवोंमें पटक कर घर चली गई। उस पापिनीको अपने हृदयके टुकड़ेपर इतनी भी दया नहीं आई कि मैं सिंह, व्याघ्र, आदि हिंस्र जीवोंसे भरे हुए ऐसे भयंकर पर्वतपर उसे कैसे छोड़ी जाती हूं? उसकी कौन रक्षा करेगा? सच तो यह है-क्रोधके वश हो स्त्रियाँ क्या नहीं करतीं?

इधर तो यज्ञदत्ता पुत्रको मुनिके पास छोड़कर घरपर गई और इतनेहीमें दिवाकरदेव नामका एक विद्याधर इधर आ निकला। वह अमरावतीका राजा था। पर भाई भाईमें लड़ाई हो जानेसे उसके छोटे भाई पुरसुन्दरने उसे युद्धमें पराजित कर देशसे निकाल दिया था। सो वह अपनी स्त्रीको साथ लेकर तीर्थयात्राके लिये चल दिया। यात्रा करता हुआ वह नाभिपर्वतकी ओर आ निकला। पर्वतपर मुनिराजको देखकर उनकी वन्दनाके लिये नीचे उतरा। उसकी दृष्टि उस खेलते हुए तेजस्वी बालकके प्रसन्न मुखकमलपर पड़ी। बालकको भाग्यशाली समझकर उसने अपनी गोदमें उठा लिया और बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे अपनी प्रियाके सौंपकर कहा-प्रिये, यह कोई बड़ा पुण्यपुरुष है।

आज अपना जीवन कृतार्थ हुआ जो हमें अनायास ऐसे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई। उसकी स्त्री भी बच्चेको पाकर बहुत खुश हुई। उसने बड़े प्रेमके साथ उसे अपनी छातीसे लगाया और अपनेको कृतार्थ माना। बालक होन हार था। उसके हाथोंमें वज्रका चिह्न था। उसका सारा शरीर शुभ लक्षणोंसे विभूषित था। वज्रका चिह्न देखकर विद्याधरमहिलाने उसका नाम भी वज्रकुमार रख दिया। इसके बाद वे दम्पत्ति मुनिको प्रणाम कर अपने घरपर लौट आये। यज्ञदत्ता तो अपने औरस पुत्रको भी छोड़कर चली आई, पर जो भाग्यवान् होता है उसका कोई न कोई रक्षक बनकर आ ही जाता है। बहुत ठीक लिखा है---

प्रकृष्टपूर्वपुण्यानां न हि कष्टं जगत्त्रये।

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्--पुण्यवानोंको कहीं कष्ट प्राप्त नहीं होता। विद्याधरके घरपर पहुँच कर वज्रकुमार द्वितीयाके चन्द्रमाकी तरह बढ़ने लगा--और अपनी बाललीलाओंसे सबको आनन्द देने लगा। जो उसे देखता वही उसकी स्वर्गीय सुन्दरतापर मुग्ध हो उठता था।

दिवाकरदेवके सम्बन्धसे वज्रकुमारका मामा कनकपुरीका राजा विमलवाहन हुआ। अपने मामाके यहाँ रहकर वज्रकुमारने खूब शास्त्राभ्यास किया। छोटी ही उमरमें वह एक प्रसिद्ध विद्वान् बन गया। उसकी बुद्धिको देखकर विद्याधर बड़ा आश्चर्य करने लगे।

एक दिन वज्रकुमार हीमंतपर्वतपर प्रकृतिकी शोभा देख-नेको गया हुआ था। वहींपर एक गरुड़वेग विद्याधरकी पवनवेगा नामकी पुत्री विद्या साध रही थी। सो विद्या साधते साधते भाग्यसे एक कांटा हवासे उड़कर उसकी आँखमें गिर गया। उसके दुःखसे उसका चित्त चंचल हो उठा। उससे विद्यासिद्ध होनेमें उसके लिये बड़ी कठिनता आ उपस्थित हुई। इसी समय वज्रकुमार इधर आ निकला। उसे ध्यानसे विचलित देखकर उसने उसकी आँखमेंसे कांटा निकाल दिया। पवनवेगा स्वस्थ होकर फिर मंत्र साध-नमें तत्पर हुई। मंत्रयोग पूरा होनेपर उसे विद्या सिद्ध हो गई। वह सब उपकार वज्रकुमारका समझकर उसके पास आई और उससे बोली—आपने मेरा बहुत उपकार किया है। ऐसे समय यदि आप उधर नहीं आते तो कभी संभव नहीं था, कि मुझे विद्या सिद्ध होती। इसका बदला मैं एक क्षुद्र बा-लिका क्या चुका सकती हूं, पर यह जीवन आपके लिये समर्पण कर आपकी चरणदासी बनना चाहती हूं। मैंने संकल्प कर लिया है कि इस जीवनमें आपके सिवा किसीको मैं अपने पवित्र हृदयमें स्थान न दूंगी। मुझे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिये। यह कहकर वह सतृष्ण नयनोंसे वज्रकुमारकी ओर देखने लगी। वज्रकुमारने मुस्कुराकर उसके प्रेमोप-हारको बड़े आदरके साथ ग्रहण किया। दोनों वहाँसे विदा होकर अपने अपने घर गये। शुभ दिनमें गरुड़वेगने पवन-वेगाका परिणय संस्कार वज्रकुमारके साथ कर दिया। दोनों दम्पति सुखसे रहने लगे।

एक दिन वज्रकुमारको मालूम हो गया कि मेरे पिता थे तो राजा, पर उन्हें उनके छोटे भाईने लड़ झगड़कर अपने राज्यसे निकाल दिया है। यह देख उसे अपने काकापर बड़ा क्रोध आया। वह पिताके बहुत कुछ मना करनेपर भी कुछ सेना और अपनी पत्नीकी विद्याको लेकर उसी समय अमरावतीपर जा चढ़ा। पुरन्दरदेवको इस चढ़ाईका हाल कुछ मालूम नहीं हुआ था, इसलिये वह बातकी बातमें पराजित कर बाँध लिया गया। राज्यसिंहासन पीछा दिवाकरदेवके अधिकारमें आया। सच है-"सुपुत्रः कुलदीपकः" अर्थात् सुपुत्रसे कुलकी उन्नति ही होती है। इस वीर वृत्तान्तसे वज्रकुमार बहुत प्रसिद्ध हो गया। अच्छे अच्छे शूरवीर उसका नाम सुनकर काँपने लगे।

इसी समय दिवाकरदेवकी प्रिया जयश्रीके भी एक औरस पुत्र उत्पन्न हो गया। अब उसे वज्रकुमारसे डाह होने लगी। उसे एक भ्रम सा हो गया कि इसके साम्हने मेरे पुत्रको राज्य कैसे मिलेगा? खैर, यह भी मान लूं कि मेरे आग्रहसे प्राणनाथ अपने ही पुत्रको राज्य दे भी दें तो यह क्यों उसे देने देगा? ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो—

आश्रयन्तीं श्रियं को वा पादेन भुवि ताडयेत्।

[वादीभसिंह]

आती हुई लक्ष्मीको पाँवकी ठोकरसे ठुकरावेगा? तब अपने पुत्रको राज्य मिलनेमें यह एक कंटक है। इसे किसी तरह उखाड़ फेंकना चाहिये। यह विचार कर वह मौका देखने

लगी। एक दिन वज्रकुमारने अपनी माताके मुँहसे यह सुन-लिया कि "वज्रकुमार बड़ा दुष्ट है। देखो, तो कहाँ तो उत्पन्न हुआ और किसे कष्ट देता है?" उसकी माता किसीके साम्हने उसकी बुराई कर रही थी। सुनते ही वज्रकुमारके हृदयमें मानो आग बरस गई। उसका हृदय जलने लगा। उसे फिर एक क्षणभर भी उस घरमें रहना नर्कके बराबर भयंकर हो उठा। वह उसी समय अपने पिताके पास गया और बोला—पिताजी, जल्दी बतलाइये मैं किसका पुत्र हूं? और क्यों कर यहाँ आया? मैं जानता हूं कि आपने मेरा अपने बच्चेसे कहीं बढ़कर पालन किया है, तब भी मुझे कृपाकर बतला दीजिये कि मेरे सच्चे पिता कौन है? और कहाँ है? यदि आप मुझे ठीक ठीक हाल नहीं कहेंगे तो मैं आजसे भोजन नहीं करूंगा!

दिवाकरदेवने आज एका एक वज्रकुमारके मुँहसे अचम्भेमें डालनेवाली बातें सुनकर वज्रकुमारसे कहा—पुत्र, क्या आज तुम्हें कुछ हो तो नहीं गया है, जो बहकी बहकी बातें करते हो? तुम समझदार हो, तुम्हें ऐसी बातें करना उचित नहीं, जिससे मुझे कष्ट हो।

वज्रकुमार बोला—पिताजी, मैं यह नहीं कहता कि मैं आपका पुत्र नहीं, क्योंकि मेरे सच्चे पिता तो आप ही हैं—आपहीने मुझे पालापोषा है। पर जो सच्चा वृत्तान्त है, उसके जाननेकी मेरी बड़ी उत्कण्ठा है; इसलिये उसे आप न छिपाइये। उसे कहकर मेरे अशान्त हृदयको शान्त कीजिये। बहुत सच है—बड़े पुरुषोंके हृदयमें जो बात एक बार समा जाती है फिर वे उसे तबतक नहीं छोड़ते जबतक उसका उन्हें

आदि अन्त मालूम न हो जाय। वज्रकुमारके आग्रहसे दिवाकरदेवको उसका पूर्व हाल सब ज्योंका त्यों कह देना ही पड़ा। क्योंकि आग्रहसे कोई बात छुपाई नहीं जा सकती। वज्रकुमार अपना हाल सुनकर बड़ा विरक्त हुआ। उसे संसारका मायाजाल बहुत भयंकर जान पड़ा। वह उसी समय विमानमें चढ़कर अपने पिताकी वन्दना करनेको गया। उसके साथ ही उसका पिता तथा और और बन्धुलोग भी गये। सोमदत्त मुनिराज मथुराके पास एक गुहामें ध्यान कर रहे थे। उन्हें देखकर सब ही बहुत आनन्दित हुए। सब बड़ी भक्तिके साथ मुनिको प्रणामकर जब बैठे, तब वज्रकुमारने मुनिराजसे कहा-पूज्यपाद, आज्ञा दीजिये, जिससे मैं साधु बनकर तपश्चर्या द्वारा अपना आत्मकल्याण करूँ। वज्रकुमारको एक साथ संसारसे विरक्त देखकर दिवाकरदेवको बहुत आश्चर्य हुआ। उसने इस अभिप्रायसे, कि सोमदत्त मुनिराज वज्रकुमारको कहीं मुनि हो जानेकी आज्ञा न देदें, उनसे वज्रकुमार उन्हींका पुत्र है, और उसीपर मेरा राज्यभार भी निर्भर है-आदि सब हाल कह दिया। इसके बाद वह वज्रकुमारसे भी बोला-पुत्र, तुम यह क्या करते हो? तप करनेका मेरा समय है या तुम्हारा? तुम अब सब तरह योग्य हो गये, राजधानीमें जाओ और अपना कारोबार सम्हालो। अब मैं सब तरह निश्चिन्त हुआ। मैं आज ही दीक्षा ग्रहण करूंगा। दिवाकरदेवने उसे बहुत कुछ समझाया और दीक्षा लेनेसे रोका, पर उसने किसीकी एक न सुनी और सब वस्त्राभूषण फेंककर मुनिराजके पास दीक्षा

लेली। कन्दर्पकेसरी वज्रकुमारमुनि साधु बनकर खूब तपश्चर्या करने लगे। कठिनसे कठिन परीषह सहने लगे। वे जिनशासनरूप समुद्रके बढ़ानेवाले चन्द्रमाके समान शोभने लगे।

वज्रकुमारके साधु बनजानेके बादकी कथा अब लिखी जाती है। इस समय मथुराके राजा थे पूतगन्ध। उनकी रानीका नाम था उर्विला। वह बड़ी धर्मात्मा थी, सती थी, विदुषी थी और सम्यग्दर्शनसे भूषित थी। उसे जिनभगवान्की पूजासे बहुत प्रेम था। वह प्रत्येक नन्दीश्वरपर्वमें आठ दिनतक खूब पूजा महोत्सव करवाती, खूब दान करती। उससे जिनधर्मकी बहुत प्रभावना होती। सर्व साधारणपर जैनधर्मका अच्छा प्रभाव पड़ता। मथुराहीमें एक सागरदत्त नामका सेठ था। उसकी गृहिणीका नाम था समुद्रदत्ता। पूर्व पापके उदयसे उसके दरिद्रा नामकी पुत्री हुई। उसके जन्मसे माता पिताको सुख न होकर दुःख हुआ। धन सम्पत्ति सब जाती रही। माता पिता मर गये। बेचारी दरिद्राके लिये अब अपना पेट भरना भी मुश्किल पड़ गया। अब वह दूसरोंका झूठा खा खाकर दिन काटने लगी। सच है--पापके उदयसे जीवोंको दुःख भोगना ही पड़ता है।

एक दिन दो मुनि भिक्षाके लिये मथुरामें आये। उनके नाम थे नन्दन और अभिनन्दन। उनमें नन्दन बड़े थे और अभिनन्दन छोटे। दरिद्राको एक एक अन्नका झूठा कण खाती हुई देखकर अभिनन्दनने नन्दनसे कहा--मुनिराज, दे-

खिये, हाय! यह बेचारी बालिका कितनी दुखी है? कैसे कष्टसे अपना जीवन बिता रही है! तब नन्दनमुनिने अवधिज्ञानसे विचार कर कहा–हाँ यद्यपि इस समय इसकी दशा अच्छी नहीं है, तथापि इसका पुण्यकर्म बहुत प्रबल है उससे यह पूतीगंध राजाकी पट्टरानी बनेगी। मुनिने दरिद्राका जो भविष्य सुनाया, उसे भिक्षाके लिये आये हुए एक बौद्ध भिक्षुकने भी सुन लिया। उसे जैन ऋषियोंके विषयमें बहुत विश्वास था, इसलिये वह दरिद्राको अपने स्थानपर लिवा लाया और उसका पालन करने लगा।

दरिद्रा जैसी जैसी बड़ी होती गई वैसे ही वैसे योवनने उसकी श्रीको खूब सम्मान देना आरंभ किया। वह अब युवती हो चली। उसके सारे शरीरसे सुन्दरताकी सुधाधारा बहने लगी। आँखोंने चंचल मीनको लजाना शुरु किया। मुहँने चन्द्रमाको अपना दास बनाया। नितम्बोंको अपनेसे जल्दी बढ़ते देखकर शर्मके मारे स्तनोंका मुह काला पड़ गया। एक दिन युवती दरिद्रा शहरके बगीचेमें जाकर झूलेपर झूल रही थी कि कर्मयोगसे उसी दिन राजा भी वहीं आ गये। उनकी नजर एकाएक दरिद्रापर पड़ी। उसे देखकर वे अचम्भेमें आ गये कि यह स्वर्ग सुन्दरी कौन है? उन्होंने दरिद्रासे उसका परिचय पूछा। उसने निस्संकोच होकर अपना स्थान वगैरह सब उन्हें बता दिया। वह बेचारी भोली थी। उसे क्या मालूम कि मुझसे खास मथुराके राजा पूछताछ कर रहे हैं। राजा तो उसे देखकर कामान्ध हो गये। वे बड़ी मुश्किलसे अपने महलपर आये।

आते ही उन्होंने अपने मंत्रीको श्रीवन्दकके पास भेजा। मंत्रीने पहुँचकर श्रीवन्दकसे कहा–आज तुम्हारा और तुम्हारी कन्याका वड़ा ही भाग्य है, जो मथुराधीश्वर उसे अपनी महारानी वनाना चाहते हैं। कहो, तुम्हें भी यह वात सम्मत है न? श्रीवन्दक वोला–हाँ मुझे महाराजकी वात स्वीकार है, पर एक शर्तके साथ। वह शर्त यह है कि–महाराज वौद्धधर्म स्वीकार करें तो मैं इसका व्याह महाराजके साथ कर सकता हूं। मंत्रीने महाराजसे श्रीवन्दककी शर्त कह सुनाई। महाराजने उसे स्वीकार किया। सच है–लोग कामके वश होकर धर्मपरिवर्तन तो क्या पर वड़े वड़े अनर्थ भी कर वैठते हैं।

आखिर महाराजका दरिद्राके साथ व्याह हो गया। दरिद्रा मुनिराजके भविष्य कथनानुसार पट्टरानी हुई। दरिद्रा इस समय बुद्धदासीके नामसे प्रसिद्ध है। इसलिये आगे हम भी इसी नामसे उसका उल्लेख करेंगे। बुद्धदासी पट्टरानी वनकर वुद्धधर्मका प्रचार वढ़ानेमें सदा तत्पर रहने लगी। सच है–जिनधर्म संसारमें सुखका देनेवाला और पुण्यप्राप्तिका खजाना है, पर उसे प्राप्त कर पाते हैं भाग्यशाली ही। वेचारी अभागिनी बुद्धदासीके भाग्यमें उसकी प्राप्ति कहाँ?

अष्टान्हिका पर्व आया। उर्विला महारानीने सदाके नियमानुसार अवकी वार भी उत्सव करना आरंभ किया। जव रथ निकालनेका दिन आया और रथ, छत्र, चवंर, वस्त्र, भूषण, पुष्पमाला आदिसे खूव सजाया गया, उसमें भगवानकी प्रतिमा विराजमान की जाकर वह निकाला जाने

लगा, तब बुद्धदासीने राजासे यह कह कर, कि पहले मेरा रथ निकलेगा, उर्विला रानीका रथ रुकवा दिया। राजाने भी उसपर कुछ बाधा न देकर उसके कहनेको मान लिया। सच है-

मोहान्धा नैव जानंति गोक्षीरार्कपयोन्तरम्।
(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात् मोहसे अन्धे हुए मनुष्य गायके दूधमें और आंकड़े दूधमें कुछ भी भेद नहीं समझते। बुद्धदासीके प्रेमने यही हालत पूतगंधराजाकी करदी। उर्विलाको इससे बहुत कष्ट पहुंचा। उसने दुखी होकर प्रतिज्ञा करली कि जब पहले मेरा रथ निकलेगा तब ही मैं भोजन करूंगी। यह प्रतिज्ञा कर वह क्षत्रिया नामकी गुहामें पहुँची। वहाँ योगिराज सोमदत्त और वज्रकुमार महामुनि रहा करते हैं। वह उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार कर बोली-हे जिनशासनरूप समुद्रके बढ़ानेवाले चन्द्रमाओ, और हे मिथ्यात्वरूप अन्धकारके नष्ट करनेवाले सूर्य! इस समय आप ही मेरे लिये शरण हैं। आप ही मेरा दुःख दूर सकते हैं। जैनधर्मपर इस समय बड़ा संकट उपस्थित है, उसे नष्ट कर उसकी रक्षा कीजिये। मेरा रथ निकलनेवाला था, पर उसे बुद्धदासीने महाराजसे कहकर रुकवा दिया है। आजकल वह महाराजकी बड़ी कृपापात्र है, इसलिये जैसा वह कहती है महाराज भी विना विचारे वही कहते हैं। मैंने प्रतिज्ञा करली है कि सदाकी भांति मेरा रथ पहले यदि निकलेगा तब ही मैं भोजन करूंगी। अब जैसा आप उचित समझें वह कीजिये। उर्विला अपनी बात

कह रही थी कि इतनेमें वज्रकुमार तथा सोमदत्त मुनिकी वन्दना करनेको दिवाकरदेव आदि बहुतसे विद्याधर आये। वज्रकुमारमुनिने उनसे कहा—आप लोग समर्थ हैं और इस समय जैनधर्मपर कष्ट उपस्थित है। बुद्धिदासीने महारानी उर्विलाका रथ रुकवा दिया है। सो आप जाकर जिस तरह बन सके इसका रथ निकलवाइये। वज्रकुमारमुनिकी आज्ञानुसार सब विद्याधर लोग अपने अपने विमानपर चढ़कर मथुरा आये। सच है-जो धर्मात्मा होते हैं वे धर्म प्रभावनाके लिये स्वयं प्रयत्न करते हैं, तब उन्हें तो मुनिराजने स्वयं प्रेरणा की है, इसलिये रानी उर्विलाको सहायता देना तो उन्हें आवश्यक ही था। विद्याधरोंने पहुँचकर बुद्धदासीको बहुत समझाया और कहा, जो पुरानी रीति है उसे ही पहले होने देना अच्छा है। पर बुद्धदासीको तो अभिमान आ रहा था, इसलिये वह क्यों मानने चली? विद्याधरोंने सीधे पनसे अपना कार्य होता हुआ न देखकर बुद्धदासीके नियुक्त किये हुए सिपाहियोंसे लड़ना शुरू किया और बातकी बातमें उन्हें भगाकर बड़े उत्सव और आनन्दके साथ उर्विलारानीका रथ निकलवा दिया। रथके निर्विघ्न निकलनेसे सबको बहुत आनन्द हुआ। जैनधर्मकी भी खूब प्रभावना हुई। बहुतोंने मिथ्यात्व छोड़कर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया। बुद्धदासी और राजापर भी इस प्रभावनाका खूब प्रभाव पड़ा। उन्होंने भी शुद्धान्तःकरणसे जैनधर्म स्वीकार किया।

जिस प्रकार श्रीवज्रकुमार मुनिराजने धर्मप्रेमके वश होकर जैनधर्मकी प्रभावना करवाई उसी तरह और और धर्मात्मा

पुरुषोंकोभी संसारका उपकार करनेवाली और स्वर्गसुखकी देनेवाली धर्म प्रभावना करना चाहिये। जो भव्य पुरुष, प्रतिष्ठा, जीर्णोद्धार, रथयात्रा, विद्यादान, आहारदान, अभयदान, आदि द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि होकर त्रिलोक पूज्य होते हैं और अन्तमें मोक्षसुख प्राप्त करते हैं।

धर्मप्रेमी श्रीवज्रकुमार मुनि मेरी बुद्धिको सदा जैनधर्ममें दृढ़ रक्खें, जिसके द्वारा मैं भी कल्याण पथपर चलकर अपना अन्तिमसाध्य मोक्ष प्राप्त कर सकूं।

श्रीमल्लिभूषण गुरु मुझे मंगल प्रदान करें, वे मूल संघके प्रधान शारदागच्छेमें हुए हैं। वे ज्ञानके समुद्र हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नोंसे अलंकृत हैं। मैं उनकी भक्तिपूर्वक आराधना करता हूं।

१४—नागदत्तमुनिकी कथा।

मो क्षराज्यके अधीश्वर श्रीपंचपरमगुरुको नमस्कार कर श्रीनागदत्तमुनिका सुन्दर चरित मैं लिखता हूं।

मगधदेशकी प्रसिद्ध राजधानी राजगृहमें प्रजापाल नामके राजा हैं। वे विद्वान् हैं, उदार हैं, धर्मात्मा हैं, जिनभगवान्के भक्त हैं और नीतिपूर्वक प्रजाका पालन करतें हैं। उनकी रानीका नाम है प्रियधर्मा। वह भी बड़ी सरल

स्वभावकी और सुशीला है। उसके दो पुत्र हुए। उनके नाम थे प्रियधर्म और प्रियमित्र। दोनों भाई बड़े बुद्धिमान् और सुचरित थे।

किसी कारणसे दोनों भाई संसारसे विरक्त होकर साधु बन गये। और अन्तसमय समाधिमरण कर अच्युतस्वर्गमें जाकर देव हुए। उन्होंने वहां परस्परमें प्रतिज्ञा की कि, "जो दोनोंमेंसे पहले मनुष्यपर्याय प्राप्त करे उसके लिये स्वर्गस्थ देवका कर्त्तव्य होगा कि वह उसे जाकर सम्बोधे और संसारसे विरक्त कर मोक्षसुखकी देनेवाली जिनदीक्षा ग्रहण करनेके लिये उसे उत्साहित करे।" इस प्रकार प्रतिज्ञा कर वे वहाँ सुखसे रहने लगे। उन दोनोंमेंसे प्रियदत्तकी आयु पहले पूर्ण हो गई। वह वहाँसे उज्जयिनीके राजा नागधर्मकी प्रिया नागदत्ताके, जो कि बहुत ही सुन्दरी थी, नागदत्त नामक पुत्र हुआ। नागदत्त सर्पोंके साथ क्रीड़ा करनेमें बहुत चतुर था, सर्पके साथ उसे विनोद करते देखकर सब लोग बड़ा आश्चर्य प्रगट करते थे।

एक दिन प्रियधर्म, जो कि स्वर्गमें नागदत्तका मित्र था, गारुड़िका वेप लेकर नागदत्तको सम्बोधनेको उज्जयिनीमें आया। उसके पास दो भयंकर सर्प थे। वह शहरमें घूमघूमकर लोगोंको तमाशा बताता और सर्व साधारणमें यह प्रगट करता कि मैं सर्पक्रीड़ाका अच्छा जानकार हूं। कोई और भी इस शहरमें सर्पक्रीड़ाका अच्छा जानकार हो, वो फिर उसे मैं अपना खेल दिखलाऊं। यह हाल धीरे धीरे नागदत्तके पास पहुँचा। वह तो सर्पक्रीड़ाका पहलेहीसे

बहुत शोकीन था, फिर अब तो एक और उसका साथी मिल गया। उसने उसी समय नौकरोंको भेजकर उसे अपने पास बुला मँगाया। गारुड़ि तो इसी कोशिशमें था ही कि नागदत्तको किसी तरह मेरी खबर लग जाय और वह मुझे बुलावे। प्रियधर्म उसके पास गया। उसे पहुंचते ही नागदत्तने अभिमानमें आकर उससे कहा-मंत्रवित्, तुम अपने सर्पोंको बाहर निकालो न? मैं उनके साथ कुछ खेल तो देखूं कि वे कैसे जहरीले हैं।

प्रियदत्त बोला-मैं राजपुत्रोंके साथ ऐसी हँसी दिल्लगी या खेल करना नहीं चाहता कि जिसमें जानकी तक जोखम हो। बतलाओ मैं तुम्हारे सामने सर्प निकाल कर रख दूं और तुम उनके साथ खेल खेलो, इस बीचमें कुछ तुम्हें जोखम पहुँच जाय तब राजा मेरी क्या बुरी दशा करें? क्या उस समय वे मुझे छोड देंगे? कभी नहीं। इसलिये न तो मैं ही ऐसा कर सकता हूं और न तुम्हें ही इस विषयमें कुछ विशेष आग्रह करना उचित है। हां तुम कहो तो मैं तुम्हें कुछ खेल दिखा सकता हूं।

नागदत्त बोला-तुम्हें पिताजीकी ओरसे कुछ भय नहीं करना चाहिये। वे स्वयं अच्छी तरह जानते हैं कि मैं इस विषयमें कितना विज्ञ हूं और इसपर भी तुम्हें सन्तोष न हो तो आओ मैं पिताजीसे तुम्हें क्षमा करवाये देता हूं। यह कहकर नागदत्त प्रियदत्तको पिताके पास ले गया और मारे अभिमानमें आकर बड़े आग्रहके साथ महाराजसे उसे अभय दिलवा दिया। नागधर्म कुछ तो नागदत्तका सर्पोंके

साथ खेलना देख चुके थे और इस समय पुत्रका बहुत आग्रह था, इसलिये उन्होंने विशेष विचार न कर प्रियदत्तको अभयप्रदान कर दिया। नागदत्त बहुत प्रसन्न हुआ। उसने प्रियदत्तसे सर्पोंको बाहर निकालनेके लिये कहा। प्रियदत्तने पहले एक साधारण सर्प निकाला। नागदत्त उसके साथ क्रीड़ा करने लगा और थोड़ी देरमें उसे उसने पराजित कर दिया—निर्विष कर दिया! अब तो नागदत्तका साहस खूब बढ़ गया। उसने दूने अभिमानके साथ कहा कि तुम क्या ऐसे मुर्दे सर्पको निकालकर और मुझे शर्मिन्दा करते हो? कोई अच्छा विषधर सर्प निकालो न? जिससे मेरी शक्तिका तुम भी परिचय पा सको।

प्रियधर्म बोला—आपका होश पूरा हुआ। आपने एक सर्पको हरा भी दिया है। अब आप अधिक आग्रह न करें तो अच्छा है। मेरे पास एक सर्प और है, पर वह बहुत जहरीला है, दैवयोगसे उसने काट खाया तो समझिये फिर उसका कुछ उपाय ही नहीं है। उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। इसलिये उसके लिये मुझे क्षमा कीजिये। उसने नागदत्तसे बहुत बहुत प्रार्थना की पर नागदत्तने उसकी एक नहीं मानी। उलटा उसपर क्रोधित होकर वह बोला—तुम अभी नहीं जानते कि इस विषयमें मेरा कितना प्रवेश है? इसीलिये ऐसी डरपोंकपनेकी बातें करते हो। पर मैंने ऐसे ऐसे हजारों सर्पोंको जीतकर पराजित किया है। मेरे साम्हने यह बेचारा तुच्छ जीव कर ही क्या सकता है? और फिर इसका डर तुम्हें या मुझे? वह काटेगा तो मुझे ही न? तुम

मत घबराओ, उसके लिये मेरे पास बहुतसे ऐसे साधन हैं, जिससे भयंकरसे भयंकर सर्पका जहर भी क्षणमात्रमें उत्तर सकता है।

प्रियधर्मने कहा–अच्छा यदि तुम्हारा अत्यन्त ही आग्रह है तो उससे मुझे कुछ हानि नहीं। इसके बाद उसने राजा आदिकी साक्षीसे अपने दूसरे सर्पको पिटारेमेंसे निकाल बाहर कर दिया। सर्पने निकलते ही फुंकार मारना शुरू किया। वह इतना जहरीला था कि उसके साँसकी हवाही-से लोगोंके सिर घूमने लगते थे। जैसे ही नागदत्त उसे हाथमें पकड़नेको उसकी ओर बढ़ा कि सर्पने उसे बड़े जोरसे काट खाया। सर्पका काटना था कि नागदत्त उसी समय चक्कर खाकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ा और अचेत हो गया। उसकी यह दशा देखकर हाहाकार मच गया। सबकी आँखोंसे आँसुकी धारा बह चली। राजाने उसी समय नौकरोंको दौड़ाकर सर्पका विष उतारनेवालोंको बुलवाया। बहुतसे मांत्रिक तांत्रिक इकट्ठे हुए। सबने अपनी अपनी करनीमें कोई बात उठा नहीं रक्खी। पर किसीका किया कुछ नहीं हुआ। सबने राजाको यही कहा कि महाराज, युवराजको तो कालसर्पने काटा है, अब ये नहीं जी सकेंगे। राजा बड़े निराश हुए। उन्होंने सर्पवालेसे यह कह कर, कि यदि तू इसे जिला देगा तो मैं तुझे अपना आधा राज्य दे दूंगा, नागदत्तको उसीके सुपुर्द कर दिया। प्रियधर्म तब बोला–महाराज, इसे काटा तो है कालसर्पने, और इसका जी जाना भी असंभव है, पर मेरा कहा मानकर मत निकालिये

यदि यह जी जाय तो आप इसे मुनि हो जानेकी आज्ञा दें तो, मैं भी एक वार इसके जिलानेका यत्न कर देखूं।

राजाने कहा—मैं इसे भी स्वीकार करता हूँ। तुम इसे किसी तरह जिला दो, यही मुझे इष्ट है।

इसके बाद प्रियधर्मने कुछ मंत्र पढ़ पढ़ाकर उसे जीता कर दिया। जैसे मिथ्यात्वरूपी विषसे अचेत हुए मनुष्योंको परोपकारी मुनिराज अपना स्वरूप प्राप्त करा देते हैं। जैसे ही नागदत्त सचेत होकर उठा और उसे राजाने अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई। वह उससे बहुत प्रसन्न हुआ। पश्चात् एक क्षणभर ही वह वहाँ न ठहर कर वनकी ओर रवाना हो गया और यमधर मुनिराजके पास पहुँच कर उसने जिनदीक्षा ग्रहण करली। उसे दीक्षित हो जानेपर प्रियधर्म, जो गारुड़िका वेष लेकर स्वर्गसे नागदत्तके सम्बोधनेको आया था, उसे सब हाल कहकर और अन्तमें नमस्कार कर पीछा स्वर्ग चला गया।

मुनि बनकर नागदत्त खूब तपश्चर्या करने लगे और अपने चारित्रको दिनपर दिन निर्मल करके अन्तमें जिनकल्पीमुनि हो गये। अर्थात् जिनभगवान्की तरह अब वे अकले ही विहार करने लगे। एक दिन वे तीर्थयात्रा करते हुए एक भयानक वनीमें निकल आये। वहाँ चोरोंका अड्डा था, सो चोरोंने मुनिराजको देख लिया। उन्होंने यह समझ कर, कि ये हमारा पता लोगोंको बता देगें और फिर हम पकड़ लिये जावेंगे, उन्हें पकड़ लिया और अपने मुखियाके पास वे लिवा ले गये। मुखियाका नाम था सूरदत्त।

वह मुनिको देखकर बोला-तुमने इन्हें क्यों पकड़ा ? ये तो बड़े सीधे और सरल स्वभावी हैं। इन्हें किसीसे कुछ लेना देना नहीं, किसीपर इनका राग द्वेष नहीं। ऐसे साधुको तुमने कष्ट देकर अच्छा नहीं किया। इन्हें जल्दी छोड़ दो। जिस भयकी तुम इनके द्वारा आशंका करते हो, वह तुम्हारी भूल है। ये कोई बात ऐसी नहीं करते जिससे दूसरोंको कष्ट पहुँचे। अपने मुखियाकी आज्ञाके अनुसार चोरोंने उसी समय मुनिराजको छोड़ दिया।

इसी समय नागदत्तकी माता अपनी पुत्रीको साथ लिये हुए वत्स देशकी ओर जा रही थी। उसे उसका ब्याह कोशाम्बीके रहनेवाले जिनदत्त सेठके पुत्र धनपालसे करना था। अपने जमाईको दहेज देनेके लिये उसने अपने पास उपयुक्त धन-सम्पत्ति भी रखली थी। उसके साथ और भी पुरजन परिवारके लोग थे। सो उसे रास्तेमें अपने पुत्र नागदत्तमुनिके दर्शन हो गये। उसने उन्हें प्रणाम कर पूछा-प्रभो, आगे रास्ता तो अच्छा है न ? मुनिराज इसका कुछ उत्तर न देकर मौन सहित चले गये। क्योंकि उनके लिये तो शत्रु और मित्र दोनों ही समान हैं।

आगे चलकर नागदत्ताको चोरोंने पकड़कर उसका सब माल असबाब छीन लिया और उसकी कन्याको भी उन पापियोंने छुड़ाली। तब सूरदत्त उनका मुखिया उनसे बोला-क्यों आपने देखी न उस मुनिकी उदासीनता और निस्पृहता ? जो इस स्त्रीने मुनिको प्रणाम किया और उनकी भक्ति की तब भी उन्होंने इससे कुछ नहीं कहा और हम

लोगोंने उन्हें बाँधकर कष्ट पहुँचाया तब उन्होंने हमसे कुछ द्वेष नहीं किया। सच बात तो यह है कि उनकी वह वृत्ति ही इतने ऊँचे दरजेकी है, जो उसमें भक्ति करनेवालेपर तो प्रेम नहीं और शत्रुता करनेवालेसे द्वेष नहीं। दिगम्बर मुनि बड़े ही शान्त, धीर, गंभीर और तत्त्वदर्शी हुआ करते हैं।

नागदत्ता यह सुनकर, कि यह सब कारस्थानी मेरे ही पुत्रकी है, यदि वह मुझे इस रास्तेका सब हाल कह देता, तो क्यों आज मेरी यह दुर्दशा होती? क्रोधके तीव्र आवेगसे थरथर काँपने लगी। उसने अपने पुत्रकी निर्दयतासे दुःखी होकर चोरोंके मुखिया सूरदत्तसे कहा–भाई, जरा अपनी छुरी तो मुझे दे, जिससे मैं अपनी कूंखको चीरकर शान्तिलाभ करूं। जिस पापीका तुम जिकर कर रहे हो, वह मेरा ही पुत्र है। जिसे मैंने नौ महीने इस कूँखमें रक्खा और बड़े बड़े कष्ट सहे उसीने मेरे साथ इतनी निर्दयता की कि मेरे पूछनेपर भी उसने मुझे रास्तेका हाल नहीं बतलाया। तब ऐसे कुपुत्रको पैदाकर मुझे जीते रहनेसे ही क्या लाभ?

नागदत्ताका हाल जानकर सूरदत्तको बड़ा वैराग्य हुआ। वह उससे बोला–जो उस मुनिकी माता है, वही मेरी भी माता है। माता, क्षमा करो! यों कहकर उसने उसका सब धन असबाव उसी समय पीछा लौटा दिया और आप मुनिके पास पहुँचा। उसने बड़ी भक्तिके साथ परम गुणवान् नागदत्त मुनिकी स्तुति की और पश्चात् उन्हींके द्वारा दीक्षा लेकर वह तपस्वी बन गया।

साधु बनकर सूरदत्तने तपश्चर्या और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र द्वारा घातिया कर्मोंका नाशकर

लोकालोकका प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर अनेक भव्य जीवोंको कल्याणका रास्ता बतलाया और अन्तमें अघातिया कर्मोंका भी नाश कर अविनाशी, अनन्त, मोक्षपद प्राप्त किया।

श्रीनागदत्त और सूरदत्त मुनि संसारके दुःखोंको नष्ट कर मेरे लिये शान्ति प्रदान करें, जो कि गुणोंके समुद्र हैं, जो देवों द्वारा सदा नमस्कार किये जाते हैं और जो संसारी जीवोंके नेत्ररूपी कुमुद पुष्पोंको प्रफुल्लित करनेके लिये चंद्रमा समान हैं-जिन्हें देखकर नेत्रोंको बड़ा आनन्द मिलता है-शान्ति मिलती है।

---

१५. शिवभूति पुरोहितकी कथा।

मैं संसारके हित करनेवाले जिनभगवान्‌को नमस्कार कर दुर्जनोंकी संगतिसे जो दोष उत्पन्न होते हैं, उससे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा लिखता हूं, जिससे कि लोग दुर्जनोंकी संगति छोड़नेका यत्न करें।

यह कथा उस समय की है, जब कि कोशाम्बीका राजा धनपाल था। धनपाल अच्छा बुद्धिमान् और प्रजाहितैषी था। शत्रु तो उसका नाम सुनकर काँपते थे। राजाके यहाँ एक पुरोहित था। उसका नाम था शिवभूति। वह पौराणिक अच्छा था।

वहाँ दो शूद्र रहते थे। उनके नाम कल्पपाल और पूर्णचन्द्र थे। उनके पास कुछ धन भी था। उनमें पूर्णचन्द्रकी स्त्रीका नाम था मणिप्रभा। उसके एक सुमित्रा नामकी लड़की थी। पूर्णचन्द्रने उसके विवाहमें अपने जातीय भाइयोंको जिमाया और उसका राज पुरोहितसे कुछ परिचय होनेसे उसने उसे भी निमंत्रित किया। पर पुरोहित महाराजने उसमें यह बाधा दी कि भाई, तुम्हारा भोजन तो मैं नहीं कर सकता। तब कल्पपालने बीचमें ही कहा—अस्तु। आप हमारे यहाँका भोजन न करें। हम ब्राह्मणोंके द्वारा आपके लिये भोजन तैयार करवा देंगे तब तो आपको कुछ उजर न होगा। पुरोहितजी आखिर थे तो ब्राह्मण ही न? जिनके विषयमें यह नीति प्रसिद्ध है कि "असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः" अर्थात् लोभमें फँसकर ब्राह्मण नष्ट हुए। सो वे अपने एकबारके भोजनका लोभ नहीं रोक सके। उन्होंने यह विचार कर, कि जब ब्राह्मण भोजन बनानेवाले हैं, तब तो कुछ नुकसान नहीं, उसका भोजन करना स्वीकार कर लिया। पर इस बातपर उन्होंने तनिक भी विचार नहीं किया कि ब्राह्मणोंने ही भोजन बना दिया तो हुआ क्या? आखिर पैसा तो उसका है और न जाने उसने कैसे कैसे पापों द्वारा उसे कमाया है?

जो हो, नियमित समयपर भोजन तैयार हुआ। एक ओर पुरोहित देवता भोजनके लिये बैठे और दूसरी ओर पूर्णचन्द्रका परिवारवर्ग। इस जगह इतना और ध्यानमें रखना चाहिये कि दोनोंका चौका अलग अलग था। भोजन

होने लगा। पुरोहितजीने मनभर माल उड़ाया। मानो उन्हें कभी ऐसे भोजनका मौका ही नसीब नहीं हुआ था। पुरोहितजीको वहाँ भोजन करते हुए कुछ लोगोंने देख लिया। उन्होंने पुरोहितजीकी शिकायत महाराजसे करदी। महाराजने एक शूद्रके साथ भोजन करनेवाले–वर्णव्यवस्थाको धूलमें मिलानेवाले ब्राह्मणको अपने राज्यमें रखना उचित न समझ देशसे निकलवा दिया। सच है–"कुसंगो कष्टदो ध्रुवम्" अर्थात् बुरी संगति दुःख देनेवाली ही होती है। इसलिये अच्छे पुरुषोंको उचित है कि वे बुरोंकी संगति न कर सज्जनोंकी संगति करें, जिससे वे अपने धर्म, कुल, मान-मर्यादाकी रक्षा कर सकें।

---

१६. पवित्र हृदयवाले एक बालककी कथा।

लक जैसा देखता है, वैसा ही कह भी देता है। क्योंकि उसका हृदय पवित्र रहता है। यहाँ मैं जिनभगवान्‌को नमस्कार कर एक ऐसी ही कथा लिखता हूं, जिसे पढ़कर सर्व साधारणका ध्यान पापकर्मोंके छोड़नेकी ओर जाय।

कौशाम्बीमें जयपाल नामके राजा हो गये हैं। उनके समयमें वहीं एक सेठ हुआ है। उसका नाम समुद्रदत्त था और उसकी स्त्रीका नाम समुद्रदत्ता। उसके एक पुत्र

हुआ। उसका नाम सागरदत्त था। वह बहुत ही सुन्दर था। उसे देखकर सबका चित्त उसे खेलानेके लिये व्यग्र हो उठता था। समुद्रदत्तका एक गोपायन नामका पड़ौसी था। पूर्वजन्मके पापकर्मके उदयसे वह दरिद्री हुआ। इसलिये धनकी लालसाने उसे व्यसनी बना दिया। उसकी स्त्रीका नाम सोमा था। उसके भी एक सोमक नामका पुत्र था। वह धीरे धीरे कुछ बड़ा हुआ और अपनी मीठी और तोतली बोलीसे मातापिताको आनन्दित करने लगा।

एक दिन गोपायनके घरपर सागरदत्त और सोमक अपना बालसुलभ खेल खेल रहे थे। सागरदत्त इस समय गहना पहरे हुए था। उसी समय पापी गोपायन आ गया। सागरदत्तको देखकर उसके हृदयमें पापवासना हुई। दरवाजा बन्दकर वह कुछ लोभके बहाने सागरदत्तको घरके भीतर लिवा ले गया। उसीके साथ सोमक भी दौड़ा गया। भीतर लेजाकर पापी गोपायनने उस अबोध बालकका बड़ी निर्दयतासे छुरी द्वारा गला घोट दिया और उसका सब गहना उतारकर उसे गड्ढेमें गाड़ दिया।

कई दिनोंतक बराबर कोशिश करते रहनेपर भी जब सागरदत्तके मातापिताको अपने बच्चेका कुछ हाल नहीं मिला, तब उन्होंने जान लिया कि किसी पापीने उसे धनके लोभसे मारडाला है। उन्हें अपने प्रिय बच्चेकी मृत्युसे जो दुःख हुआ उसे वे ही पाठक अनुभव कर सकते हैं जिनपर कभी ऐसा दैवी प्रसंग आया हो। आखिर बेचारे अपना मन मसोस कर रह गये। इसके सिवा वे और करते भी तो क्या?

कुछ दिन बीतनेपर एक दिन सोमक समुद्रदत्तके घरके आंगनमें खेल रहा था। तब समुद्रदत्ताके मनमें न जाने क्या बुद्धि उत्पन्न हुई सो उसने सोमकको बड़े प्यारसे अपने पास बुलाकर उससे पूछा—भैया, बतला तो तेरा साथी समुद्रदत्त कहाँ गया है? तूने उसे देखा है?

सोमक बालक था और साथ ही बालस्वभावके अनुसार पवित्र हृदयी था। इसलिये उसने झटसे कह दिया कि वह तो मेरे घरमें एक खाड़ेमें गड़ा हुआ है। बेचारी सागरदत्ता अपने बच्चेकी दुर्दशा सुनते ही धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ी। इतनेमें सागरदत्त भी वहीं आ पहुँचा। उसने उसे होशमें लाकर उसके मूर्च्छित हो जानेका कारण पूछा। सागरदत्ताने सोमकका कहा हाल उसे सुना दिया। सागरदत्तने उसी समय दौड़े जाकर यह खबर पुलिसको दी। पुलिसने आकर मृत बच्चेकी लाश सहित गोपायनको गिरफ्तार किया मुकुदमा राजाके पास पहुँचा। उन्होंने गोपायनके कर्मके अनुसार उसे फाँसीकी सजा दी। बहुत ठीक कहा है—

पापी पापं करोत्यत्र प्रच्छन्नमपि पापतः।
तत्प्रसिद्धं भवत्येव भवभ्रमणदायकः॥

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात् पापी लोग बहुत छुपकर भी पाप करते हैं, पर वह नहीं छुपता और प्रगट हो ही जाता है। और परिणाममें अनन्त कालतक संसारके दुःख भोगना पड़ता है। इसलिये सुख चाहनेवाले पुरुषोंको हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, आदि पाप, जो कि दुःखके देनेवाले हैं, छोड़कर सुख देनेवाला दयाधर्म—जिनधर्म ग्रहण करना उचित है।

बालपनेमें विशेष ज्ञान नहीं होता, इसलिये बालक अपना हिताहित नहीं जान पाता, युवावस्थामें कुछ ज्ञानका विकाश होता है, पर काम उसे अपने हितकी ओर नहीं फटकने देता और वृद्धावस्थामें इन्द्रियाँ जर्जर हो जाती हैं-किसी कामके करनेमें उत्साह नहीं रहता और न शक्ति ही रहती है। इसके सिवा और और जो अवस्थायें हैं, उनमें कुटुम्ब परिवारके पालनपोषणका भार सिरपर रहनेके कारण सदा अनेक प्रकारकी चिन्तायें घेरे रहती हैं-कभी स्वस्थचित्त होने ही नहीं पाता, इसलिये तब भी आत्महितका कुछ साधन प्राप्त नहीं होता। आखिर होता यह है कि जैसे पैदा हुए, वैसे ही चल बसते हैं। अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त हुई मनुष्य पर्यायको समुद्रमें रत्न फैंक देनेकी तरह गवाँ बैठते हैं। और प्राप्त करते हैं वही एक संसारभ्रमण। जिसमें अनन्त काल ठोकरें खाते खाते बीत गये। पर ऐसा करना उचित नहीं; किन्तु प्रत्येक जीवमात्रको अपने आत्महितकी ओर ध्यान देना परमावश्यक है। उन्हें सुख प्रदान करनेवाला जिनधर्म ग्रहणकर शान्तिलाभ करना चाहिये।

१७-धनदत्त राजाकी कथा।

दे वादिके द्वारा पूज्य और अनन्तज्ञान, दर्शनादि आत्मीयश्रीसे विभूषित जिनभगवान्को नमस्कार कर मैं धनदत्त राजाकी पवित्र कथा लिखता हूं।

अन्ध्रदेशान्तर्गत कनकपुर नामक एक प्रसिद्ध और मनोहर शहर था। उसके राजा थे धनदत्त। वे सम्यग्दृष्टि थे, गुणवान् थे, और धर्मप्रेमी थे। राजमंत्रीका नाम श्रीवन्दक था। वह बौद्धधर्मानुयायी था। परन्तु तब भी राजा अपने मंत्रीकी सहायतासे राजकाम अच्छा चलाते थे। उन्हें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुँचती थी।

एक दिन राजा और मंत्री राजमहलके ऊपर बैठे हुए कुछ राज्य सम्बन्धी विचार कर रहे थे कि राजाको आकाशमार्गसे जाते हुए दो चारणऋद्धि धारी मुनियोंके दर्शन हुए। राजाने हर्षके साथ उठकर मुनिराजको बड़े विनयसे नमस्कार किया और अपने महलमें उनका आव्हान किया। ठीक भी है-" साधुसंगः सतां प्रियः" अर्थात्-साधुओंकी संगति सज्जनोंको बहुत प्रीतिकर जान पड़ती है।

इसके बाद राजाके प्रार्थना करनेपर मुनिराजने उसे धर्मोपदेश दिया और चलते समय वे श्रीवन्दक मंत्रीको अपने साथ लिवा ले गये। लेजाकर उन्होंने उसे समझाया और आत्महितकी इच्छासे उसके प्रार्थना करनेपर उसे

श्रावकके व्रत दे दिये। श्रीवन्दक अपने स्थान लौट आया। इसके पहले श्रीवन्दक अपने बुद्धगुरुकी वन्दनाभक्ति करनेको प्रतिदिन उनके पास जाया करता था। सो जब उसने श्रावकव्रत ग्रहण कर लिये तबसे वह नहीं जाने लगा। यह देख बौद्धगुरुने उसे बुलाया, पर जब श्रीवन्दकने आकर भी उसे नमस्कार नहीं किया तब संघश्रीने उससे पूछा—क्यों आज तुमने मुझे नमस्कार नहीं किया? उत्तरमें मंत्रीने मुनिके आने, उपदेश करने और अपने व्रत ग्रहण करनेका सब हाल संघश्रीसे कह सुनाया। सुनकर संघश्री बड़े दुःखके साथ बोला—हाय! तू ठगा गया, पापियोंने तुझे बड़ा धोखा दिया। क्या कभी यह संभव है कि निराश्रय आकाशमें भी कोई चल सकता है? जान पड़ता है तुम्हारा राजा बड़ा कपटी और ऐन्द्रजालिक है। इसीलिये उसने तुम्हें ऐसा आश्चर्य दिखला कर अपने धर्ममें शामिल कर लिया। तुम तो भगवान् बुद्धके इतने विश्वासी थे, फिर भी तुम उस पापी राजाकी बहकावटमें आगये? इस तरह उसे बहुत कुछ ऊँचा नीचा समझाकर संघश्रीने कहा—अब तुम कभी राजसभामें नहीं जाना और जाना भी पड़े तो यह आजका हाल राजसे नहीं कहना। कारण वह जैनी है। सो बुद्धधर्मपर स्वभावहीसे उसे प्रेम नहीं होगा। इसलिये क्या मालूम कब वह बुद्धधर्मका अनिष्ट करनेको तैयार हो जाय? बेचारा श्रीवन्दक फिर संघश्रीकी चिकनी चुपड़ी बातोंमें आ गया। उसने श्रावक धर्मको भी उसी समय जलाञ्जलि देदी। बहुत ठीक कहा गया है—

स्वयं ये पापिनो लोकें परं कुर्वन्ति पापिनम् ।
यथा संतप्तमानोसौ दहत्यग्निर्न संशयः ॥

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—जो स्वयं पापी होते हैं वे औरोंको भी पापी बना डालते हैं। यह उनका स्वभाव ही होता है। जैसे अग्नि स्वयं भी गरम होता है और दूसरोंको भी जलाता है।

दूसरे दिन धनदत्तने राजसभामें बड़े आनन्द और धर्मप्रेमके साथ चारणमुनिका हाल सुनाया। उनमें प्रायः लोगोंको, जो कि जैन नहीं थे, बहुत आश्चर्य हुआ। उनका विश्वास राजाके कथनपर नहीं जमा। सब आश्चर्य भरी दृष्टिसे राजाके मुहँकी ओर देखने लगे। राजाको जान पड़ा कि मेरे कहनेपर लोगोंको विश्वास नहीं हुआ। तब उन्होंने अपनी गंभीरताको हँसीके रूपमें परिवर्तित कर झटसे कहा, हाँ यह कहना तो मैं भूल ही गया कि उस समय हमारे मंत्री महाशय भी मेरे पास ही थे। यह कहकर ही उन्होंने मंत्रीपर नजर दौड़ाई पर वे उन्हें नहीं दीख पड़े। तब राजाने उसी समय नौकरोंको भेजकर श्रीवन्दकको बुलवाया। उसके आते ही राजाने अपने कथनकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये उससे कहा—मंत्रीजी, कल दोपहरका हाल तो इन सबको सुनाइये कि वे चारणमुनि कैसे थे? तब बौद्धगुरुका बहकाया हुआ पापी श्रीवन्दक बोल उठा कि महाराज, मैंने तो उन्हें नहीं देखा और न यह संभव ही है कि आकाशमें कोई चल सके? पापी श्रीवन्दकके मुहँसे उक्त वाक्योंका निकलना था कि उसी समय उसकी दोनों आँखें मुनिनिन्दाके तीव्र पापके उदयसे फूट गईं। सच है—

प्रभावो जिनधर्मस्य सूर्यस्येव जगत्त्रये।
नैव संछाद्यते केन घूकप्रायेण पापिना॥

(ब्रह्म नेमिदत्त)

जैसे संसारमें फैले हुए सूर्यके प्रभावको उल्लू नहीं रोक सकता, ठीक उसी तरह पापी लोग पवित्र जिनधर्मके प्रभावको कभी नहीं रोक सकते। उक्त घटनाको देखकर राजा वगैरहने जिनधर्मकी खूब प्रशंसा की और श्रावक धर्म स्वीकार कर वे उसके उपासक बन गये।

इस प्रकार निर्मल और देवादिकें द्वारा पूज्य जिनशासनका प्रभाव देखकर भव्य पुरुषोंको उचित है कि वे निर्भ्रान्त होकर सुखके खजाने और स्वर्ग-मोक्षके देनेवाले पवित्र जिनधर्मकी ओर अपनी निर्मल और मनोवांछितकी देनेवाली बुद्धिको लगावें।

१८—ब्रह्मदत्तकी कथा।

परम भक्तिसे संसार पूज्य जिन भगवान्को नमस्कार कर मैं ब्रह्मदत्तकी कथा लिखता हूं। वह इसलिये कि सत्पुरुषोंको इसके द्वारा कुछ शिक्षा मिले।

कांपिल्य नामक नगरमें एक ब्रह्मरथ नामका राजा रहता था। उसकी रानीका नाम था रामिली। वह सुन्दरी थी, विदुषी थी और राजाको प्राणोंसे भी कहीं प्यारी थी, बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त इसीके पुत्र थे। वे

छह खंड पृथ्वीको अपने वश करके सुख पूर्वक अपना राज्य शासनका काम करते थे।

एक दिन राजा भोजन करनेको बैठे उस समय उनके विजयसेन नामके रसोइयेने उन्हें खीर परोसी। पर वह बहुत गरम थी, इसलिये राजा उसे खा न सके। उसे इतनी गरम देखकर राजा रसोइयेपर बहुत गुस्सा हुए। गुस्सेमें आकर उन्होंने खीरके उसी बर्तनको रसोइयेके सिरपर देमारा। उसका सिर सब जल गया। साथ ही वह मर गया। हाय! ऐसे क्रोधको धिक्कार है, जिससे मनुष्य अपना हिताहित न देखकर बड़े बड़े अनर्थ कर बैठता है और फिर अनन्त कालतक कुगतियोंमें दुख भोगता रहता है।

रसोइया बड़े दुःखसे मरा सही, पर उसके परिणाम उस समय भी शान्त रहे। वह मरकर लवण समुद्रान्तर्गत विशाल-रत्न नामक द्वीपमें व्यन्तर देव हुआ। विभंगावधिज्ञानसे वह अपने पूर्वभवकी कष्ट कथा जानकर क्रोधके मारे काँपने लगा। वह एक सन्यासीके वेषमें राजाके पास आया और राजाको उसने केला, आम, सेव, सन्तरा, आदि बहुतसे फल भेंट किये। राजा जीभकी लोलुपतासे उन्हें खाकर सन्यासीसे बोला—साधुजी, कहिये—आप ये फल कहाँसे लाये? और कहाँ मिलेंगे? ये तो बड़े ही मीठे हैं। मैंने तो आजतक ऐसे फल कभी नहीं खाये। मैं आपकी इस भेंटसे बहुत खुश हुआ।

सन्यासीने कहा, महाराज, मेरा घर एक टापूमें है। वहीं एक बहुत सुन्दर बगीचा है। उसीके ये फल हैं। और

अनन्त फल उसमें लगे हुए हैं। सन्यासीकी रसभरी वात सुनकर राजाके मुँहमें पानी भर आया। उसने सन्यासीके साथ जानेकी तैयारी की। सच है—

शुभाऽशुभं न जानाति हा कष्टं लंपटः पुमान्।
(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्–जिह्वालोलुपी पुरुष भला बुरा नहीं जान पाते, यह बड़े दुःखकी वात है। यही हाल राजाका हुआ। जब वह लोलुपताके वश हो उस सन्यासीके साथ समुद्रके वीचमें पहुँचा, तव उसने राजाको मारनेके लिये वड़ा कष्ट देना शुरू किया। चक्रवर्ती अपनेको कष्टोंसे घिरा देखकर पंचनमस्कार मंत्रकी आराधना करने लगा। उसके प्रभावसे कपटी सन्यासीकी सव शक्ति रुद्ध हो गई। वह राजाको कुछ कष्ट न दे सका। आखिर प्रगट होकर उसने राजासे कहा–दुष्ट, याद है? मैं जव तेरा रसोइया था, तव तूने मुझे जांनसे मार डाला था? वही आग आज मेरे हृदयको जला रही है, और उसीको बुझानेके लिये–अपने पूर्व भवका वैर निकालनेके लिये मैं तुझे यहाँ छलकर लाया हूँ और बहुत कष्टके साथ तुझे जानसे मारूंगा, जिससे फिर कभी तू ऐसा अनर्थ न करे। पर यदि तू एक काम करे तो वच भी सकता है। वह यह कि तू अपने मुँहसे पहले तो यह कहदे कि संसारमें जिनधर्म ही नहीं हैं और जो कुछ है वह अन्यधर्म है। इसके सिवा पंचनमस्कार मंत्रको जलमें लिखकर उसे अपने पाँवोंसे मिटादे, तव मैं तुझे छोड़ सकता हूं। मिथ्यादृष्टि ब्रह्मदत्तने उसके वहकानेमें आकर वही किया जैसा उसे देवने कहा

था। उसका व्यन्तरके कहे अनुसार करना था कि उसने चक्रवर्तीको उसी समय मारकर समुद्रमें फेंक दिया। अपना वैर उसने निकाल लिया। चक्रवर्ती मरकर मिथ्यात्वके उदयसे सातवें नरक गया। सच है--मिथ्यात्व अनन्त दुःखों-का देनेवाला है। जिसका जिनधर्मपर विश्वास नहीं, क्या उसे इस अनन्त दुःखमय संसारमें कभी सुख हुआ है? नहीं। मिथ्यात्वके समान संसारमें और कोई इतना निन्द्य नहीं है। उसीसे तो चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त सातवें नरक गया। इसलिये आत्महितके चाहनेवाले पुरुषोंको दूरसे ही मि-थ्यात्व छोड़कर स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्तिका कारण सम्यक्त्व ग्रहण करना उचित है।

संसारमें सच्चे देव अरहन्त भगवान् हैं, जो क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण, रोग, शोक, चिन्ता, भय, आदि दोषोंसे और धन धान्य, दासी दास, सोना, चांदी आदि दश प्रकारके परिग्र-हसे रहित हैं, जो इन्द्र, चक्रवर्ती, देव, विद्याधरों द्वारा वन्द्य हैं, जिनके वचन जीव मात्रको सुख देनेवाले और भवसमु-द्रसे तिरनेके लिये जहाज समान हैं, उन अर्हन्त भगवान्का आप पवित्र भावोंसे सदा ध्यान किया कीजिये कि जिससे वे आपके लिये कल्याण पथके प्रदर्शक हों।

---

१९. श्रेणिक राजाकी कथा।

वलज्ञानरूपी नेत्रके द्वारा समस्त संसारके पदार्थोंके देखने जाननेवाले और जगत्पूज्य श्रीजिनभगवान्‌को नमस्कार कर मैं राजा श्रेणिककी कथा लिखता हूं, जिसके पढ़नेसे सर्वसाधारणका हित होगा।

श्रेणिक मगध देशके अधीश्वर थे। मगधकी प्रधान राजधानी राजगृह थी। श्रेणिक कई विषयोंके सिवा राजनीतिके बहुत अच्छे विद्वान् थे। उनकी महारानी चेलनी बड़ी धर्मात्मा जिनभगवान्‌की भक्त और सम्यग्दर्शनसे विभूषित थी।

एक दिन श्रेणिकने उससे कहा-देखो, संसारमें वैष्णव धर्मकी बहुत प्रतिष्ठा है और वह जैसा सुख देनेवाला है वैसा और धर्म नहीं। इसलिये तुम्हें भी उसी धर्मका आश्रय स्वीकार करना उचित है।

सुनकर चेलनी देवी, जिसे कि जिनधर्मपर अगाध विश्वास है, बड़े विनयसे बोली—नाथ, अच्छी बात है, समय पाकर मैं इस विषयकी परीक्षा करूंगी।

इसके कुछ दिनों बाद चेलनीने कुछ *भागवत* साधुओंका अपने यहाँ निमंत्रण किया और बड़े गौरवके साथ अपने यहाँ उन्हें बुलाया। वहाँ आकर अपना ढोंग दिखलानेके लिये वे कपट मायाचारसे ईश्वराराधन करनेको

बैठे। उस समय चेलनीने उनसे पूछा, आप लोग क्या करते हैं? उत्तरमें उन्होंने कहा-देवी, हम लोग मलमूत्रादि अपवित्र वस्तुओंसे भरे हुए शरीरको छोड़कर अपने आत्माको विष्णु अवस्थामें प्राप्तकर स्वानुभवजन्य सुख भोगते हैं।

सुनकर देवी चेलनीने उस मंडपमें, जिसमें सब साधु ध्यान करनेको बैठे थे, आग लगवा दी। आग लगते ही वे सब कव्वेकी तरह भाग खड़े हुए। यह देख कर श्रेणिकने बड़े क्रोधके साथ चेलनीसे कहा-आज तुमने साधुओंके साथ बड़ा अनर्थ किया। यदि तुम्हारी उनपर भक्ति नहीं थी, तो क्या उसका यह अर्थ है कि उन्हें जानसे ही मार डालना? बतलाओ तो उन्होंने तुम्हारा क्या अपराध किया जिससे तुम उनके जीवनकी ही प्यासी हो उठी?

रानी बोली-नाथ, मैंने तो कोई बुरा काम नहीं किया और जो किया वह उन्हींके कहे अनुसार उनके लिये सुखका कारण था। मैंने तो केवल परोपकार बुद्धिसे ऐसा किया था। जब वे लोग ध्यान करनेको बैठे तब मैंने उनसे पूछा कि आप लोग क्या करते हैं? तब उन्होंने मुझे कहा था कि हम अपवित्र शरीर छोड़कर उत्तम सुखमय विष्णुपद प्राप्त करते हैं। तब मैंने सोचा कि ओहो, ये जब शरीर छोड़कर विष्णुपद प्राप्त करते हैं तब तो बहुत ही अच्छा है और इससे उत्तम यह होगा कि यदि ये निरन्तर विष्णु बने रहें। संसारमें बार बार आना और जाना यह इनके पीछे पचड़ा क्यों? यह विचार कर वे निरन्तर विष्णुपदमें रहकर सुखभोग करें,

इस परोपकार बुद्धिसे मैंने मंडपमें आग लगवा दी थी। आप ही अब विचार कर बतलाइये कि इसमें मैंने सिवा परोपकारके कौन बुरा काम किया? और सुनिये मेरे वचनोंपर आपको विश्वास हो, इसलिये एक कथा भी आपको सुनाये देती हूं।

"जिस समयकी यह कथा है, उस समय वत्सदेशकी राजधानी कोशाम्बीके राजा प्रजापाल थे। वे अपना राज्य-शासन नीतिके साथ करते हुए सुखसे समय बिताते थे। कोशाम्बीमें दो सेठ रहते थे। उनके नाम थे सागरदत्त और समुद्रदत्त। दोनों सेठोंमें परस्पर बहुत प्रेम था। उनका प्रेम उन्होंने सदा ऐसा ही दृढ़ बना रहे, इसलिये परस्परमें एक शर्त की। वह यह कि-"मेरे यदि पुत्री हुई तो मैं उसका व्याह तुम्हारे लड़केके साथ कर दूंगा और इसी तरह मेरे पुत्र हुआ तो तुम्हें अपनी लड़कीका व्याह उसके साथ कर देना पड़ेगा।"

दोनोंने उक्त शर्त स्वीकार की। इसके कुछ दिनों बाद सागरदत्तके घर पुत्रजन्म हुआ। उसका नाम वसुमित्र हुआ। पर उसमें एक बड़े भारी आश्चर्यकी बात थी। वह यह कि-वसुमित्र न जाने किस कर्मके उदयसे रातके समय तो एक दिव्य मनुष्य होकर रहता और दिनमें एक भयानक सर्प।

उधर समुद्रदत्तके घर कन्या हुई। उसका नाम रक्खा गया नागदत्ता। वह बड़ी खूब सूरत सुन्दरी थी। उसके पिताने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार उसका व्याह वसुमित्रके साथ कर दिया। सच है—

नैव वाचा चलत्वं स्यात्सतां कष्टशतैरपि।
(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञासे कभी विचलित नहीं होते। वसुमित्रका ब्याह हो गया। वह अब प्रतिदिन दिनमें तो सर्प बनकर एक पिटारेमें रहता और रातमें एक दिव्य पुरुष होकर अपनी प्रियाके साथ सुखोपभोग करता। सचमुच संसारकी विचित्र ही स्थिति होती है। इसी तरह उसे कई दिन बीत गये। एक दिन नागदत्ताकी माता अपनी पुत्रीको एक ओर तो यौवन अवस्थामें पदार्पण करती हुई और दूसरी ओर उसके विपरीत भाग्यको देखकर दुखी होकर बोली—हाय! दैवकी कैसी विडम्बना है, जो कहाँ तो देवबाला सरीखी सुन्दरी मेरी पुत्री और कैसा उसका अभाग्य जो उसे पति मिला एक भयंकर सर्प? उसकी दुःख भरी आहको नागदत्ताने सुन लिया। वह दौड़ी आकर अपनी मातासे बोली—माता, इसके लिये आप क्यों दुःख करती हैं? मेरा जब भाग्य ही ऐसा था, तब उसके लिये दुःख करना व्यर्थ है। और अभी मुझे विश्वास है कि मेरे स्वामीका इस दशासे उद्धार हो सकता है। इसके बाद नागदत्ताने अपनी माताको स्वामीके उद्धार सम्बन्धकी बात समझा दी।

सदाके नियमानुसार आज भी रातके समय वसुमित्र अपना सर्पका शरीर छोड़कर मनुष्यरूपमें आया और अपने शय्या-भवनमें पहुँचा। इधर समुद्रदत्ता छुपी हुई आकर वसुदत्तके पिटारेको वहाँसे उठाले आई और उसे उसी समय उसने जला डाला। तबसे वसुमित्र मनुष्यरूपमें ही अपनी प्रियाके साथ सुख भोगता हुआ अपना समय आनन्दसे

बिताने लगा *।" नाथ! उसी तरह ये साधु भी निरन्तर विष्णुलोकमें रहकर सुख भोगें यह मेरी इच्छा थी; इसलिये मैंने वैसा किया था। महारानी चेलनी की कथा सुनकर श्रेणिक उत्तर तो कुछ नहीं दे सके, पर वे उसपर बहुत गुस्सा हुए और उपयुक्त समय न देखकर वे अपने क्रोधको उस समय दबा भी गये।

एक दिन श्रेणिक शिकारके लिये गये हुए थे। उन्होंने वनमें यशोधर मुनिराजको देखा। वे उस समय आतप योग धारण किये हुए थे। श्रेणिकने उन्हें शिकारके लिये विघ्नरूप समझकर मारनेका विचार किया और बड़े गुस्सेमें आकर अपने क्रूर शिकारी कुत्तोंको उनपर छोड़ दिया। कुत्ते बड़ी निर्दयताके साथ मुनिके मारनेको झपटे। पर मुनिराजकी तपश्चर्याके प्रभावसे वे उन्हें कुछ कष्ट न पहुँच सके। बल्कि उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके पाँवोंके पास खड़े रह गये। यह देख श्रेणिकको और भी क्रोध आया। उन्होंने क्रोधान्ध होकर मुनिपर शर चलाना आरंभ किया। पर यह कैसा आश्चर्य जो शरोंके द्वारा उन्हें कुछ क्षति न पहुँच कर वे ऐसे जान पड़े मानो किसीने उनपर फूलोंकी वर्षा की है। सच बात यह है कि तपस्वियोंका प्रभाव कह कौन सकता है? श्रेणिकने मुनिहिंसारूप तीव्र परिणामों द्वारा उस समय सातवें नरककी आयुका बन्ध किया, जिसकी स्थिति तेतीस सागरकी है।

* यह कथा जैन धर्मसे विरुद्ध है। जान पड़ता है चेलिनीरानीने अपनी बातको पुष्ट करनेके लिये अन्यमतके ग्रन्थोंका प्रमाण देकर इसे उद्धृत किया है।

इन सब अलौकिक घटनाओंको देखकर श्रेणिकका पत्थरके समान कठोर हृदय फूलसा कोमल हो गया। उनके हृदयकी सब दुष्टता निकलकर उसमें मुनिके प्रति पूज्यभाव पैदा हो गया। वे मुनिराजके पास गये और भक्तिसे उन्होंने मुनिके चरणोंको नमस्कार किया। यशोधर मुनिराजने श्रेणिकके हितके लिये उपयुक्त समय समझकर उन्हें अहिंसामयी पवित्र जिनशासनका उपदेश दिया। उसका श्रेणिकके हृदयपर बहुत ही असर पड़ा। उनके परिणामोंमें विलक्षण परिवर्तन हुआ। उन्हें अपने कृतकर्मपर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। मुनिराजके उपदेशानुसार उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया। उसके प्रभावसे, उन्होंने जो सातवें नर्ककी आयुका बन्ध किया था, वह उसी समय घटकर पहले नरकका रह गया, जहांकी स्थिति चौरासी हजार वर्षोंकी है। ठीक है सम्यग्दर्शनके प्रभावसे भव्यपुरुषोंको क्या प्राप्त नहीं होता?

इसके बाद श्रेणिकने श्रीचित्रगुप्त मुनिराजके पास क्षयोपशमसम्यक्त्व प्राप्त किया और अन्तमें भगवान् वर्धमान स्वामीके द्वारा शुद्ध क्षायिकसम्यक्त्व, जो कि मोक्षका कारण है, प्राप्त कर पूज्य तीर्थंकर नाम प्रकृतिका बन्ध किया। श्रेणिक महाराज अब तीर्थंकर होकर निर्वाण लाभ करेंगे।

वे केवल ज्ञानरूपी प्रदीप श्रीजिनभगवान् संसारमें सदाकाल विद्यमान रहें, जो इंद्र, देव, विद्याधर, चक्रवर्त्ती द्वारा पूज्य हैं और जिनके पवित्र उपदेशके हृदयमें मनन और ग्रहण द्वारा मनुष्य निर्मल लक्ष्मीको प्राप्त करनेका पात्र होता है—मोक्षलाभ करता है।

२०–पद्मरथ राजाकी कथा।

इंद्र, धरणेन्द्र, विद्याधर, राजा, महाराजाओं द्वारा पूज्य जिनभगवानके चरणोंको नमस्कार कर मैं पद्मरथ राजाकी कथा लिखता हूं, जो प्रसिद्ध जिनभक्त हुआ है।

मगध देशके अन्तर्गत एक मिथिला नामकी सुन्दर नगरी थी। उसके राजा थे पद्मरथ। वे बड़े बुद्धिमान् और राजनीतिके अच्छे जाननेवाले थे, उदार और परोपकारी थे। सुतरां वे खूब प्रसिद्ध थे।

एक दिन पद्मरथ शिकारके लिये वनमें गये हुए थे। उन्हें एक खरगोश दीख पड़ा। उन्होंने उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया। खरगोश उनकी नजर बाहर होकर न जाने कहाँ अदृश्य हो गया। पद्मरथ भाग्यसे कालगुफा नामकी एक गुहामें जा पहुँचे। वहाँ एक मुनिराज रहा करते थे। वे बड़े तपस्वी थे। उनका दिव्य देह तपके प्रभावसे अपूर्व तेज धारण कर रहा था। उनका नाम था सुधर्म। पद्मरथ रत्नत्रय विभूषित और परम शान्त मुनिराजके पवित्र दर्शनसे बहुत शान्त हुए। जैसे तपा हुआ लोहपिंड जलसे शान्त हो जाता है। वे उसी समय घोड़ेपरसे उतर पड़े और मुनिराजको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उन्होंने उनके द्वारा धर्मका पवित्र उपदेश सुना। उपदेश उन्हें बहुत रुचा। उन्होंने सम्यक्त्व पूर्वक अणुव्रत ग्रहण किये। इसके बाद उन्होंने मुनिराजसे पूछा–हे प्रभो हे! संसारके आधार! कहिये तो

इस समय जिनधर्मरूप समुद्रको बढ़ानेवाले आप सरीखे गुणज्ञ चन्द्रमा और भी कोई है या नहीं? और है तो कहाँ है? हे करुणासागर! मेरे इस सन्देहको मिटाइये।

उत्तरमें मुनिराजने कहा-राजन्! चम्पानगरीमें इस समय बारवें तीर्थंकर भगवान् वासुपूज्य विराजमान हैं। उनके भौतिक शरीरके तेजकी समानता तो अनेक सूर्य मिलकर भी नहीं कर सकते और उनके अनन्त ज्ञानादि गुणोंको देखते हुए मुझमें और उनमें राई और सुमेरुका अन्तर है। भगवान् वासुपूज्यका समाचार सुनकर पद्मरथको उनके दर्शनोंकी अत्यन्त उत्कण्ठा हुई। वे उसी समय फिर वहाँसे बड़े वैभवके साथ भगवान्के दर्शनोंके लिये चले। यह हाल धन्वन्तरी और विश्वानुलोम नामके दो देवोंको जान पड़ा। सो वे पद्मरथकी परीक्षाके लिये मध्यलोकमें आये। उन्होंने पद्मरथकी भक्तिकी दृढ़ता देखनेके लिये रास्तेमें उनपर उपद्रव करना शुरू किया। पहले उन्होंने उन्हें एक भयंकर कालसर्प दिखलाया, इसके बाद राज्यछत्रका भंग, अग्निका लगना, प्रचण्ड वायुद्वारा पर्वत और पत्थरोंका गिरना, असमयमें भयंकर जलवर्षा और खूब कीचड़ मय मार्ग और उसमें फँसा हाथी आदि दिखलाया। यह उपद्रव देखकर साथके सब लोग भयके मारे अधमरे हो गये। मंत्रियोंने यात्रा अमंगलमय बतलाकर पद्मरथसे पीछे लौट चलनेके लिये आग्रह किया। परन्तु पद्मरथने किसीकी बात नहीं सुनी और बड़ी प्रसन्नताके साथ "नमः श्रीवासुपूज्याय" कहकर अपना हाथी आगे

बढ़ाया। पद्मरथकी इस प्रकार अचल भक्ति देखकर दोनों देवोंने उनकी बहुत बहुत प्रशंसा की। इसके बाद वे पद्मरथको सब रोगोंको नष्ट करनेवाला एक दिव्य हार और एक बहुत सुन्दर वीणा, जिसकी आवाज एक योजन पर्यन्त सुनाई पड़ती है, देकर अपने स्थान चले गये। ठीक कहा है–जिनके हृदयमें जिनभगवान्‌की भक्ति सदा विद्यमान रहती है, उनके सब काम सिद्ध हों, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पद्मरथने चम्पानगरीमें पहुँच कर समवसरणमें विराजे हुए, आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित, देव, विद्याधर, राजा, महाराजाओं द्वारा पूज्य, केवलज्ञान द्वारा संसारके सब पदार्थोंको जानकर धर्मका उपदेश करते हुए और अनन्त जन्मोंमें बाँधे हुए मिथ्यात्वको नष्ट करनेवाले भगवान् वासुपूज्यके पवित्र दर्शन किये, उनकी पूजा की, स्तुति की और उपदेश सुना। भगवान्‌के उपदेशका उनके हृदयपर बहुत प्रभाव पड़ा। वे उसी समय जिनदीक्षा लेकर तपस्वी हो गये। प्रवृजित होते ही उनके परिणाम इतने विशुद्ध हुए कि उन्हें अवधि और मनःपर्ययज्ञान हो गया। भगवान् वासुपूज्यके वे गणधर हुए। इसलिये भव्य पुरुषोंको उचित है कि वे मिथ्यात्व छोड़कर स्वर्ग-मोक्षकी देनेवाली जिनभगवान्‌की भक्ति निरन्तर पवित्र भावोंके साथ करें और जिस प्रकार पद्मरथ सच्चा जिनभक्त हुआ उसी प्रकार वे भी हों।

जिनभक्ति सब प्रकारका सांसारिक सुख देती है और परम्परा मोक्षकी प्राप्तिका कारण है, जो केवलज्ञान द्वारा संसारके प्रकाशक हैं, और सत्पुरुषों द्वारा पूज्य हैं, वे भग-

वान् वासुपूज्य सारे संसारको मोक्ष सुख प्रदान करें-कर्मोंके उदयसे घोर दुःख सहते हुए जीवोंका उद्धार करें।

२१-पंच नमस्कारमंत्र-माहात्म्य कथा।

मोक्षसुख प्रदान करनेवाले श्रीअर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार कर पंच नमस्कारमंत्रकी आराधना द्वारा फल प्राप्त करनेवाले सुदर्शनकी कथा लिखी जाती है।

अंगदेशकी राजधानी चम्पानगरीमें गजवाहन नामके एक राजा हो चुके हैं। वे बहुत खूबसूरत और साथ ही बड़े भारी शूरवीर थे। अपने तेजसे शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर सारे राज्यको उन्होंने निष्कण्टक बना लिया था। वहीं वृषभदत्त नामके एक सेठ रहा करते थे। उनकी गृहिणीका नाम था अर्हद्दासी। अपनी प्रियापर सेठका बहुत प्रेम था। वह भी सच्ची पतिभक्तिपरायणा थी, सुशीला थी, सती थी, वह सदा जिनभक्तिमें तत्पर रहा करती थी।

वृषभदत्तके यहाँ एक गुवाल नौकर था। एक दिन वह वनसे अपने घरपर आ रहा था। समय शीतकालका था। जाड़ा खूब पड़ रहा था। उस समय रास्तेमें उसे एक ऋद्धिधारी मुनिराजके दर्शन हुए, जो कि एक शिलापर ध्यान लगाये बैठे हुए थे। उन्हें देखकर गुवालेको बड़ी दया आई।

वह यह विचार कर, कि अहा! इनके पास कुछ वस्त्र नहीं है और जाड़ा इतने जोरका पड़ रहा है, तब भी ये इसी शिलापर बैठे हुए ही रात बिता डालेंगे, अपने घर गया और आधी रातके समय अपनी स्त्रीको साथ लिये पीछा मुनिराजके पास आया। मुनिराजको जिस अवस्थामें बैठे हुए वह देख गया था, वे अब भी उसी तरह ध्यानस्थ बैठे हुए थे। उनका सारा शरीर ओससे भींग रहा था। उनकी यह हालत देखकर दयाबुद्धिसे उसने मुनिराजके शरीरपरसे ओसको साफ किया और सारी रात वह उनके पाँव दाबता रहा—सब तरह उनकी वैयावृत्य करता रहा। सवेरा होते ही मुनिराजका ध्यान पूरा हुआ। उन्होंने आँख उठाकर देखा तो गुवालेको पास ही बैठा पाया। मुनिराजने गुवालेको निकटभव्य समझकर पंच नमस्कारमंत्रका उपदेश किया, जो कि स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्तिका कारण है। इसके बाद मुनिराज भी पंचनमस्कारमंत्रका उच्चारण कर आकाशमें विहार कर गये।

गुवालेकी धीरे धीरे मंत्रपर बहुत श्रद्धा हो गई। वह किसी भी कामको जब करने लगता तो पहले ही नमस्कारमंत्रका स्मरण कर लिया करता था। एक दिन जब गुवाला मंत्र पढ़ रहा था, तब उसे उसके सेठने सुन लिया। वे मुस्कुराकर बोले—क्योंरे, तूने यह मंत्र कहाँसे उड़ाया? गुवालेने पहलेकी सब बात अपने स्वामीसे कहदी। सेठने प्रसन्न होकर गुवालेसे कहा—भाई, क्या हुआ यदि तू छोटे भी कुलमें उत्पन्न हुआ? पर आज तू कृतार्थ हुआ, जो तुझे त्रिलोकपूज्य

मुनिराजके दर्शन हुए। सच बात है सत्पुरुष धर्मके बड़े प्रेमी हुआ करते हैं।

एक दिन गुवाला भैंसें चरानेके लिये जंगलमें गया। समय वर्षाका था। नदी नाले सब पूर थे। उसकी भैंसें चरनेके लिये नदी पार जाने लगीं। सो उन्हें लौटा लानेकी इच्छासे गुवाला भी उनके पीछे ही नदीमें कूद पड़ा। जहाँ वह कूदा वहीं एक नुकीला लकड़ा गड़ा हुआ था। सो उसके कूदते ही लकड़ेकी नोख उसके पेटमें जा घुसी। उससे उसका पेट फट गया। वह उसी समय मर गया। वह जिस समय नदीमें कूदा था, उस समय सदाके नियमानुसार पंचनमस्कारमंत्रका उच्चारण कर कूदा था। वह मरकर मंत्रके प्रभावसे वृषभदत्तके यहाँ पुत्र हुआ। वह जाता तो कहीं स्वर्गमें, पर उसने वृषभदत्तके यहीं उत्पन्न होनेका निदान कर लिया था, इसलिये निदान उसकी ऊँची गतिका बाधक बन गया। उसका नाम रक्खा गया सुदर्शन। सुदर्शन बड़ा सुन्दर था। उसका जन्म मातापिताके लिये खूब उत्कर्षका कारण हुआ। पहलेसे कई गुणी सम्पत्ति उनके पास बढ़ गई। सच है--पुण्यवानोंके लिये कहीं भी कुछ कमी नहीं रहती।

वहीं एक सागरदत्त सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम था सागरसेना। उसके एक पुत्री थी। उसका नाम मनोरमा था। वह बहुत सुन्दरी थी। देवकन्यायें भी उसकी रूपमाधुरीको देखकर शर्मा जाती थी। उसका ब्याह सुदर्शनके साथ हुआ। दोनों दम्पति सुखसे रहने लगे।

एक दिन वृषभदत्त समाधिगुप्त मुनिराजके दर्शन करनेके लिये गये। वहाँ उन्होंने मुनिराज द्वारा धर्मोपदेश सुना। उपदेश उन्हें बहुत रुचा और उसका प्रभाव भी उनपर खूब पड़ा। संसारकी दशा देखकर उन्हें बहुत वैराग्य हुआ। वे घरका कारोबार सुदर्शनके सुपुर्दकर समाधिगुप्त मुनिराजके पास दीक्षा लेकर तपस्वी बन गये।

पिताके प्रव्रजित हो जानेपर सुदर्शनने भी खूब प्रतिष्ठा सम्पादन की। राजदरबारमें भी उसकी पिताके जैसी ही पूछताछ होने लगी। वह सर्व साधारणमें खूब प्रसिद्ध हो गया। सुदर्शन न केवल लौकिक कार्योंमें ही प्रेम करता था; किन्तु वह उस समय एक बहुत धार्मिक पुरुष गिना जाता था। वह सदा जिनभगवान्‌की भक्तिमें तत्पर रहता, श्रावकके व्रतोंका श्रद्धाके साथ पालन करता, दान देता, पूजन स्वाध्याय करता। यह सब होनेपर भी ब्रह्मचर्यमें वह बहुत दृढ़ था।

एक दिन मगधाधीश्वर गजवाहनके साथ सुदर्शन वनविहारके लिये गया। राजाके साथ राजमहिषी भी थी। सुदर्शन सुन्दर तो था ही, सो उसे देखकर राजरानी कामके पाशमें बुरी तरह फँसी। उसने अपनी एक परिचारिकाको बुलाकर पूछा—क्यों तू जानती है कि महाराजके साथ आगन्तुक कौन हैं? और ये कहाँ रहते हैं?

परिचारिकाने कहा—देवी, आप नहीं जानतीं, ये तो अपने प्रसिद्ध राजश्रेष्ठी सुदर्शन हैं।

राजमहिषीने कहा–हाँ! तब तो ये अपनी राजधानीके भूषण हैं। अरी, देख तो इनका रूप कितना सुन्दर, कितना मनको अपनी ओर खींचनेवाला है? मैंने तो आजतक ऐसा सुन्दर नररत्न नहीं देखा। मैं तो कहती हूं, इनका रूप स्वर्गके देवोंसे भी कहीं बढ़कर है। तूने भी कभी ऐसा सुन्दर पुरुष देखा है।

वह बोली–महारानीजी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनके समान सुन्दर पुरुषरत्न तीन लोकमें भी नहीं मिलेगा।

राजमहिषीने उसे अपने अनुकूल देखकर कहा–हाँ तो तुझसे मुझे एक बात कहना है।

वह बोली–वह क्या, महारानीजी?

महारानी बोली–पर तू उसे करदे तो मैं कहूं।

वह बोली–देवी, भला, मैं तो आपकी गुलाम हूं, फिर मुझे आपकी आज्ञा पालन करनेमें क्यों इन्कार होगा। आप निःसंकोच होकर कहिये। जहाँतक मेरा बस चलेगा, मैं उसे पूरी करूंगी।

महारानीने कहा–देख, मेरा तेरेपर पूर्ण विश्वास है, इसलिये मैं अपने मनकी बात तुझे कहती हूं। देखना कहीं मुझे धोका न देना? तो सुन, मैं जिस सुदर्शनकी बाबत ऊपर तुझसे कह आई हूं, वह मेरे हृदयमें स्थान पा गया है। उसके बिना मुझे संसार निस्सार और सूना जान पड़ता है। तू यदि किसी प्रयत्नसे मुझे उससे मिलादे तब ही मेरा जीवन बच सकता है। अन्यथा समझ संसारमें मेरा जीवन कुछ ही दिनोंके लिये है।

वह महारानीकी बात सुनकर पहले तो कुछ विस्मित-सी हुई, पर थी तो आखिर पैसेकी गुलाम ही न? उसने महारानीकी आज्ञा पूरी कर देनेके बदलेमें अपनेको आशातीत धनकी प्राप्ति होगी, इस विचारसे कहा—महारानीजी, बस यही बात है? इसीके लिये आप इतनी निराश हुई जाती हैं? जबतक मेरे दममें दम है तबतक आपको निराश होनेका कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। मैं आपकी आशा अवश्य पूरी करूंगी। आप घबरावें नहीं। बहुत ठीक लिखा है—

असभ्य दुष्टनारीभिर्निन्दितं क्रियते न किम्।

[ब्रह्म नेमिदत्त.]

अर्थात्—असभ्य और दुष्ट स्त्रियाँ कौन बुरा काम नहीं करतीं? अभयाकी धाय भी ऐसी ही स्त्रियोंमेंसे थी। फिर वह क्यों इस काममें अपना हाथ न डालती? वह अब सुदर्शनको राजमहलमें ले आनेके प्रयत्नमें लगी।

सुदर्शन एक धर्मात्मा श्रावक था। वह वैरागी था। संसारमें रहता तब भी सदा उससे छुटकारा पानेके उपायमें लगा रहता था। इसीलिये वह ध्यानका भी अभ्यास किया करता था। अष्टमी और चतुर्दशीकी रात्रिमें वह भयंकर श्मशानमें जाकर ध्यान करता। धायको सुदर्शनके ध्यानकी बात मालूम थी। उसने सुदर्शनको राजमहलमें लिवा लेजानेको एक षड्यंत्र रचा। एक दिन वह एक कुम्हारके पास गई और उससे मनुष्यके आकारका एक मिट्टीका पुतला बनवाया और उसे वस्त्र पहराकर वह राज-

महल लिवा ले चली। महलमें प्रवेश करते समय पहरेदारोंने उसे रोका और पूछा कि यह क्या है? वह उसका कुछ उत्तर न देकर आगे बढ़ी। पहरेदारोंने उसे नहीं जाने दिया। उसने गुस्सेका ढोंग बनाकर पुतलेको जमीनपर दे मारा। वह चूर चूर हो गया। इसके साथ ही उसने कड़क कर कहा–पापियो, दुष्टो, तुमने आज बड़ा अनर्थ किया है। तुम नहीं जानते कि महारानीके नरव्रत था, सो वे इस पुतलेकी पूजा करके भोजन करतीं। सो तुमने इसे फोड़ डाला है। अब वे कभी भोजन नहीं करेंगी। देखो, मैं अब महारानीसे जाकर तुम्हारी दुष्टताका हाल कहती हूं। फिर वे सवेरे ही तुम्हारी क्या गति करती हैं? तुम्हारी दुष्टता सुनकर ही वे तुम्हें जानसे मरवा डालेंगी। धायकी धूर्ततासे बेचारे पहरेदारोंके प्राण सूख गये। उन्हें काटो तो खून नहीं। मारे डरके वे थर थर काँपने लगे। वे उसके पाँवोंमें पड़कर अपने प्राण बचानेकी उससे भीख माँगने लगे। बड़ी आर्जू मिन्नत करनेपर उसने उनसे कहा–तुम्हारी यह दशा देखकर मुझे दया आती है। खैर, मैं तुम्हारे बचानेका उपाय करूंगी। पर याद रखना अब तुम मुझे कोई काम करते समय मत छेड़ना। तुमने इस पुतलेको तो फोड़ डाला, बतलाओ अब महारानी आज अपना व्रत कैसे पूरा करेंगी? और न इसी समय और दूसरा पुतला ही बन सकता है। अस्तु। फिर भी मैं कुछ उपाय करती हूं। जहाँतक बन पड़ा वहाँतक तो दूसरा पुतला ही बनवाकर लाती हूं और यदि नहीं बन सका तो किसी जिन्दा ही पुरुषको मुझे थोड़ी देरके लिये लाना पड़ेगा। तुम्हें

सचेत करती हूं कि उस समय मैं किसीसे नहीं बोलूंगी, इस लिये तुम मुझसे कुछ कहना सुनना नहीं। बेचारे पहरेदारोंको तो अपनी जानकी पड़ी हुई थी, इसलिये उन्होंने हाथ जोड़कर कह दिया कि–अच्छा, हम लोग आपसे अब कुछ नहीं कहेंगे। आप अपना काम निडर होकर कीजिये।

इस प्रकार वह धूर्त्ता सब पहरेदारोंको अपने वशकर उसी समय श्मशानमें पहुँची। श्मशान जलती हुई चिताओंसे बड़ा भयंकर बन रहा था। उसी भयंकर श्मशानमें सुदर्शन कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। महारानी अभयाकी परिचारिकाने उसे उठा लाकर महारानीके सुपुर्द कर दिया। अभया अपनी परिचारिकापर बहुत प्रसन्न हुई। सुदर्शनको प्राप्तकर उसके आनन्दका कुछ ठिकाना न रहा, मानो उसे अपनी मनमानी निधि मिल गई। वह कामसे तो अत्यन्त पीड़ित थी ही, उसने सुदर्शनसे बहुत अनुनय विनय किया, इसलिये कि वह उसकी इच्छा पूरी करके उसे सुखी करे–कामाग्निसे जलते हुए शरीरको आलिंगनसुधा प्रदान कर शीतल करे। पर सुदर्शनने उसकी एक भी बातका उत्तर नहीं दिया। यह देख रानीने उसके साथ अनेक प्रकारकी कुचेष्टायें करनी आरंभ की, जिससे वह विचलित हो जाय। पर तब भी रानीकी इच्छा पूरी नहीं हुई। सुदर्शन मेरुसा निश्चल और समुद्रसा गंभीर बना रहकर जिनभगवान्‌के चरणोंका ध्यान करने लगा। उसने प्रतिज्ञा की कि यदि मैं इस उपसर्गसे बच गया तो अब संसारमें न रहकर साधु हो जाऊँगा। प्रतिज्ञाकर वह काष्ठकी तरह निश्चल होकर ध्यान करने लगा। बहुत ठीक लिखा है–

सन्तः कष्टशतैश्चापि चारित्रान्न चलन्ति हो।

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सहलेते हैं, पर अपने व्रतसे कभी नहीं चलते। अनेक तरहका यत्न, अनेक कुचेष्टायें करनेपर भी जब रानी सुदर्शनको शीलशैलसे न गिरा सकी, उसे तिलभर भी विचलित नहीं कर सकी, तब शर्मिन्दा होकर उसने सुदर्शनको कष्ट देनेके लिये एक नया ही ढोंग रचा। उसने अपने शरीरको नखोंसे खूब खुजा डाला, अपने कपड़े फाड़ डाले, भूषण तोड़ फोड़ डाले और यह कहती हुई वह जोर जोरसे हिचकियाँ ले लेकर रोने लगी कि हाय! इस पापी दुराचारीने मेरी यह हालत करदी। मैंने तो इसे भाई समझकर अपने महल बुलाया था। मुझे क्या मालूम था कि यह इतना दुष्ट होगा? हाय! दौड़ो!! मुझे बचाओ! मेरी रक्षा करो! यह पापी मेरा सर्व नाश करना चाहता है। रानीके चिल्लाते ही बहुतसे नौकर चाकर दौड़े आये और सुदर्शनको बांधकर वे महाराजके पास लिवाले गये। सच है—

किं न कुर्वन्ति पापिन्यो निंद्यं दुष्टस्त्रियो भुवि।

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्-पापिनी और दुष्ट स्त्रियाँ संसारमें कौन बुरा काम नहीं करतीं? अभया भी ऐसी ही स्त्रियोंमें एक थी। इसलिये उसने अपना चरित कर बतलाया। महाराजको जब यह हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने क्रोधमें आकर सुद-

र्शनको मार डालनेका हुक्म दे दिया। महाराजकी आज्ञा होते ही जल्लाद लोग उसे श्मशानमें लिवा ले गये। उनमेंसे एकने अपनी तेज तलवार सुदर्शनके गलेपर दे मारी। पर यह हुआ क्या? जो सुदर्शनको उससे कुछ कष्ट नहीं पहुँचा और उलटा उसे वह तलवारका मारना ऐसा जान पड़ा, मानो किसीने उसपर फूलकी माला फेंकी हो। जान पड़ा यह सब उसके अखण्ड शीलव्रतका प्रभाव था। ऐसे कष्टके समय देवोंने आकर उसकी रक्षा की और स्तुति की कि सुदर्शन, तुम धन्य हो, तुम सच्चे जिनभक्त हो, सच्चे श्रावक हो, तुम्हारा ब्रह्मचर्य अखण्ड है, तुम्हारा हृदय सुमेरुसे भी कहीं अधिक निश्चल है। इस प्रकार प्रशंसा कर देवोंने उसपर सुगन्धित फूलोंकी वर्षा की और धर्मप्रेमके वश होकर उसकी पूजा की। सच है—

> अहो पुण्यवतां पुंसां कष्टं चापि सुखायते।
> तस्माद्भव्यैः प्रयत्नेन कार्यं पुण्यं जिनोदितम्॥
>
> [ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्—पुण्यवानोंके लिये दुःख भी सुखके रूपमें परिणत हो जाता है। इसलिये भव्य पुरुषोंको जिनभगवान्के कहे मार्गसे पुण्यकर्म करना चाहिये। भक्तिपूर्वक जिनभगवान्की पूजा करना, पात्रोंको दान देना, ब्रह्मचर्यका पालना, अणुव्रतोंका पालन करना, अनाथ, अपाहिज दुखियोंको सहायता देना, विद्यालय, पाठशाला खुलवाना, उनमें सहायता देना, विद्यार्थियोंको छात्र वृत्तियाँ देना, आदि पुण्यकर्म हैं। सुदर्शनके व्रतमाहात्म्यका हाल महाराजको मालूम हुआ। वे

उसी समय सुदर्शनके पास आये और उन्होंने उससे अपने अविचारके लिये क्षमा माँगी।

सुदर्शनको संसारकी इस लीलासे बड़ा वैराग्य हुआ। वह अपना कारोवार सब सुकान्त पुत्रको सौंपकर वनमें गया और त्रिलोकपूज्य विमलवाहन मुनिराजको नमस्कार कर उनके पास प्रव्रजित हो गया। मुनि होकर सुदर्शनने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चर्या द्वारा घातिया कर्मोंका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और अनेक भव्य पुरुषोंको कल्याणका मार्ग दिखलाकर तथा देवादि द्वारा पूज्य होकर अन्तमें वह निरावाध, अनन्त सुखमय मोक्षधाममें पहुँच गया।

इस प्रकार नमस्कार मंत्रका माहात्म्य जानकर भव्योंको उचित है कि वे प्रसन्नताके साथ उसपर विश्वास करें और प्रतिदिन उसकी आराधना करें।

धर्मात्माओंके नेत्ररूपी कुमुद-पुष्पोंके प्रफुल्लित करनेवाले –आनन्द देनेवाले, और श्रुतज्ञानके समुद्र, तथा मुनि, देव, विद्याधर, चक्रवर्ती–आदि द्वारा पूज्य, केवलज्ञान रूपी कान्तिसे शोभायमान भगवान् जिनचन्द्र संसारमें सदा काल रहें।

२१—यमसुनिकी कथा।

मैं देव, गुरु और जिनवाणीको नमस्कार कर यममुनिकी कथा लिखता हूं, जिन्होंने वहुत ही थोड़ा ज्ञान होनेपर भी अपनेको मुक्तिका पात्र वना लिया और अन्तमें वे मोक्ष गये। यह कथा सव सुखकी देनेवाली है।

उड्रदेशके अन्तर्गत एक धर्म नामका प्रसिद्ध और सुन्दर शहर है। उसके राजा थे यम। वे वुद्धिमान् और शास्त्रज्ञ थे। उनकी रानीका नाम धनवती था। धनवतीके एक पुत्र और एक पुत्री थी। उनके नाम थे गर्दभ और कोणिका। कोणिका वहुत सुन्दरी थी। धनवतीके अतिरिक्त राजाकी और भी कई रानियाँ थीं। उनके पुत्रोंकी संख्या पाँचसौ थी। ये पाँचसौ ही भाई धर्मात्मा थे और संसारसे उदासीन रहा करते थे। राजमंत्रीका नाम था दीर्घ। वह वहुत बुद्धिमान् और राजनीतिका अच्छा जानकार था। राजा इन सव साधनोंसे वहुत सुखी थे। और अपना राज्य भी वड़ी शान्तिसे करते थे।

एक दिन एक राज ज्योतिषीने कोणिकाके लक्षण वगैरह देखकर राजासे कहा—महाराज, राजकुमारी वड़ी भाग्यवती है। जो इसका पति होगा वह सारी पृथ्वीका स्वामी

होगा। यह सुनकर राजा बहुत खुश हुए और उस दिनसे वे उसकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करने लगे, उन्होंने उसके लिये एक बहुत सुन्दर और भव्य तलग्रह बनवा दिया। वह इसलिये कि उसे और छोटा मोटा बलवान् राजा न देख पाये।

एक दिन उसकी राजधानीमें पाँचसौ मुनियोंका संघ आया। संघके आचार्य थे महामुनि सुधर्माचार्य। संसारका हित करना उनका एक मात्र व्रत था। बड़े आनन्द उत्साहके साथ शहरके सब लोग अनेक प्रकारका पूजनद्रव्य हाथोंमें लिये हुए आचार्यकी पूजाके लिये गये। उन्हें जाते हुए देख राजा भी अपने पाण्डित्यके अभिमानमें आकर मुनियोंकी निन्दा करते हुए उनके पास गये। मुनिनिन्दा और ज्ञानका अभिमान करनेसे उसी समय उनके कोई ऐसा कर्मोंका तीव्र उदय आया कि उनकी सब बुद्धि नष्ट हो गई। वे महामूर्ख बन गये। इसलिये जो उत्तम पुरुष हैं और ज्ञानी बनना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे कभी ज्ञानका गर्व न करें और ज्ञानहीका क्यों? किन्तु कुल, जाति, बल, ऋद्धि, ऐश्वर्य, शरीर, तप, पूजा, प्रतिष्ठा-आदि किसीका भी गर्व–अभिमान न करें। इनका अभिमान करना बड़ा दुःखदायी है।

अपनी यह हालत देखकर राजाका होश ठिकाने आया। वे एक साथ ही दाँतरहित हाथीकी तरह गर्व रहित हो गये। उन्होंने अपने कृत कर्मोंका बहुत पश्चात्ताप किया और मुनिराजको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनसे धर्मोपदेश सुना, जो कि जीव मात्रको सुखका देनेवाला है। धर्मो-

पदेशसे उन्हें बहुत शान्ति मिली। उसका असर भी उन-
पर बहुत पड़ा। वे संसारसे विरक्त हो गये। वे उसी समय
अपने गर्दभनामके पुत्रको राज्य सौंपकर अपने अन्य
पाँचसौ पुत्रोंके साथ, जो कि बालपनहीसे वैरागी रहा
करते थे, मुनि हो ये। मुनि हुए बाद उन सबने खूब
शास्त्रोंका अभ्यास किया। आश्चर्य है कि वे पाँचसौ ही
भाई तो खूब विद्वान् हो गये, पर राजाको–यममुनिको पंच
नमस्कार मंत्रका उच्चारण करना तक भी नहीं आया।
अपनी यह दशा देखकर यममुनि बड़े शर्मिन्दा और दुःखी
हुए। उन्होंने वहाँ रहना उचित न समझ अपने गुरुसे तीर्थ-
यात्रा करनेकी आज्ञा ली और अकेले ही वहाँसे वे निकल
पड़े। यममुनि अकेले ही यात्रा करते हुए एक दिन
स्वच्छन्द होकर रास्तेमें जा रहे थे। जाते हुए उन्होंने एक
रथ देखा। रथमें गधे जुते हुए थे और उसपर एक आद-
मी बैठा हुआ था। गधे उसे एक हरे धानके खेतकी ओर
लिये जा रहे थे। रास्तेमें मुनिको जाते हुए देखकर रथपर
बैठे हुए मनुष्यने उन्हें पकड़ लिया और लगा वह उन्हें
कष्ट पहुँचाने। मुनिने कुछ ज्ञानका क्षयोपशम होजानेसे
एक खण्ड गाथा बनाकर पढ़ी। वह गाथा यह थी–

कट्टसि पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पेच्छसि
खादिदुमिति।

अर्थात्–रे गधो, कष्ट उठाओगे, तो तुम जव भी खा सकोगे।

इसी तरह एक दिन कुछ बालक खेल रहे थे। वहीं को-
णिका भी न जाने किसी तरह पहुँच गई। उसे देखकर सब

वालक डरे। उस समय कोणिका को देखकर यमभुनिने एक और खण्ड गाथा वनाकर आत्माके प्रति कहा। वह गाथा यह थी—

अण्णत्थ किं पलोवह तुम्हे पत्थणिवुद्धि
या छिद्दे अच्छई कोणिआ इति।

अर्थात्–दूसरी ओर क्या देखते हो? तुम्हारी पत्थर सरीखी कठोर बुद्धिको छेदनेवाली कोणिका तो है।

एक दिन यमभुनिने एक मेंडकको एक कमल पत्रकी आड़में छुपे हुए सर्पकी ओर आते हुए देखा। देखकर वे मेंडकसे वोले—

अम्हादो णत्थि भयं दीहादो दीसदे भयं तुम्हे त्ति।

अर्थात्–मुझे–मेरे आत्माको तो किसीसे भय नहीं है। भय है, तो तुम्हें।

वस, यमभुनिने जो ज्ञान सम्पादन कर पाया, वह इतना था। वे इन्हीं तीन खण्ड गाथाओंका स्वाध्याय करते, पाठ करते और कुछ उन्हें आता नहीं था। इसी तरह पवित्रात्मा और धर्मानुयायी यमभुनि अनेक तीर्थोंकी यात्रा करते हुए धर्मपुरकी ओर आ निकले। वे शहर वाहर एक वगीचेमें कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे। उनके पीछे लौट आनेका हाल उनके पुत्र गर्दभ और राजमंत्री दीर्घको ज्ञात हुआ। उन्होंने समझा कि ये हमसे पीछा राज्य लेनेको आये हैं। सो वे दोनों भुनिके मारनेका विचार कर आधीरातके समय वनमें गये। और तलवार खींचकर उनके पीछे खड़े हो गये। आचार्य कहते हैं कि—

धिक्राज्यं धिङ्मूर्खत्वं कातरत्वं च धिक्तराम्।
निस्पृहाच्च मुनेर्येन शंका राज्येऽभवत्तयोः ॥

अर्थात्–ऐसे राज्यको, ऐसी मूर्खता और ऐसे डरपोंकपनेको धिक्कार है, जिससे एक निस्पृह और संसारत्यागी मुनिके द्वारा राज्यके छिने जानेका उन्हें भय हुआ। गर्दभ और दीर्घ, मुनिकी हत्या करनेको तो आये पर उनकी हिम्मत उन्हें मारनेकी नहीं पड़ी। वे वारवार अपनी तलवारोंको म्यानमें रखने लगे और बाहर निकालने लगे। उसी समय यममुनिने अपनी स्वाध्यायकी पहली गाथा पढ़ी, जो कि ऊपर लिखी जा चुकी है। उसे सुनकर गर्दभने अपने मंत्रीसे कहा–जान पड़ता है मुनिने हम दोनोंको देख-लिया। पर साथ ही जब मुनिने आधी गाथा फिर पढ़ी तब उसने कहा–नहीं जी, मुनिराज राज्य लेनेको नहीं आये हैं। मैंने जो वैसा समझा वह मेरा भ्रम था। मेरी बहिन कोणिकाको प्रेमके वश कुछ कहनेको ये आये हुए जान पड़ते हैं। इसके बाद जब मुनिराजने तीसरी आधी गाथा भी पढ़ी तब उसे सुनकर गर्दभने अपने मनमें उसका यह अर्थ समझा कि "मंत्री दीर्घ बड़ा दुष्ट है, और मुझे मारना चाहता है," यही बात पिताजी, प्रेमके वश हो मुझे कहकर सावधान करनेको आये हैं। परन्तु थोड़ी देर बाद ही उसका यह सन्देह भी दूर हो गया। उन्होंने अपने हृद-यकी सब दुष्टता छोड़कर बड़ी भक्तिके साथ पवित्र चारि-त्रके धारक मुनिराजको प्रणाम किया और उनसे धर्मका उपदेश सुना, जो कि स्वर्ग-मोक्षका देनेवाला है। उपदेश

सुनकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए। इसके बाद वे श्रावक-धर्म ग्रहणकर अपने स्थान लौट गये।

इधर यमधरमुनि भी अपनी चारित्रको दिन दूना निर्मल करने लगे, परिणामोंको वैराग्यकी ओर खूब लगाने लगे। उसके प्रभावसे थोड़े ही दिनोंमें उन्हें सातों ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं।

अहा! नाममात्र ज्ञान द्वारा भी यमसुनिराज बड़े ज्ञानी हुए—उन्होंने अपने उन्नतिको अन्तिम सीढ़ीतक पहुँचा दिया। इसलिये भव्य पुरुषोंको संसारका हित करनेवाले जिन भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट सम्यग्ज्ञानकी सदा आराधना करना चाहिये।

देखो, यमसुनिराजको बहुत थोड़ा ज्ञान था, पर उसकी उन्होंने बड़ी भक्ति और श्रद्धाके साथ आराधना की। उसके प्रभावसे वे संसारमें प्रसिद्ध हुए, मुनियोंमें प्रधान और मान्य हुए और सातों ऋद्धियाँ उन्हें प्राप्त हुईं। इसलिये सज्जन धर्मात्मा पुरुषोंको उचित है कि वे त्रिलोक-पूज्य जिनभगवान् द्वारा उपदिष्ट, सब सुखोंका देनेवाला और मोक्ष-प्राप्तिका कारण अत्यन्त पवित्र सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेका यत्न करें।

२३-दृढ़सूर्यकी कथा।

लोकालोकके प्रकाश करनेवाले-केवलज्ञान द्वारा संसारके सब पदार्थोंको जानकर उनका स्वरूप कहनेवाले और देवेन्द्रादि द्वारा पूज्य श्रीजिनभगवान्को नमस्कार कर मैं दृढ़सूर्यकी कथा लिखता हूं, जो कि जीवोंको विश्वासकी देनेवाली है।

उज्जयिनीके राजा जिस समय धनपाल थे, उस समयकी यह कथा है। धनपाल उस समयके राजाओंमें एक प्रसिद्ध राजा थे। उनकी महारानीका नाम धनवती था। एक दिन धनवती अपनी सखियोंके साथ वसन्तश्री देखनेको उपवनमें गई। उसके गलेमें एक बहुत कीमती रत्नोंका हार पड़ा हुआ था। उसे वहीं आई हुई एक वसन्तसेना नामकी वेश्याने देखा। उसे देखकर उसका मन उसकी प्राप्तिके लिये आकुलित हो उठा। उसके विना उसे अपना जीवन भी निष्फल जान पड़ने लगा। वह दुःखी होकर अपने घर लौटी। सारे दिन वह उदास रही। जब रातके समय उसका प्रेमी दृढ़सूर्य आया तब उसने उसे उदास देखकर पूछा-प्रिये, कहो! कहो! जल्दी कहो!! तुम आज अप्रसन्न कैसी? वसन्तसेनाने उसे अपने लिये इस प्रकार खेदित देखकर कहा-आज मैं उपवनमें गई हुई थी। वहाँ मैंने राजरानीके गलेमें एक हार देखा है। वह बहुत ही सुन्दर है।

उसे आप लाकर दें तब ही मेरा जीवन रह सकता है और तब ही आप मेरे सच्चे प्रेमी हो सकते हैं।

दृढ़सूर्य हारके लिये चला। वह सीधा राजमहल पहुँचा। भाग्यसे हार उसके हाथ पड़ गया। वह उसे लिये हुए राजमहलसे निकला। सच है-लोभी, लंपटी कौन काम नहीं करते? उसे निकलते ही पहरेदारोंने पकड़ लिया। सवेरा होनेपर वह राजसभामें पहुँचाया गया। राजाने उसे शूलीकी आज्ञा दी। वह शूलीपर चढ़ाया गया। इसी समय धनदत्त नामके एक सेठ दर्शन करनेको जिनमन्दिर जा रहे थे। दृढ़सूर्यने उनके चेहरे और चालढालसे उन्हें दयालु समझकर उनसे कहा-सेठजी, आप बड़े जिनभक्त और दयावान् हैं, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि मैं इस समय बड़ा प्यासा हूं, सो आप कहींसे थोड़ासा जल लाकर मुझे पिलादें, तो आपका बड़ा उपकार हो। धनदत्तने उसकी भलाईकी इच्छासे कहा-भाई, मैं जल तो लाता हूं, पर इस बीचमें तुम्हें एक बात करनी होगी। वह यह कि-मैंने कोई बारह वर्षके कठिन परिश्रम द्वारा अपने गुरुमहाराजकी कृपासे एक विद्या सीख पाई है, सो मैं तुम्हारे लिये जल लेनेको जाते समय कदाचित् उसे भूल जाऊँ तो उससे मेरा सब श्रम व्यर्थ जायगा और मुझे बहुत हानि भी उठानी पड़ेगी, इसलिये उसे मैं तुम्हें सौंप जाता हूं। मैं जब जल लेकर आऊँ तब तुम मुझे वह पीछी लौटा देना। यह कहकर परोपकारी धनदत्त स्वर्ग-मोक्षका सुख देनेवाला पंच नमस्कारमंत्र उसे सिखाकर आप जल लेनेको चला गया। वह जल लेकर वापिस लौटा, इत-

नेमें दृढ़सूर्यकी जान निकल गई—वह मर गया। पर वह मरा नमस्कारमंत्रका ध्यान करता हुआ। उसे सेठके इस कहनेपर पूर्ण विश्वास होगया था कि वह विद्या महाफलके देनेवाली है। नमस्कारमंत्रके प्रभावसे वह सौधर्मस्वर्गमें जाकर देव हुआ। सच है—पंच नमस्कारमंत्रके प्रभावसे मनुष्यको क्या प्राप्त नहीं होता?

इसी समय किसी एक दुष्टने राजासे धनदत्तकी शिकायत करदी कि, महाराज, धनदत्तने चोरके साथ कुछ गुप्त मंत्रणा की है, इसलिये उसके घरमें चोरीका धन होना चाहिये। नहीं तो एक चोरसे बातचीत करनेका उसे मतलब? ऐसे दुष्टोंको और उनके दुराचारोंको धिक्कार है, जो व्यर्थ ही दूसरोंके प्राण लेनेके यत्नमें रहते हैं और परोपकार करनेवाले सज्जनोंको भी जो दुर्वचन कहते रहते हैं। राजा सुनते ही क्रोधके मारे आग बबूला हो गये। उन्होंने विना कुछ सोचे विचारे धनदत्तको बाँध ले आनेके लिये अपने नौकरोंको भेजा। इसी समय अवधिज्ञान द्वारा यह हाल सौधर्मेन्द्रको, जो कि दृढ़सूर्यका जीव था, मालूम हो गया। अपने उपकारीको कष्टमें फँसा देखकर वह उसी समय उज्जयिनीमें आया और स्वयं ही द्वारपाल बनकर उसके घरके दरवाजेपर पहरा देने लगा। जब राजनौकर धनदत्तको पकड़नेके लिये घरमें घुसने लगे तब देवने उन्हें रोका। पर जब वे हठ करने लगे और जबरन घरमें घुसने ही लगे तब देवने भी अपनी मायासे उन सबको एक क्षणभरमें धराशायी बना दिया। राजाने यह हाल सुनकर और भी

बहुतसे अपने अच्छे अच्छे शूरवीरोंको भेजा, देवने उन्हें भी देखते देखते पृथ्वीपर लौटा दिया। इससे राजाका क्रोध अत्यन्त बढ़ गया। तब वे स्वयं अपनी सेनाको लेकर धनदत्तपर आ चढ़े। पर उस एक ही देवने उनकी सारी सेनाको तीन तेरह कर दिया। यह देखकर राजा भयके मारे भागने लगे। उन्हें भागते हुए देखकर देवने उनका पीछा किया और वह उनसे बोला-आप कहीं नहीं भाग सकते। आपके जीनेका एक मात्र उपाय है, वह यह कि आप धनदत्तके आश्रय जायँ और उससे अपने प्राणोंकी भीख माँगें। बिना ऐसा किये आपकी कुशल नहीं। सुनकर ही राजा धनदत्तके पास जिनमन्दिर गये और उन्होंने सेठसे प्रार्थना की कि–धनदत्त, मेरी रक्षा करो! मुझे बचाओ! मैं तुम्हारे शरणमें प्राप्त हूं। सेठने देवको पीछे ही आया हुआ देखकर कहा–तुम कौन हो? और क्यों हमारे महाराजको कष्ट दे रहे हो? देवने अपनी माया समेटी और सेठको प्रणाम करके कहा–हे जिनभक्त सेठ, मैं वही पापी चोरका जीव हूं, जिसे तुमने नमस्कारमंत्रका उपदेश दिया था। उसीके प्रभावसे मैं सौधर्मस्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ हूं। मैंने अवधिज्ञान द्वारा जब अपना पूर्वभवका हाल जाना तब मुझे ज्ञात हुआ कि इस समय मेरे उपकारीपर बड़ी आपत्ति आ रही है, इसलिये ऐसे समयमें अपना कर्तव्य पूरा करनेके लिये और आपकी रक्षाके लिए मैं आया हूं। यह सब माया मुझ सेवककी ही की हुई है। इस प्रकार सब हाल सेठसे कहकर और रत्नमय भूषणादिसे उसका यथोचित सत्कार कर देव स्वर्गमें चला

गया। जिनभक्त धनदत्तकी परोपकारबुद्धि और दूसरोंके दुःख दूर करनेकी कर्त्तव्यपरता देखकर राजा वगैरहने उसका खुब आदर सम्मान किया। सच है—"धार्मिकः कैर्न पूज्यते" अर्थात् धर्मात्माका कौन सत्कार नहीं करता?

राजा और प्रजाके लोग इस प्रकार नमस्कारमंत्रका प्रभाव देखकर बहुत खुश हुए और पवित्र जिनशासनके श्रद्धानी हुए। इसी तरह धर्मात्माओंको भी उचित है कि वे अपने आत्महितके लिये भक्तिपूर्वक जिनभगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्ममें अपनी बुद्धिको स्थिर करें।

---

२४ यमपाल चांडालकी कथा।

मोक्ष-सुखके देनेवाले श्रीजिनभगवान्को धर्मप्राप्तिके लिये नमस्कार कर मैं एक ऐसे चाण्डालकी कथा लिखता हूं, जिसकी कि देवों तकने पूजा की है।

काशीके राजा पाकशासनने एक समय अपनी प्रजाको महामारीसे पीड़ित देखकर ढिंढोरा पिटवा दिया कि "नन्दीश्वरपर्वमें आठ दिन पर्यन्त किसी जीवका वध न हो। इस राजाज्ञाका उल्लंघन करनेवाला प्राणदंडका भागी होगा।" वहीं एक सेठपुत्र रहता था। उसका नाम तो था धर्म, पर असलमें वह महा अधर्मी था। वह सात-व्यसनोंका सेवन करनेवाला था। उसे मांस खानेकी बुरी

आदत पड़ी हुई थी। एक दिन भी विना मांस खाये उससे नहीं रहा जाता था। एक दिन वह गुप्तरीतिसे राजाके वगीचेमें गया। वहाँ एक राजाका खास मेंढा वँधा करता था। उसने उसे मार डाला और उसके कच्चे ही मांसको खाकर वह उसकी हड्डियोंको एक गड्डेमें गाड़ गया। सच है–

व्यसनेन युतो जीवः सत्यं पापपरो भवेत्।

[ब्रह्म नेमिदत्त]

अर्थात्–व्यसनी मनुष्य नियमसे पापमें सदा तत्पर रहा करते हैं। दूसरे दिन जव राजाने वगीचेमें मेंढा नहीं देखा और उसके लिये वहुत खोज करनेपर भी जव उसका पता नहीं चला, तव उन्होंने उसका शोध लगानेको अपने वहुतसे गुप्तचर नियुक्त किये। एक गुप्तचर राजाके वागमें भी चला गया। वहांका वागमाली रातको सोते समय सेठपुत्रके द्वारा मेंढेके मारे जानेका हाल अपनी स्त्रीसे कह रहा था, उसे गुप्तचरने सुन लिया। सुनकर उसने महाराजसे जाकर सव हाल कह दिया। राजाको इससे सेठपुत्रपर वड़ा गुस्सा आया। उन्होंने कोतवालको वुलाकर आज्ञा की कि, पापी धर्मने एक तो जीवहिंसा की और दूसरे राजाज्ञाका उल्लंघन किया है, इसलियें उसे लेजाकर शूली चढ़ा दो। कोतवाल राजाज्ञाके अनुसार धर्मको शूलीके स्थानपर लिवा ले गया और नौकरोंको भेजकर उसने यमपाल चाण्डालको इसलिये वुलाया कि वह धर्मको शूलीपर चढ़ादे। क्योंकि यह काम उसीके सुपुर्द था। पर यमपालने एक दिन सर्वौषधिऋद्धिधारी मुनिराजके द्वारा जिनधर्मका

पवित्र उपदेश सुनकर, जो कि दोनों भवोंमें सुखका देनेवाला है, प्रतिज्ञा की थी कि " मैं चतुर्दशीके दिन कभी जीवहिंसा नहीं करूंगा।" इसलिये उसने राजनौकरोंको आते हुए देखकर अपने व्रतकी रक्षाके लिये अपनी स्त्रीसे कहा-प्रिये, किसीको मारनेके लिये मुझे बुलानेको राजनौकर आ रहे हैं, सो तुम उनसे कह देना कि घरमें वे नहीं हैं, दूसरे ग्राम गये हुए हैं। इस प्रकार वह चाण्डाल अपनी प्रियाको समझाकर घरके एक कोनेमें छुप रहा। जब राजनौकर उसके घरपर आये और उनसे चाण्डालप्रियाने अपने स्वामीके बाहर चले जानेका समाचार कहा, तब नौकरोंने बड़े खेदके साथ कहा-हाय! वह बड़ा अभागा है। दैवने उसे धोका दिया। आज ही तो एक सेठपुत्रके मारनेका मौका आया था और आज ही वह चल दिया। यदि वह आज सेठपुत्रको मारता तो उसे उसके सब वस्त्राभूषण प्राप्त होते। वस्त्राभूषणका नाम सुनते ही चाण्डालिनीके मुंहमें पानी भर आया। वह अपने लोभके सामने अपने स्वामीका हानिलाभ कुछ नहीं सोच सकी। उसने रोनेका ढोंग बनाकर और यह कहते हुए, कि हाय वे आज ही गांवको चले गये, आती हुई लक्ष्मीको उन्होंने पाँवसे ठुकरादी, हाथके इशारेसे घरके भीतर छुपे हुए अपने स्वामीको बता दिया। सच है—

स्त्रीणां स्वभावतो माया किं पुनर्लोभकारणे।
प्रज्वलन्नपि दुर्वह्निः किं वाते वाति दारुणे॥

(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्-स्त्रियाँ एक तो वैसे ही मायाविनी होतीं हैं, और फिर लोभादिका कारण मिल जाय तव तो उनकी मायाका कहना ही क्या? जलता हुआ अग्नि वैसे ही भयानक होता है और यदि ऊपरसे खूब हवा चल रही हो तव फिर उसकी भयानकताका क्या पूछना?

यह देख राजनौकरोंने उसे घर वाहर निकाला। निकलते ही निर्भय होकर उसने कहा—आज चतुर्दशी है और मुझे आज अहिंसाव्रत है, इसलिये मैं किसी तरह—चाहे मेरे प्राण ही क्यों न जायें कभी हिंसा नहीं करूंगा। यह सुन नौकर लोग उसे राजाके पास लिवा ले गये। वहां भी उसने वैसा ही कहा। ठीक है—

यस्य धर्मे सुविश्वासः क्वापि भीतिं न याति स।
(ब्रह्म नेमिदत्त)

अर्थात्—जिसका धर्मपर दृढ़ विश्वास है, उसे कहीं भी भय नहीं होता। राजा सेठपुत्रके अपराधके कारण उसपर अत्यन्त गुस्सा हो ही रहे थे कि एक चाण्डालकी निर्भयपनेकी वातोंने उन्हें और भी अधिक क्रोधी वना दिया। एक चाण्डालको राजाज्ञाका उल्लंघन करनेवाला और इतना अभिमानी देखकर उनके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने उसी समय कोतवालको आज्ञा की कि जाओ, इन दोनोंको लेजाकर अपने मगर मच्छादि क्रूर जीवोंसे भरे हुए तालावमें डाल आओ। वही हुआ। दोनोंको कोतवालने तालावमें डलवा दिया। तालावमें डालते ही पापी धर्मको तो जलजीवोंने खा लिया। रहा यमपाल, सो वह अपने जीवनकी

कुछ परवा न कर अपने व्रतपालनमें निश्चल बना रहा। उसके उच्च भावों और व्रतके प्रभावसे देवोंने आकर उसकी रक्षा की। उन्होंने धर्मानुरागसे तालावहीमें एक सिंहासनपर यमपाल चाण्डालको बैठाया, उसका अभिषेक किया और उसे खूब स्वर्गीय वस्त्राभूषण प्रदान किये-खूब उसका आदर सम्मान किया। जब राजा प्रजाको यह हाल सुन पड़ा, तो उन्होंने भी उस चाण्डालका बड़े आनंद और हर्षके साथ सम्मान किया। उसे खूब धनदौलत दी। जिनधर्मका ऐसा अचिन्त्य प्रभाव देखकर और और भव्य पुरुषोंको उचित है कि वे स्वर्ग-मोक्षका सुख देनेवाले जिनधर्ममें अपनी बुद्धिको लगावें। स्वर्गके देवोंने भी एक अत्यन्त नीच चाण्डालका आदर किया, यह देखकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको अपनी अपनी जातिका कभी अभिमान नहीं करना चाहिये। क्योंकि पूजा जातिकी नहीं होती, किन्तु गुणोंकी होती है।

यमपाल जातिका चाण्डाल था, पर उसके हृदयमें जिनधर्मकी पवित्र वासना थी, इसलिये देवोंने उसका सम्मान किया, उसे रत्नादिकोंके अलंकार प्रदान किये, अच्छे अच्छे वस्त्र दिये, उसपर फूलोंकी वर्षाकी। यह जिन-भगवान्के उपदिष्ट धर्मका प्रभाव है, वे ही जिनेन्द्रदेव, जिन्हें कि स्वर्गके देव भी पूजते हैं, मुझे मोक्षश्री प्रदान करें। यह मेरी उनसे प्रार्थना है।

आराधना-कथाकोशः

रचयिता—

ब्रह्मचारी श्रीमन्नेमिदत्तः।

सम्पादकः—

उदयलालः काशलीवालः।

नमो वीराय।

आराधना-कथाकोश:

मङ्गलं प्रस्तावना च।

श्रीमद्भव्याब्जसद्भानूल्लोकालोकप्रकाशकान्।
आराधनाकथाकोशं वक्ष्ये नत्वा जिनेश्वरान्॥ १॥

नमस्तस्मै सरस्वत्यै सर्वविज्ञानचक्षुषे।
यस्याः सम्प्राप्यते नाम्ना पारं सज्ज्ञानवारिधेः॥ २॥

रत्नत्रयपवित्राणां मुनीनां गुणशालिनाम्।
वन्देऽहं बोधसिन्धूनां पादपद्मद्वयं सदा॥ ३॥

इत्याप्तभारतीसाधुपादपद्मप्रचिन्तनम्।
अस्तु मे सत्कथारम्भप्रासादकलशश्रिये॥ ४॥

श्रीमूलसङ्घे वरभारतीये
गच्छे बलात्कारगणेऽतिरम्ये।
श्रीकुन्दकुन्दाख्यमुनीन्द्रवंशे
जातः प्रभाचन्द्रमहायतीन्द्रः॥ ५॥

देवेन्द्रचन्द्रार्कसमर्चितेन
तेन प्रभाचन्द्रमुनीश्वरेण।
अनुग्रहार्थं रचितः सुवाक्यै—
राराधनासारकथाप्रबन्धः॥ ६॥

तेन क्रमेणैव मया स्वशक्त्या
श्लोकैः प्रसिद्धैश्च निगद्यते सः
मार्गे न किं भानुकरप्रकाशे
स्वलीलया गच्छति सर्वलोकः ॥ ७ ॥

अथ श्रीजिनसूत्रेण कथ्यते विमलश्रिये।
आराधनेति किं नाम सतां सन्तोषहेतवे ॥ ८ ॥

सम्यग्दर्शनबोधवृत्ततपसां संसारविच्छेदिनां
शक्त्या भक्तिभरेण सद्गुरुमतात्स्वर्गापवर्गश्रिये।
उद्योतोद्यमने तथा च नितरां निर्वाहणं साधनं
पूतैर्निस्तरणं महामुनिवरैराराधनेतीरिता ॥ ९ ॥

उक्तं च—

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वाहण साहणं च णित्थरणं
दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिया ॥

तद्यथा—

यत्सम्यग्दर्शनज्ञाने चारित्रतपसां भवेत्।
लोके प्रकाशनं तत्स्यादुद्योतनमितिध्रुवम् ॥ १० ॥
तथा हि स्वीकृतानां च तेषामालस्यवर्जितः।
बाह्याभ्यन्तरमुद्योगः प्रोक्तमुद्यमनं बुधैः ॥ ११ ॥
तेषां सद्दर्शनादीनां सम्प्राप्ते त्यागकारणे।
संकष्टैरपरित्यागो भवेन्निर्वाहणं शुभम् ॥ १२ ॥
तत्त्वार्थादिमहाशास्त्रपठने यन्मुनेः सदा।
दर्शनादेः समग्रत्वं साधनं रागवर्जितम् ॥ १३ ॥
तथाद्दग्ज्ञानचारित्रतपसां मरणावधि।
निर्विघ्नैः प्रापणं प्रोक्तं बुधैर्निस्तरणं परम् ॥ १४ ॥

इति पंचप्रकारोक्तं श्रीमज्जैनविदांवरैः।
आराधनाक्रमं प्रोक्त्वा कथ्यते तत्कथाः क्रमात् ॥ १५ ॥

कथारम्भः—

१—पात्रकेसरिणः कथा।

सम्यक्त्वोद्योतनं चक्रे प्रसिद्धः पात्रकेसरी।
तच्चरित्रं प्रवक्ष्येऽहं पूर्वं सद्दर्शनश्रिये ॥ १६ ॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे पवित्रे श्रीजिनेशिनाम्।
विचित्रैः पंचकल्याणैः सर्वभव्यप्रशर्मदैः ॥ १७ ॥
निवासे सारसम्पत्तेर्देशे श्रीमगधाभिधे।
अहिच्छत्रे जगच्चित्रे नागरैर्नगरे वरे ॥ १८ ॥
पुण्यादवनिपालाख्यो राजा राजकलान्वितः।
प्राज्यं राज्यं करोत्युच्चैर्विप्रैः पञ्चशतैर्वृतः ॥ १९ ॥
विप्रास्ते वेदवेदाङ्गपारगाः कुलगर्विताः।
कृत्वा सन्ध्याद्वये सन्ध्यावन्दनां च निरन्तरम् ॥ २० ॥
विनोदेन जगत्पूज्यश्रीमत्पार्श्वजिनालये।
दृष्ट्वा पार्श्वजिनं पूतं प्रवर्तन्ते स्वकर्मसु ॥ २१ ॥
एकदा ते तथा कृत्वा सन्ध्यायां वन्दनां द्विजाः।
जिनं द्रष्टुं समायाताः कौतुकाज्जिनमन्दिरे ॥ २२ ॥
देवागमाभिधं स्तोत्रं पठन्तं मुनिसत्तमम्।
चारित्रभूषणं तत्र श्रीमत्पार्श्वजिनाग्रतः ॥ २३ ॥
दृष्ट्वा सम्पृष्टवानित्थं तन्मुख्यः पात्रकेसरी।
स्वामिन्निमं स्तवं पूतं बुध्यसे, स मुनिस्ततः ॥ २४ ॥
नाहं बुध्येऽर्थतश्चेति संजगौ, प्राह सद्द्विजः।
पुनः सम्पठ्यते स्तोत्रं भो मुने यतिसत्तम ॥ २५ ॥

ततस्तेन मुनीन्द्रेण देवागमनसंस्तवः ।
पठितः पदविश्रामैः सतां चेतोनुरञ्जनैः ॥ २६ ॥
शब्दतश्चैकसंस्थत्वात्तदासौ पात्रकेसरी ।
हेलया मानसे कृत्वा देवागमनसंस्तवम् ॥ २७ ॥
तदर्थं चिन्तयामास स्वचित्ते चतुरोत्तमः ।
ततो दर्शनमोहस्य क्षयोपशमलब्धितः ॥ २८ ॥
यदुक्तं श्रीजिनेन्द्रस्य शासने वस्तुलक्षणम् ।
जीवाजीवादिकं सत्यं तदेवात्र त्रिविष्टपे ॥ २९ ॥
नान्यथेति समुत्पन्नजैनतत्त्वार्थसद्रुचिः ।
गत्वा गृहे पुनर्धीमान् स विप्रो वस्तुलक्षणम् ॥ ३० ॥
चित्ते सञ्चिन्तनं कुर्वन्रात्रौ विप्रकुलाग्रणीः ।
जीवाजीवादिकं वस्तु प्रमेयं जिनशासने ॥ ३१ ॥
तत्त्वज्ञानं प्रमाणं च प्रोक्तं तत्त्वार्थवेदिभिः ।
लक्षणं नानुमानस्य भाषितं तच्च कीदृशम् ॥ ३२ ॥
श्रीमज्जिनमतेऽस्तीति सन्देहव्यग्रमानसः ।
यावत्सन्तिष्ठते तावन्निजासनसुकम्पनात् ॥ ३३ ॥
पद्मावत्या महादेव्या तत्रागत्य ससम्भ्रमम् ।
स द्विजो भणितस्तूर्णं भो धीमन्पात्रकेसरिन् ॥ ३४ ॥
प्रातः श्रीपार्श्वनाथस्य दर्शनादेव निश्चयः ।
लक्षणे चानुमानस्य सम्भविष्यति ते तराम् ॥ ३५ ॥
इत्युक्त्वा संलिखित्वेति पार्श्वेशफणमण्डपे ।
सा गता ह्यनुमानस्य लक्षणं श्लोकमुत्तमम् ॥ ३६ ॥
" अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥"

देवतादर्शनादेव सञ्जाता तस्य शर्मदा ।
श्रीमज्जैनमते श्रद्धा भवभ्रमणनाशिनी ॥ ३७ ॥
प्रभाते परमानन्दात्पार्श्वनाथं प्रपश्यतः ।
फणाटोपेऽनुमानस्य लक्षणश्लोकदर्शनात् ॥ ३८ ॥
जातस्तल्लक्षणोत्कृष्टनिश्चयश्च द्विजन्मनः ।
भास्करस्योदये जाते न तिष्ठति तमो यथा ॥ ३९ ॥
ततोऽसौ ब्राह्मणाधीशः पवित्रः पात्रकेसरी ।
प्रहर्षोच्छ्रितसर्वाङ्गो जिनधर्ममहारुचिः ॥ ४० ॥
देवोऽर्हन्नेव निर्दोषः संसाराम्भोधितारकः ।
अयमेव महाधर्मो लोकद्वयसुखप्रदः ॥ ४१ ॥
एवं दर्शनमोहस्य क्षयोपशमयोगतः ।
अभूदुत्पन्नसम्यक्त्वरत्नरञ्जितमानसः ॥ ४२ ॥
तथानिशं जिनेन्द्रोक्तं तत्त्वं त्रैलोक्यपूजितम् ।
पुनःपुनर्महाप्रीत्या भावयन्पात्रकेसरी ॥ ४३ ॥
तैर्द्विजैर्भणितश्चैवं किं मीमांसादिकं त्वया ।
त्यक्त्वा संस्मर्यते जैनमतं नित्यमहो हृदि ॥ ४४ ॥
तच्छ्रुत्वा भणितास्तेन ते विप्रा वेदगर्विताः ।
अहो द्विजा जिनेन्द्राणां मतं सर्वमतोत्तमम् ॥ ४५ ॥
अतः कारणतः कष्टं त्यक्त्वा मिथ्याकुमार्गकम् ।
भवद्भिश्चापि विद्वद्भिः संग्राह्यं जैनशासनम् ॥ ४६ ॥
ततो राजादिसान्निध्ये पात्रकेसरिणा मुदा ।
जित्वा सर्वद्विजांस्तांश्च विवादेन स्वलीलया ॥ ४७ ॥
समर्थ्य शासनं जैनं त्रैलोक्यप्राणिशर्मदम् ।
स्वसम्यक्त्वगुणं सारं सम्प्रकाश्य पुनः पुनः ॥ ४८ ॥

कृतोऽन्यमतविध्वंसो जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।
संस्तवः परमानन्दात्समस्तसुखदायकः ॥ ४९ ॥
पात्रकेसरिणं दृष्ट्वा ततः सर्वगुणाकरम् ।
सारपण्डितसन्दोहसमर्चितपदद्वयम् ॥ ५० ॥
ते सर्वेऽवनिपालाद्यास्त्यक्त्वा मिथ्यामतं द्रुतम् ।
भूत्वा जैनमतेऽत्यन्तं संसक्ताः शुद्धमानसाः ॥ ५१ ॥
गृहीत्वा सारसम्यक्त्वं संसाराम्भोधितारणम् ।
प्राप्य श्रीजैनसद्धर्मं स्वर्मोक्षसुखकारणम् ॥ ५२ ॥
त्वं भो द्विजोत्तम श्रीमज्जैनधर्मे विचक्षणः ।
त्वमेव श्रीजिनेन्द्रोक्तसारतत्त्वप्रवीक्षणः ॥ ५३ ॥
त्वं श्रीजिनपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ।
इत्युच्चैः स्तवनाद्यैस्तं पूजयन्ति स्म भक्तितः ॥ ५४ ॥

पञ्चभिः कुलकम् ।

इत्थं श्रीशिवशर्मदं शुचितरं सम्यक्त्वमुद्योतनं
कृत्वा प्राप नरेन्द्रपूजनपदं पात्रादिकः केसरी ॥
अन्यश्चापि जिनेन्द्रशासनरतः सद्दर्शनोद्योतनं
भक्त्या यस्तु करोति निर्मलयशाः स स्वर्गमोक्षं भजेत् ॥ ५५ ॥

सत्कुन्देन्दुविशुद्धकीर्त्तिकलिते श्रीकुन्दकुन्दान्वये
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुभ्रातुः सदादेशतः ।
सूरिश्रीश्रुतसागरस्य सुधियः सम्यक्त्वरत्नश्रिये
सान्निध्ये शुचि सिंहनन्दिसुमुनेश्चक्रे मयेदं शुभम् ॥ ५६ ॥

इति कथाकोशे सम्यक्त्वद्योतिनी पात्रकेसरिणः कथा समाप्ता ।

२–अकलङ्कदेवस्य कथा।

अथ श्रीजिनमानम्य सर्वसत्वसुखप्रदम्।
वक्ष्येऽकलङ्कदेवस्य ज्ञानोद्योतनसत्कथाम्॥ १ ॥
अत्रैव भारते मान्यखेटाख्यनगरे वरे।
राजाऽभूच्छुभतुङ्गाख्यस्तन्मंत्री पुरुषोत्तमः॥ २ ॥
भार्या पद्मावती तस्य तयोः पुत्रौ मनःप्रियौ।
सञ्जातावकलङ्काख्यनिष्कलङ्कौ गुणोज्वलौ॥ ३ ॥
नन्दीश्वरे महाष्टम्यामेकदा परया मुदा।
पितृभ्यां रविगुप्ताख्यं नत्वा भक्त्या मुनीश्वरम्॥ ४ ॥
गृहीत्वाऽष्ट दिनान्युच्चैर्ब्रह्मचर्यं सुशर्मदम्।
क्रीडया पुत्रयोश्चापि दापितं तद्व्रतं महत्॥ ५ ॥
ततः कैश्चिद्दिनैर्दृष्ट्वा विवाहोद्यममद्भुतम्।
पुत्राभ्यां भणितस्तातः किमर्थं क्रियते त्वया॥ ६ ॥
परिश्रमो महानेष भो पितस्तन्निशम्य सः।
भवतो सद्विवाहार्थं प्राहैवं पुरुषोत्तमः॥ ७ ॥
तच्छ्रुत्वा कथितं ताभ्यां किं विवाहेन भो सुधीः।
आवयोर्ब्रह्मचर्यं च दापितं शर्मदं त्वया॥ ८ ॥
पित्रोक्तं क्रीडया वत्सौ दापितं भवतोर्मया।
ब्रह्मचर्यमिति श्रुत्वा प्राहतुस्तौ विचक्षणौ॥ ९ ॥
धर्मे व्रते च का क्रीडा व्रीडा वा तदनन्तरम्।
सम्प्राह युवयोर्दत्तं व्रतं चाष्ट दिनानि तत्॥ १० ॥
इत्याकर्ण्य पितुर्वाक्यं पुत्रौ तावूचतुः पुनः।
आवयोर्न कृता तात मर्यादाष्ट दिनैस्तथा॥ ११ ॥

सूरिणा भवता चापि तस्मादाजन्म निर्मलम् ।
ब्रह्मचर्यं व्रतं वर्यं नियमस्तु विवाहके ॥ १२ ॥
इत्युक्त्वा सकलासारं व्यापारं परिहृत्य च ।
नाना शास्त्राण्यधीतानि ताभ्यां भक्त्या बहूनि वै ॥ १३ ॥
तथा बौद्धमतज्ञाता मान्यखेटे न वर्तते ।
ततस्तस्य मतं ज्ञातुं मूर्खच्छात्रस्य रूपकम् ॥ १४ ॥
धृत्वा ततो महाबोधिस्थान गत्वा गुणाकरौ ।
बौद्धमार्गपरिज्ञातुर्धर्माचार्यस्य सन्निधौ ॥ १५ ॥
स्थितौ, सोपि विजातीयं धर्माचार्यो विशोध्य च ।
ऊर्द्ध्वभूमौ परिस्थित्या बौद्धांस्तद्बौद्धशास्त्रकम् ॥ १६ ॥
नित्यं पाठयति व्यक्तं जैनधर्मरतौ च तौ ।
भूत्वाऽज्ञौ मातृकापाठं पठन्तौ गूढमानसौ ॥ १७ ॥
तदाकर्णयतः स्मोच्चैरशेषं बौद्धशासनम् ।
एकसंस्थोऽकलङ्काख्यदेवोऽभूत्तद्विचक्षणः ॥ १८ ॥
निष्कलङ्को द्विसंस्थश्च चित्ते तच्चिन्तयत्परम् ।
एवं काले गलत्येव धर्माचार्यस्य चैकदा ॥ १९ ॥
व्याख्यानं कुर्वतस्तस्य श्रीमज्जैनेन्द्रभाषिते ।
सप्तभङ्गीमहावाक्ये कूटत्वात्संशयोऽजनि ॥ २० ॥
व्याख्यानमथ संवृत्य व्यायामं स गतस्तदा ।
शुद्धं कृत्वाशु तद्वाक्यं धृतवानकलङ्कवाक् ॥ २१ ॥
बौद्धानां गुरुणागत्य दृष्ट्वा वाक्यं सुशोधितम् ।
अस्ति कश्चिज्जिनाधीशशासनाम्भोधिचन्द्रमाः ॥ २२ ॥
अस्माकं मतविध्वंसी बौद्धवेषेण धूर्तकः ।
अस्मच्छास्त्रं पठन्सोऽत्र संशोध्यैवाशु मार्यताम् ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा शोधितास्तेन ते सर्वे शपथादिना ।
पुनः संकारिता जैनबिम्बस्योल्लङ्घनं तथा ॥ २४ ॥
तदाकलङ्कदेवेन चातुर्याद्गुणशालिना ।
प्रतिमोपरि संक्षिप्य सूत्रं संसूत्रवेदिना ॥ २५ ॥
इयं सावरणा मूर्त्तिः कृत्वा संकल्पनं हृदि ।
तस्या उल्लङ्घनं चक्रे ततो जैनमजानता ॥ २६ ॥
कांस्योद्भवानि तेनोच्चैर्भाजनानि बहूनि च ।
गोण्यां निक्षिप्य बौद्धानां शयनस्थानसन्निधौ ॥ २७ ॥
एकैकं स्थापयित्वा च स्वकीयं चरमानुपम् ।
वन्दकं प्रति तान्येव दूरमुद्धृत्य वेगतः ॥ २८ ॥
निक्षिप्तानि ततो रात्रौ विद्युत्पातोपमे रवे ।
समुत्थितेऽकलंकाख्यनिष्कलङ्कौ कलस्वनौ ॥ २९ ॥
सारं पंचनमस्कारं स्मरन्तावुत्थितौ तदा ॥
धृत्वा तौ तत्समीपे च नीत्वाप्यालपितं चरैः ॥ ३० ॥
आदेशं देहि देवैतौ धूर्तौ जैनमतोत्तमौ ।
इति श्रुत्वा जगौ सोपि बौद्धेशो दुष्टमानसः ॥ ३१ ॥
कृत्वा सप्तमभूभागे पश्चाद्रात्रौ कुमारकौ ।
मार्यतामिति तौ तत्र नीत्वा च स्थापितौ तकैः ॥ ३२ ॥
निष्कलङ्कस्तदा प्राह भो धीमन्नकलङ्कवाक् ।
अस्माभिर्गुणरत्नानि भ्रातश्चोपार्जितानि वै ॥ ३३ ॥
दर्शनस्योपकारस्तु विहितो नैव भूतले ।
वृथा मरणमायातं तच्छ्रुत्वा ज्येष्ठबान्धवः ॥ ३४ ॥
जगादैवं महाधीरो माविसूरय धीधन ।
उपायो जीवितस्यायं विद्यते कोपि साम्प्रतम् ॥ ३५ ॥

इदं छत्रं करे धृत्वा क्षिप्त्वात्मानं सुयत्नतः।
गत्वा भूमौ च यास्यावः स्वस्थानं वेगतः सुधीः ॥ ३६ ॥
इत्यालोच्य विधायोच्चैस्तत्सर्वं निर्गतौ च तौ।
अर्धरात्रे गते यावन्मारणार्थं दुराशयैः ॥ ३७ ॥
अन्वेषितौ तदा नैव दृष्टौ तौ पत्तने ततः।
वापिकूपतडागादौ संशोध्य प्राप्य ते पुनः ॥ ३८ ॥
अश्वारूढाः सुपापिष्ठाः कष्टाः सम्मारणेच्छया।
दयावल्लीदवप्रष्ठाः पृष्टतो निर्गतास्तयोः ॥ ३९ ॥
उच्छलद्धूलिमालोक्य ज्ञात्वा तान्प्राणलोलुपान्।
निष्कलङ्कोऽवदद्धीरो भो भ्रातस्त्वं विचक्षणः ॥ ४० ॥
एकसंस्थो महाप्राज्ञो दर्शनोद्यतनश्रिये।
एतस्मिन्पद्मिनीखण्डमण्डिते सुसरोवरे ॥ ४१ ॥
संप्रविश्य निजात्मानं रक्षत क्षतकल्मष।
मार्गे मां वीक्ष्य गच्छन्तं हन्त्वैते यान्तु पापिनः ॥ ४२ ॥
ततस्तद्वचनेनैव सखेदं सोऽकलङ्कवाक्।
तत्रस्थितः प्रविश्योच्चैः के धृत्वा पद्मिनीदलम् ॥ ४३ ॥
न चक्रे केवलं तेन शरण्यं पद्मपत्रकम्।
अनन्यशरणीभूतं शासनं च जिनेशिनाम् ॥ ४४ ॥
निष्कलङ्कस्तु नश्यन्सन्पृष्टोऽसौ रजकेन च।
वस्त्रप्रक्षालनं कर्म कुर्वता गगनोद्गताम् ॥ ४५ ॥
धूलीं विलोक्य भीतेन किमेतदिति सोऽवदत्।
शत्रुसैन्यं समायाति यन्नरं पश्यति ध्रुवम् ॥ ४६ ॥
तं हन्ति पापकृद्गाढं तेन सन्नश्यते मया।
तच्छ्रुत्वा रजकः सोपि सार्धं तेनैव नष्टवान् ॥ ४७ ॥

ततस्ते पापिनो धृत्वा नश्यन्तौ तौ सुनिर्दयम् ।
हत्वा तयोः शिरोयुग्मं समादाय गृहं गताः ॥ ४८ ॥
किं न कुर्वन्ति भो लोके पापाय पापपण्डिताः ।
जिनधर्मविनिर्मुक्ता मिथ्यात्वविषदूषिताः ॥ ४९ ॥
येषां श्रीमज्जिनेन्द्राणां धर्मः शर्मशतप्रदः ।
लेशतोऽपि न हृत्कोशे तेषां का करुणाकथा ॥ ५० ॥
ततोऽकलङ्कदेवोऽसौ विनिर्गत्य सरोवरात् ।
मार्गे गच्छन् जिनेन्द्रोक्ततत्त्वचित्तिश्चलाशयः ॥ ५१ ॥
कलिङ्गविषये रत्नसंचयाख्यं पुरं परम् ।
कैश्चिद्दिनैः परिप्राप्तस्तावद्वक्ष्ये कथान्तरम् ॥ ५२ ॥
तत्र राजा प्रजाऽभीष्टो नाम्ना श्रीहिमशीतलः ।
राज्ञी जिनेन्द्रपादाब्जभृङ्गी मदनसुन्दरी ॥ ५३ ॥
तया श्रीमज्जिनेन्द्राणां स्वयं कारितमन्दिरे ।
फाल्गुने निर्मलाष्टम्यां रथयात्रामहोत्सवे ॥ ५४ ॥
प्रारब्धे जिनधर्मस्य स्वर्गमोक्षप्रदायिनः ।
महाप्रभावनाङ्गाय नाना सत्सम्पदा मुदा ॥ ५५ ॥
सङ्घश्री वन्दकेनोच्चैर्विद्यादर्पेण पापिना ।
रथयात्रा न कर्त्तव्या जिनेन्द्रस्य महीपते ॥ ५६ ॥
जिनस्य शासनाभावादिति प्रोक्त्वा दुरात्मना ।
मुनीनां पत्रकं चापि दत्तं वादप्रकाङ्क्षया ॥ ५७ ॥
ततश्च भूभुजा प्रोक्तं हे प्रिये जैनदर्शनम् ।
समर्थ्येयं प्रकर्त्तव्या यात्रा वै नान्यथा त्वया ॥ ५८ ॥
तच्छ्रुत्वा सा सती राज्ञी भूत्वा चोद्विग्नमानसा ।
श्रीमज्जिनालयं गत्वा पापस्य विलयं तदा ॥ ५९ ॥

नत्वा जगौ मुनीन्द्राणामस्माकं दर्शने वुधाः ।
एतस्य वन्दकस्योच्चैः कोप्यस्ति प्रतिमल्लकः ॥ ६० ॥
जित्वेमं यो महाभव्यो वाञ्छितं मे करोत्यलम् ।
श्रुत्वेति मुनयः प्राहुर्मान्यखेटादिकेषु ते ॥ ६१ ॥
एतस्मादधिकाः सन्ति पण्डिता जिनशासने ।
किन्तु दूरे तदाकर्ण्य सुन्दरीमदनादिका ॥ ६२ ॥
सर्पोस्ति मस्तकोपान्ते योजनानां शते भिषक् ।
इत्युक्त्वा श्रीजिनेन्द्राणां कृत्वा पूजां विशेषतः ॥ ६३ ॥
राजगेहं परित्यज्य प्रविश्य जिनमन्दिरम् ।
सङ्घश्रीदर्पविध्वंसात्पूर्वरीत्या शुभोदयात् ॥ ६४ ॥
यात्रा रथस्य मे पूता भविष्यति महोत्सवैः ।
धर्मप्रभावना चापि तदा मे भोजनादिकम् ॥ ६५ ॥
प्रवृत्तिर्नान्यथा चेति कृत्वा चित्ते सुनिश्चयम्
जिनाग्रे संस्थिता पंच जपन्ती सुनमस्कृतीः ॥ ६६ ॥
कायोत्सर्गेण मेरोर्वा निश्चला सारचूलिका ।
सर्वथा भव्यजन्तूनां जिनभक्तिः फलप्रदा ॥ ६७ ॥
अर्धरात्रे ततस्तस्याः सारपुण्यप्रभावतः ।
चक्रेश्वरी महादेवी विष्टरस्य प्रकम्पनात् ॥ ६८ ॥
समागत्य शुभे श्रीमज्जिनपादाब्जमानसे ।
किंचिन्मा कुरु चोद्वेगमहो मदनसुन्दरि ॥ ६९ ॥
प्रातः सङ्घश्रियोमानमर्दनैकविचक्षणः ।
रथप्रभावनाकारी श्रीमज्जैनागमे चणः ॥ ७० ॥
नाना मनोरथानां ते पूरको दिव्यमूर्तिमान् ।
अत्राऽकलङ्कदेवाख्यस्तव पुण्यात्समेष्यति ॥ ७१ ॥

इत्युक्त्वा सा गता भक्त्या तच्छ्रुत्वा च महीपतेः ।
सा राज्ञी परमानन्दनिर्भराभक्तितत्परा ॥ ७२ ॥
महास्तुतिं जिनेन्द्राणां कृत्वा सद्वाञ्छितप्रदाम् ।
प्रातर्महाभिषेकं च विधायोच्चैस्तथार्चनम् ॥ ७३ ॥
ततोऽकलङ्कदेवस्य समन्वेषणहेतवे ।
चतुर्दिक्षु सती शीघ्रं प्रेषयामास सच्चरान् ॥ ७४ ॥
तन्मध्ये ये गतास्तत्र पूर्वस्यां दिशि पूरुषाः
तैरुद्यानवनेऽशोकवृक्षमूलेऽकलङ्कवाक् ॥ ७५ ॥
कैश्चिच्छात्रैः समायुक्तः कुर्वन्विश्रामकं सुखम् ।
दृष्टोऽसौ सर्वशास्त्रज्ञः पृष्टैकं छात्रकं ततः ॥ ७६ ॥
तन्नामापि समागत्य सर्वं राज्या निवेदितम् ।
ततो राज्ञी महाभूत्या सर्वसङ्घसमन्विता ॥ ७७ ॥
साऽन्नजपानसद्यानसमेता धर्मवत्सला ।
तत्रागत्य लसत्प्रीत्या वन्दितः स बुधोत्तमः ॥ ७८ ॥
तस्य सन्दर्शनात्तुष्टा सा सती शुद्धमानसा ।
पद्मिनीव रवेर्मेघा मुनेर्वा तत्त्वदर्शनात् ॥ ७९ ॥
चन्दनागुरुकर्पूरैर्नानावस्त्रादिभिस्तराम् ।
पूजयामास तं राज्ञी बुधं धर्मानुरागतः ॥ ८० ॥
ततः स प्राह पूतात्मा विद्वज्जनशिरोमणिः ।
भो देवि भवतां क्षेमः सङ्घस्यापि प्रवर्त्तते ॥ ८१ ॥
तं निशम्याश्रुपातं च राज्या कुर्वाणया पुनः ।
स्वामिन्सन्तिष्ठते सङ्घः किन्तु तस्यापमानता ॥ ८२ ॥
वर्तते साम्प्रतं चेति तया प्रोक्त्वा समग्रतः ।
सङ्घश्रीचेष्टितं तस्य सूचितं चारुचेतसः ॥ ८३ ॥

तदाकर्ण्याकलङ्काख्यः कोपतः किल संजगौ ।
कियन्मात्रो वराकोऽयं सङ्घश्रीर्येन्मया समम् ॥ ८४ ॥
वादं कर्त्तुं समर्थो न सुगतोपि मदोद्धतः ।
इति प्रव्यक्तसद्वाक्यैस्तां सन्तोष्य समग्रधीः ॥ ८५ ॥
सङ्घश्रीवन्दकस्योच्चैर्दत्वा पत्रं महोत्सवैः ।
सम्प्राप्तः श्रीजिनेन्द्रस्य मन्दिरं शर्ममन्दिरम् ॥ ८६ ॥
सङ्घश्रिया तदालोक्य पत्रं क्षुभितचेतसः ।
तत्र भिन्नं महापत्रं श्रुत्वा तद्गर्जनाक्रमम् ॥ ८७ ॥
तदाकलङ्कदेवोऽसौ हिमशीतलभूभुजा ।
सम्भ्रमेण समानीय वादं तेनैव कारितः ॥ ८८ ॥
सङ्घश्रिया महावादं तेन सार्धं प्रकुर्वता ।
नाना प्रत्युत्तरैर्दृष्ट्वा तस्य वाग्विभवं नवम् ॥ ८९ ॥
अशक्तिं चात्मनो ज्ञात्वा ये केचिद्बौद्धपण्डिताः ।
देशान्तरे स्थिताः सर्वांस्तान्समाहूय गर्वितान् ॥ ९० ॥
पूर्वसिद्धां तथा देवीं ताराभगवतीं निशि ।
तदावतार्य तेनोक्तं समर्थोऽहं न सुन्दरि ॥ ९१ ॥
वादं कर्त्तुमनेनैव सार्धं देवि तया द्रुतम् ।
एष वादेन कर्तव्यो निग्रहस्थानभाजनम् ॥ ९२ ॥
इत्याकर्ण्य तया प्रोक्तं सभायां भूपतेर्मया ।
अन्तःपटे घटे स्थित्वा विवादः क्रियते पुनः ॥ ९३ ॥
ततः प्रभाते भूपाग्रे सङ्घश्रीः कपटेन च ।
अन्तःपटेन कस्यापि मुखं चापश्यता मया ॥ ९४ ॥
विचित्रवाक्यविन्यासैरुपन्यासो विधीयते ।
इत्युक्त्वाऽन्तःपटं दत्वा बुद्धदेवार्चनं तथा ॥ ९५ ॥

तद्देव्याश्चर्चनं कृत्वा चक्रे कुम्भावतारणम् ।
करोति कैतवं मूढो नास्त्येवान्तेनुसिद्धिदम् ॥ ९६ ॥
ततो घटं प्रविश्योच्चैः सा देवी दिव्यवाग्भरैः ।
क्षणोपन्यासकं कर्तुं प्रवृत्ता निजशक्तितः ॥ ९७ ॥
अथाकलङ्कदेवोपि दिव्यध्वानिविराजितः ।
कृत्वोपन्यासकं तस्याः खण्डखण्डं क्षणाक्षयम् ॥ ९८ ॥
अनेकान्तमतं पूतं सारतत्वैः समन्वितम् ।
स्वपक्षस्थापकं गाढं परपक्षक्षयप्रदम् ॥ ९९ ॥
तत्समर्थयितुं लग्नः समर्थो भयवर्जितः ।
एवं तयोर्महावादैः षण्मासाः संययुस्तराम् ॥ १०० ॥
तदाकलङ्कऽदेवस्य मानसे निशि चाभवत् ।
चिन्तामानुपमात्रोऽयं वन्दको दासकोपमः ॥ १०१ ॥
एतावन्ति दिनान्येवं मया सार्धं करोत्यरम् ।
वादं किं कारणं चेति सचिन्तश्चतुरोत्तमः ॥ १०२ ॥
स श्रीमानकलङ्काख्यो यावदास्ते विचारवान् ।
तावच्चक्रेश्वरी दैवी समागत्य सुपुण्यतः ॥ १०३ ॥
अहो धीमज्जिनेन्द्रोक्तसारतत्त्वविदाम्वर ।
अकलङ्क त्वया सार्धं वादं कर्तुं न भूतले ॥ १०४ ॥
समर्थो नरमात्रोऽसौ किन्तु वादं त्वया समम् ।
करोति तारिका देवी दिनान्येतानि धीधन ॥ १०५ ॥
अतः प्रातः समुत्थाय पूर्वोपन्यस्ततद्वचः ।
व्याघुटय पृच्छ तां तस्या मानभङ्गो भविष्यति ॥ १०६ ॥
इत्युक्त्वा सा गता देवी ततः सोप्यकलङ्कवाक् ।
देवतादर्शनाज्जातपरमानन्दनिर्भरः ॥ १०७ ॥

प्रातर्गत्वा जिनं नत्वा सभायां दिव्यमूर्त्तिभाक् ।
क्रीडार्थं च प्रभावार्थं धर्मस्यैव जिनेशिनः ॥ १०८ ॥
दिनान्येतानि संचक्रे वादोऽनेन समं मया ।
अद्य वादं द्रुतं जित्वा भोजनं क्रियते ध्रुवम् ॥ १०९ ॥
उक्त्वेति स्पष्टसद्वाक्यैर्वादं कर्त्तुं समुद्यतः
उपन्यासं ततस्तस्याः कुर्वत्यास्तेन जल्पितम् ॥ ११० ॥
प्रागुक्तं कीदृशं वाक्यं तदस्माकं प्रकथ्यतं ।
तदाकर्ण्याकलङ्कस्य वाक्यं हृत्क्षोभकारणम् ॥ १११ ॥
देवता वचनैकत्वादुत्तरं दातुमक्षमा ।
सूर्योदये निशेवाशु सा गता मानभङ्गतः ॥ ११२ ॥
ततोऽकलङ्कदेवेन समुत्थायप्रकोपतः ।
अन्तःपटं विदार्योच्चैः स्फोटयित्वा च तं घटम् ॥ ११३ ॥
महापादप्रहारेण हत्वा रूपं तु सौगतम्
मानभङ्गं तथा कृत्वा तेषां मिथ्याकुवादिनाम् ॥ ११४ ॥
पुनर्मदनसुन्दर्या सम्प्राप्तानन्दसम्पदः ।
समस्तभव्यलोकानामग्रतः परया मुदा ॥ ११५ ॥
गलगर्जितं विधायोच्चैस्तेनोक्तं चेति सोत्सवम् ।
अहो मया वराकोऽयं सङ्घश्रीर्धर्मवर्जितः ॥ ११६ ॥
निर्जितः प्रथमे घस्रे किन्तु देव्यैतया समम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां मतोद्योतनहेतवे ॥ ११७ ॥
संज्ञानोद्योतनार्थं च कृतो वादः स्वलीलया ।
एतदुक्त्वा महाकाव्यं स्वामिना पठितं स्फुटम् ॥ ११८ ॥
"नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ।

राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धाद्यान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः ॥"

तदा प्रभृति बौद्धास्ते नरेन्द्राद्यैर्निराकृताः।
त्यक्त्वा देशं द्रुतं नष्टा खद्योता वा दिनागमे ॥ ११९ ॥
एवं श्रीमज्जिनेन्द्राणां दृष्ट्वा ज्ञानप्रभावनाम्।
हिमशीतलभूपाद्याः सर्वे ते भक्तिभारतः ॥ १२० ॥
जिनधर्मरता भूत्वा त्यक्त्वा मिथ्यामतं द्रुतम्।
नाना रत्नसुवर्णाद्यैः संस्तोत्रैः शर्मकारिभिः ॥ १२१ ॥
पूजयन्ति स्म तं पूतमकलङ्कं बुधोत्तमम्।
श्रीमज्जिनेन्द्रसंज्ञानप्रभावात्के न पूजिताः ॥ १२२ ॥
तथा मदनसुन्दर्या महोत्सवशतै रथः।
विचित्ररचनोपेतो लसत्पट्टांशुकैर्वृतः ॥ १२३ ॥
संरणत्किङ्किणीजालो घण्टाटङ्कारशोभितः।
त्रैलोक्यपूज्यजैनेन्द्रमहाबिम्बैः पवित्रितः ॥ १२४ ॥
नाना छत्रवितानाद्यैश्चामराद्यैरलङ्कृतः।
कनत्काञ्चनसद्रत्नमुक्तामालाविराजितः ॥ १२५ ॥
अनेक भव्यलोकानां समन्ताज्जयघोषणैः।
सम्पतत्कुसुमामोदैः सुगन्धीकृतदिङ्मुखः ॥ १२६ ॥
झल्लरीतालकंसालभेरीभम्भामृदङ्गकैः।
पठत्पण्डितसन्दोहैश्चारणस्तुतिपाठकैः ॥ १२७ ॥
कामिनीगीतझङ्कारैर्नानानृत्यादिभिर्युतः।
जङ्गमः पुण्यरत्नानां रोहणाद्रिरिवोद्गतः ॥ १२८ ॥
वस्त्राभरणसन्दोहैर्नाना ताम्बूलदानतः।
स भव्यानां विभाति स्म पर्यटन्निव सुरद्रुमः ॥ १२९ ॥

वर्ण्यते स रथः केन यस्य दर्शनमात्रतः ।
अनेकदुर्दशां चापि संजाता दर्शनश्रियः ॥ १३० ॥
इत्यादि सम्पदासारै रथः पूर्णमनोरथः ।
सम्यक्चचाल तद्राश्या यशोराशिरिवापरः ॥ १३१ ॥
सोऽस्माकं भव्यजीवानां नाना शर्मशतप्रदः ।
नित्यं सम्भावितश्चित्ते दद्यात्सद्दर्शनश्रियम् ॥ १३२ ॥
यथाऽकलङ्कदेवोऽसौ चक्रे ज्ञानप्रभावनाम् ।
अन्येनापि सुभव्येन कर्त्तव्या सा सुखप्रदा ॥ १३३ ॥

स जयति जिनदेवो देवदेवन्द्रवन्द्य—
त्रिभुवनसुखकारी यस्य बोधप्रदीपः ।
गुणगणमणिरुद्रो बोधसिन्धुर्मुनीन्द्रो
दिशतु मम शिवानि श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥ १३४ ॥

इति कथाकोशे ज्ञानेद्योतिनी श्रीमदकलङ्कदेवस्य कथा समाप्ता ।

३-सनत्कुमारचक्रवर्त्तिनः कथा ।

नत्वा पञ्च गुरून्भक्त्या स्वर्गमोक्षसुखप्रदान् ।
चारित्रद्योतने वच्मि चरित्रं तुर्यचाक्रिणः ॥ १ ॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे वीतशोकपुरे प्रभुः ।
अभूदनन्तवीर्याख्यो राज्ञी सीताऽभिधा सती ॥ २ ॥
पुत्रः सनत्कुमारोऽभूत्तयोः सत्पुण्यपाकतः ।
चतुर्थश्चक्रवर्तीशः सम्यग्दष्टिशिरोमणिः ॥ ३ ॥
षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं संसाध्यैव शुभोदयात् ।
निधानैर्नवभी रत्नैश्चतुर्दशाभिरुत्तमैः ॥ ४ ॥

गजैश्चतुरशीत्युक्तलक्षैर्दक्षो विराजितः ।
रथैस्तावत्प्रमाणैश्च नित्यं पूर्णमनोरथैः ॥ ५ ॥
अश्वैरष्टादशोत्कृष्टैः कोटिभिर्मर्मभूषितैः ।
भटैश्चतुरशीत्युक्तकोटिभिः शस्त्रपाणिभिः ॥ ६ ॥
ग्रामैः पण्णवतिप्रोक्तकोटिभिर्धान्यसम्भृतैः ।
स्त्रीणां पण्णवतिप्राप्तसङ्ख्यानैश्च सहस्रकैः ॥ ७ ॥
लसद्रत्नकिरीटाद्यैर्नरेन्द्राणां सहस्रकैः ।
द्वात्रिंशद्गणनोपेतैर्नित्यं सेवाविधायिभिः ॥ ८ ॥
इत्यादिसम्पदासारैर्देवविद्याधरैः श्रितः ।
रूपलावण्यसौभाग्यमहाभाग्यैः समन्वितः ॥ ९ ॥
कुर्वन्राज्यं महाप्राज्यं यावदास्ते विचक्षणः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां धर्मकर्मपरायणः ॥ १० ॥
तावत्सौधर्मकल्पेशः स्वकीये सदसि स्थितः ।
पुरुषस्य लसद्रूपगुणव्यावर्णनां पराम् ॥ ११ ॥
प्रकुर्वाणः सुरैः पृष्टो देव किं कोपि वर्तते ।
उक्तप्रकाररूपश्रीर्भरतक्षेत्रके न वा ॥ १२ ॥
इन्द्रेणोक्तं शुभं रूपं यादृशं चक्रवर्तिनः ।
सनत्कुमारनाम्नोऽस्ति देवानां नापि तादृशम् ॥ १३ ॥
तच्छ्रुत्वा मणिमालाख्यरत्नचूलौ सुरोत्तमौ ।
तद्रूपं द्रष्टुमायातौ प्रच्छन्नं मज्जनक्षणे ॥ १४ ॥
चक्रिणोरूपमालोक्य सर्वावयवसुन्दरम् ।
वस्त्रभूषादिनिर्मुक्तं तथापि त्रिजगत्प्रियम् ॥ १५ ॥
देवानामपि नास्त्येवं रूपं ताभ्यां विचिन्त्य च ।
शिरःकम्पं विधायेति सिंहद्वारे प्रहर्षतः ॥ १६ ॥

स्वरूपं प्रकटीकृत्य प्रतीहारं प्रतीरितम् ।
भो दौवारिक भूपाग्रे त्वया शीघ्रं निरूप्यते ॥ १७ ॥
द्रष्टुकामौ भवद्रूपं स्वर्गाद्देवौ समागतौ ।
तदाकर्ण्य प्रतीहारश्चक्रिणं तन्निवेदयत् ॥ १८ ॥
ततस्तेन विधायोच्चैः श्रृङ्गारं चक्रवर्तिना ।
स्थित्वा सिंहासने भूत्याऽऽकारितौ तौ सुधाशिनौ ॥ १९ ॥
सभायां तौ समागत्य दृष्ट्वा भूपं समूचतुः ।
हा कष्टं यादृशं रूपं दृष्टं प्रच्छन्नवृत्तितः ॥ २० ॥
आवाभ्यां पूर्वमेवेदं लीलया मज्जनाश्रितम् ।
साम्प्रतं तादृशं नास्ति ततः सर्वमशाश्वतम् ॥ २१ ॥
तच्छ्रुत्वा सेवकैरुक्तं तथा मण्डनकारिणा ।
पूर्वरूपादिदानीं च न किञ्चिद्धीनतामितम् ॥ २२ ॥
अस्माकं प्रतिभातीति श्रुत्वा ताभ्यां च तद्वचः ।
तद्धीनस्य प्रतीत्यर्थं नृपाग्रे जलसम्भृतम् ॥ २३ ॥
कुम्भमानीय सर्वेषा दर्शयित्वा पुनश्च तान् ।
वहिर्निष्कास्य भूपस्य पश्यतः पुरतो घटम् ॥ २४ ॥
तोयबिन्दुमपाकृत्य तस्मात्तृणशलाकया ।
तानाहूय पुनस्तेषां स कुम्भो दर्शितस्तराम् ॥ २५ ॥
कीदृशः प्रागिदानीं च कुम्भोयं कथ्यतामिति ।
सम्पृष्टास्ते जगुश्चैवं पूर्णोयं पूर्ववद्ध्रुवम् ॥ २६ ॥
देवौ ततश्च भो राजन् यथायं जलबिन्दुकः ।
दूरीकृतोपि न ज्ञातस्तथा ते रूपहीनता ॥ २७ ॥
एतैर्न लक्ष्यते चेति कथयित्वा दिवं गतौ ।
ततश्चक्री चमत्कारं दृष्ट्वा चित्ते विचारयन् ॥ २८ ॥

पुत्रमित्रकलत्रादिसम्पदा विविधा तराम् ।
चंचला चपलेवासौ संसारे दुःखसागरे ॥ २९ ॥
बीभत्सु तापकं पूति शरीरमशुचेर्गृहम् ।
का प्रीतिर्विदुषामत्र यत्क्षणार्धे परिक्षयि ॥ ३० ॥
भोगाः पञ्चेन्द्रियोत्पन्ना वञ्चकेभ्योति वञ्चकाः ।
यैर्वञ्चितो जनोयं च पिशाचीव प्रवर्तते ॥ ३१ ॥
मिथ्यात्वग्रसितो जीवो जैनवाक्यामृते हिते ।
न करोति मतिं मूढो ज्वरीव क्षीरशर्करे ॥ ३२ ॥
अद्य हत्वा महामोहं कुर्वेहं स्वात्मनो हितम् ।
इत्यादिकं विचार्योच्चैः सुधीर्वैराग्यतत्परः ॥ ३३ ॥
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां सर्वसिद्धिप्रदायिनीम् ।
दानं विधाय कारुण्यादयायोग्यं सुखप्रदम् ॥ ३४ ॥
दत्वा देवकुमाराय राज्यं पुत्राय धीधनः ।
त्रिगुप्तमुनिपार्श्वे च दीक्षां जैनीं जगद्धिताम् ॥ ३५ ॥
गृहीत्वा गुरुसद्भक्त्या तपश्चोग्राग्रसंज्ञकम् ।
कुर्वन्पञ्च प्रकारं च चारित्रं प्रतिपालयन् ॥ ३६ ॥
तदा विरुद्धकाहारैस्तस्य सर्वशरीरके ।
अनेकव्याधयो जाताः कण्डूप्रभृतयस्तराम् ॥ ३७ ॥
तथाप्यसौ महासाधुः शरीरेऽत्यन्तनिस्पृहः ।
चिन्तां नैव करोत्युच्चैः कुरुते चोत्तमं तपः ॥ ३८ ॥
तदा सौधर्मकल्पेशः सुधीर्धर्मानुरागतः ।
संस्थितः स्वसभामध्ये चारित्रं पञ्चधा मुदा ॥ ३९ ॥
व्यावर्ण्यंश्च देवेन पृष्टो मदनकेतुना ।
देव देव यथा प्रोक्तं चारित्रं भवता तथा ॥ ४० ॥

किं कस्यापि लसद्दृष्टेः क्षेत्रे भरतसंज्ञके ।
अस्ति वा नास्ति तच्छ्रुत्वा सौधर्मेन्द्रो जगाद च ॥ ४१
सनत्कुमारचक्रेशस्त्यक्त्वा षट्खण्डमण्डिताम् ।
तृणवच्च महीं धीमान्स्वदेहेऽतीव निस्पृहः ॥ ४२ ॥
तच्चरित्रं जगच्चित्रं पञ्चधास्ति जिनोदितम् ।
एतदाकर्ण्य देवोसौ शीघ्रं मदनकेतुवाक् ॥ ४३ ॥
तत्रागत्य महाटव्यामनेकव्याधिसंयुतम् ।
निश्चलं मेरुवद्गाढं सुरासुरनमस्कृतम् ॥ ४४ ॥
दुर्धरं भूरि चारित्रमनुतिष्ठन्तमद्भुतम् ।
समालोक्य मुनीन्द्रं तं पवित्रीकृतभूतलम् ॥ ४५ ॥
सम्प्राप्य परमानन्दं तथा तस्य परीक्षितुम् ।
शरीरे निस्पृहत्वं च वैद्यरूपं विधाय वै ॥ ४६ ॥
स्फेटयित्वा महाव्याधीन्सर्वान्वैद्यशिरोमणिः ।
शीघ्रं दिव्यं करोम्युच्चैः शरीरं रोगवर्जितम् ॥ ४७ ॥
एवं मुहुर्मुहुर्व्यक्तं ब्रुवाणः पुरतो मुनेः ।
इतस्ततश्च सञ्चरन्पृष्टोऽसौ मुनिना तदा ॥ ४८ ॥
कस्त्वं किमर्थमत्रैव निर्जने च वने घने ।
पूत्कारं सङ्करोषीति तदाकर्ण्य सुरोऽब्रवत् ॥ ४९ ॥
वैद्योऽहं भवतां देव निखिलं व्याधिसञ्चयम् ।
स्फेटयित्वा सुवर्णाभशरीरं सङ्करोम्यहम् ॥ ५० ॥
ततश्च स मुनिः प्राह यदि स्फेटयसि ध्रुवम् ।
व्याधिं मे स्फेटय त्वं च शीघ्रं सांसारिकं सुधीः ॥ ५१ ॥
तेनोक्तं भो मुने नाऽहं समर्थस्तन्निवारणे ।
तत्र शूरा भवन्त्येव भवन्तस्तु विचक्षणाः ॥ ५२ ॥

ततः प्रोक्तं मुनीन्द्रेण किं व्याधिस्फेटनेन मे ।
अशाश्वतेऽशुचौ काये निर्गुणे दुर्जनोपमे ॥ ५३ ॥
निष्ठीवनस्य संस्पर्शमात्रेण व्याधिसङ्क्षयः ॥
यत्र शीघ्रं भवत्येव किं कार्यं वैद्यभेषजैः ॥ ५४ ॥
इत्युक्त्वा मुनिना तेन स्वनिष्ठीवनमात्रतः ।
अपनीय महाव्याधिं स्वबाहुर्दर्शितः शुभः ॥ ५५ ॥
दृष्ट्वा स्वर्णशलाकाभं बाहुमेकं मुनेस्तराम् ।
स्वमायामुपसंहृत्य तं प्रणम्य जगाद सः ॥ ५६ ॥
भो स्वामिन्भवतां चित्रं चरित्रं दोषवर्जितम् ।
निस्पृहत्वं शरीरादौ सौधर्मेन्द्रेण वर्णितम् ॥ ५७ ॥
सभायां यादृशं देव महाधर्मानुरागतः ।
तादृशं दृष्टमेवात्र समागत्य मयाऽधुना ॥ ५८ ॥
अतस्त्वं धन्य एवात्र भूतले जन्म ते शुभम् ।
मानुष्यं शर्मदं चेति तं प्रशस्य मुहुर्मुहुः ॥ ५९ ॥
नत्वा भक्तिभरेणोच्चैः स्वर्गं देवो गतस्तदा ।
मुनिः सनत्कुमारोऽसौ महावैराग्यतः पुनः ॥ ६० ॥
पञ्च प्रकारचारित्रं प्रकृष्टोद्योतनादिकम् ।
विधाय क्रमशो धीरः शुक्लध्यानप्रभावतः ॥ ६१ ॥
घातिकर्मक्षयं कृत्वा लोकालोकप्रकाशकम् ।
सम्प्राप्तः केवलज्ञानं देवेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ॥ ६२ ॥
सम्बोध्य सकलान्भव्यान्सद्धर्मामृतवर्षणैः ।
शेषकर्मक्षयं कृत्वा प्राप्तवान्मोक्षमक्षयम् ॥ ६३ ॥
सोऽस्माकं केवलज्ञानी स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
पूजितो वन्दितो नित्यं भूयात्सत्केवलश्रिये ॥ ६४ ॥

यथाऽनेन मुनीन्द्रेण चारित्रोद्योतनं कृतम् ।
तथान्येन सुभव्येन कर्त्तव्यं तद्धि शर्मदम् ॥ ६५ ॥

गच्छे श्रीमति मूलसङ्घतिलके श्रीशारदायाः शुभे
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुश्चारित्रचूडामणिः ।
तच्छिष्यो गुणरत्नराजितमतिर्नित्यं सतां सद्गति—
र्भूयान्मे भवतारको वरमुदे श्रीसिंहनन्दी मुनिः ॥ ६६ ॥

इति चारित्रोद्योतिनी श्रीसनत्कुमारचक्रवर्तिनः कथा समाप्ता ।

४–श्रीसमन्तभद्रस्वामिनः कथा ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं द्योतने दृष्टिबोधयोः ।
श्रीमत्समन्तभद्रस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
इहैव दक्षिणस्थायां काञ्च्यां पुर्यां परत्मवित् ।
मुनिः समन्तभद्राख्यो विख्यातो भुवनत्रये ॥ २ ॥
तर्कव्याकरणोत्कृष्टच्छन्दोऽलङ्कृतिकादिभिः ।
अनेकशास्त्रसन्दोहैर्मण्डितो बुधसत्तमः ॥ ३ ॥
दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान् ।
यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥ ४ ॥
असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद्दुर्दुःखदायिनः ।
तीव्रकष्टप्रदः कष्टं भस्मकव्याधिसंज्ञकः ॥ ५ ॥
तेन सम्पीडितश्चित्ते चिन्तयत्यैवमञ्जसा ।
व्याधिनानेन सन्तप्ता विद्वान्सोपि वयं भुवि ॥ ६ ॥
दर्शनस्योपकाराय जाता नैव समर्थकाः ।
अतस्तद्व्याधिनाशाय विधिः कश्चिद्विधीयते ॥ ७ ॥

स विधिस्तु भवेन्नाना पक्वान्नाहारसञ्चयैः ।
अन्यैः स्निग्धतरैरन्नैस्तद्दुःखौघप्रशान्तिदः ॥ ८ ॥
तदाहारस्य सम्प्राप्तेरभावादत्र साम्प्रतम् ।
यस्मिन्देशे यथास्थाने येन लिङ्गेन सम्भवेत् ॥ ९ ॥
तथाहारपरिप्राप्तिराश्रयं तं व्रजाम्यहम् ।
विचार्येति परित्यज्य पुरीं काञ्चीं स संयमी ॥ १० ॥
उत्तराभिमुखो गच्छन्पुण्ड्रेन्दुनगरे गतः ।
तत्र वन्दकलोकानां स्थाने च महतीं मुदा ॥ ११ ॥
दानशालां समालोक्य भस्मकव्याधिसङ्क्षयः ।
भविष्यत्यत्र संचित्य धृतवान्बौद्धलिङ्गकम् ॥ १२ ॥
तत्रापि तन्महाव्याधिशान्तिदाहारदुर्विधात् ।
स निर्गत्य पुनस्तस्मादुत्तरापथसम्मुखः ॥ १३ ॥
पर्यटन्नगराण्युच्चैरनेकानि क्षुधाहतः ।
सम्प्राप्तः कतिभिर्वर्षैः पुरं दशपुराभिधम् ॥ १४ ॥
तत्र दृष्ट्वा तथा भागवतानामठमुन्नतम् ।
तल्लिङ्गिभिः समाकीर्णं काककीर्णं वनं यथा ॥ १५ ॥
तद्भाक्तिकैः सदा दत्तविशिष्टाहारसञ्चयम् ।
त्यक्त्वा वन्दकलिङ्गं च धृत्वा भागवतं हि तत् ॥ १६ ॥
तत्रैवं भस्मकव्याधिविनाशाहारहानितः ।
ततो निर्गत्य नानोरुदिग्देशादींश्च पर्यटन् ॥ १७ ॥
अन्तः स्फुरितसम्यक्त्वो बहिर्व्याप्तकुलिङ्गकः ।
शोभितोऽसौ महाकान्तिः कर्दमाक्तो मणिर्यथा ॥ १८ ॥
वाणारसीं ततः प्राप्तः कुलघोषैः समन्विताम् ।
योगिलिङ्गं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटन्पुरे ॥ १९ ॥

स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा ।
कारितं शिवदेवोच्चप्रासादं सन्निरीक्ष्य च ॥ २० ॥
सुपाषाणदशसद्दक्षसमूहैश्चार्ककैर्युतम् ।
अत्रास्मदीयदुर्व्याधिशान्तिता सम्भविष्यति ॥ २१ ॥
यावदेवं विचार्योच्चैः संस्थितस्तावदेव च ।
कृत्वा देवस्य तैः पूजां भक्तिकर्मैकभेदकैः ॥ २२ ॥
वहिर्निक्षिप्यमाणं च दृष्ट्वा नैवेद्यकं महत् ।
अहो किमत्र कस्यापि सामर्थ्यं नास्ति सोऽवदत् ॥ २३ ॥
यः कोपि देवमत्रेममवतार्य सुभक्तितः ।
राज्ञा सम्प्रेषितं दिव्यमाहारं भोजयत्यलम् ॥ २४ ॥
इत्याकर्ण्य जगुस्तेपि किं सामर्थ्यं तवास्ति च ।
मक्षं भोजयितुं देवमवतार्य यतो भवान् ॥ २५ ॥
वदत्येवं तदाकर्ण्य स जगौ मेरित तद्भुवम् ।
ततस्तत्र स्थितैर्लोकैः शीघ्रं राज्ञे निवेदितम् ॥ २६ ॥
योगिनैकेन देवात्र समागत्य महाद्भुतम् ।
त्वदीयदेवसत्पूजाविसर्जनविधौ प्रभो ॥ २७ ॥
बहिर्निक्षिप्यमाणं च नैवेद्यं संनिरीक्ष्य तत् ।
प्रोक्तमत्रावतार्याशु देवं दिव्याशनं महत् ॥ २८ ॥
भोजयामीति तच्छ्रुत्वा शिवकोटिमहीपतिः ।
सञ्जातकौतुको दिव्यं नानाहारं घृतादिभिः ॥ २९ ॥
प्रचुरैक्षुरसैर्दुग्धदध्यादिकसमन्वितैः
पूर्णैः कुम्भशतैर्युक्तं सत्पपैर्वटकादिभिः ३० ॥
समादाय समागत्य तत्रैवं संजगाद सः ।
भोजयन्तु भवन्तस्तु देवं भो योगिनोऽशनम् ॥ ३१ ॥

एवं करोमि तेनोक्त्वा सर्वं तद्भोज्यसञ्चयम् ।
प्रासादान्तः प्रविश्योच्चैः सर्वान्निष्कास्य तान्वहिः ॥ ३२ ॥
द्वारं दत्वा स्वयं भुक्त्वा कपाटयुगलं पुनः ।
समुद्घाट्य ततः प्रोक्तं भाजनानि वहिस्तराम् ॥ ३३ ॥
निस्सार्यतां ततो जाते महाश्चर्ये स भूपतिः ।
नित्यं नैवेद्यसन्दोहं कारयित्वोत्तरोत्तरम् ॥ ३४ ॥
प्रेषयामास सद्भक्त्या षण्मासेषु गतेषु च ।
संजाते भस्मकव्याधिप्रक्षये तस्य योगिनः ॥ ३५ ॥
आहारे प्रकृतिं प्राप्ते शरीरे शान्तितामिते ।
समस्तभक्षसन्दोहं दृष्ट्वा चोद्धरितं जगुः ॥ ३६ ॥
ततस्तत्र स्थिता लोकाः किं भो योगीन्द्र साम्प्रतम् ।
तथैवोद्ध्रियते सर्वो नाना भक्षसमुच्चयः ॥ ३७ ॥
तेनोक्तं भूपतेर्भक्त्या सन्तुष्टो भगवानयम् ।
स्तोकमेवात्र भुंक्ते च तच्छ्रुत्वा ते जगुर्नृपम् ॥ ३८ ॥
तत्सर्वं भूपतिः सोपि शुष्कपुष्पादिवेष्टितम् ।
धूर्तं माणवकं तस्य चारित्रं वीक्षितुं तराम् ॥ ३९ ॥
तं प्रणालप्रदेशे च स्थापयामास मूढतः ।
द्वारं दत्वा तु योगीन्द्रं भुञ्जानं वीक्ष्य तत्स्वयम् ॥ ४० ॥
छात्रो जगौ नृपस्याग्रे योगी भो देव किं चन ।
देवं न भोजयत्येव किन्तु भुंक्ते स्वयं पुनः ॥ ४१ ॥
तदाकर्ण्य नृपः प्राह कोपेन कलितस्तराम् ।
भो योगिंस्त्वं मृषावादी न किञ्चिद्भोजनादिकम् ॥४२॥
देवं मे भोजयत्येव किन्तु दत्वा कपाटकम् ।
स्वयं त्वं भक्षयत्येव महान्धूर्ततरो भवान् ॥ ४३ ॥

नमस्कारं न देवस्य करोषीति कथं पुनः ।
तच्छ्रुत्वा योगिना प्रोक्तं देवस्ते सोढुमक्षमः ॥ ४४ ॥
अस्माकं सुनमस्कारं रागद्वेषमलीमसः ।
राजत्वं राजते नैव राजन्सामान्यके नरे ॥ ४५ ॥
यस्त्वष्टादशदुर्दोषैर्निर्मुक्तो जिनभास्करः ।
केवलज्ञानसत्तेजोलोकालोकप्रकाशकः ॥ ४६ ॥
अस्मदीयं नमस्कारं स सोढुं वर्तते क्षमः ।
तेनाहं न नमस्कारं करोम्यस्मै महीपते ॥ ४७ ॥
यद्यस्मै तं करोम्युच्चैस्तदायं तव देवकः ।
स्फुटत्यैव तदाकर्ण्य नृपः प्राह सकौतुकः ॥ ४८ ॥
स्फुटत्यसौ स्फुटत्यैव कुरु त्वं च नमस्कृतिम् ।
पश्यामस्ते नमस्कारसामर्थ्यं सकलं ध्रुवम् ॥ ४९ ॥
ततो जगाद योगीन्द्रः प्रभाते भवतां पुनः ।
सामर्थ्यं दर्शयिष्यामि मदीयं भो महीपते ॥ ५० ॥
एवमस्त्वीति सम्प्रोक्त्वा राज्ञा तं योगिनं तदा ।
धृत्वा देवगृहे पश्चाद्बहिस्तु बहुयत्नतः ॥ ५१ ॥
खड्गपाणिभटैर्गाढं हस्तिनां च घटादिभिः ।
संरक्षितस्तदा रात्रिप्रहरद्वितये गते ॥ ५२ ॥
मयोक्तं रभसादित्थं न विद्मः किं भविष्यति ।
इत्यादिचिन्तनोपेतः संस्मरञ्जिनपादयोः ॥ ५३ ॥
यावदास्ते स योगीन्द्रस्तावदासनकम्पनात् ।
अम्बिकाशु समागत्य जिनशासनदेवता ॥ ५४ ॥
तं जगाद प्रभो श्रीमज्जिनपादाब्जषट्पद ।
चिन्तां मा कुरु योगीन्द्र यत्प्रोक्तं भवता ध्रुवम् ॥ ५५ ॥

" स्वयंभुवाभूतहिते-नभूतल " इति स्फुटम् ।
पदमाद्यं विधायोच्चैः कुर्वतः स्तुतिमुन्नताम् ॥ ५६ ॥
चतुर्विंशतितीर्थेशां शान्तिकोटिविधायिनाम् ।
भविष्यति द्रुतं सर्वं स्फुटिष्यति कुलिङ्गकम् ॥ ५७ ॥
इत्युक्त्वा सा गता देवी जिनभक्तिपरायणा ।
ततः समन्तभद्रोसौ देवतादर्शनात्तराम् ॥ ५८ ॥
सञ्जातपरमानन्दप्रोल्लसद्वदनाम्बुजः ।
चतुर्विंशतितीर्थेशां स्तुतिं कृत्वा सुखं स्थितः ॥ ५९ ॥
प्रभाते च समागत्य राज्ञा कौतुहलाद्द्रुतम् ।
समस्तलोकसन्दोहसंयुतेन महाश्रिया ॥ ६० ॥
देवद्वारं समुद्घाट्य बहिराकारितो हि सः ।
आगच्छन्तं समालोक्य सम्मुखं हृष्टचेतसम् ॥ ६१ ॥
विकाशितमुखाम्भोजभास्करं वा महाद्युतिम् ।
ततश्चेतसि भूपेन चिन्तितं योगिनोधुना ॥ ६२ ॥
मूर्तिः सन्दृश्यते दिव्या ध्रुवं निर्वाहयिष्यति ।
आत्मीयं भाषितं चेति संविचार्यैव योगिराट् ॥ ६३ ॥
तेनोच्चैर्भणितः शीघ्रं भो योगीन्द्र कुरु ध्रुवम् ।
त्वं देवस्य नमस्कारं पश्यामो वयमद्भुतम् ॥ ६४ ॥
चतुर्विंशतितीर्थेशां योगीन्द्रेण महास्तुतिः ।
प्रारब्धा भक्तितः कर्तुं शर्मदा दिव्यभाषया ॥ ६५ ॥
तां कुर्वन्नष्टमश्रीमच्चन्द्रप्रभजिनेशिनः ।
तमस्तमोरिव रश्मिभिन्नमिति संस्तुतेः ॥ ६६ ॥
वाक्यं यावत्पठत्येवं स योगी निर्भयो महान् ।
तावत्तल्लिङ्गकं शीघ्रं स्फुटितं च ततस्तराम् ॥ ६७ ॥

निर्गता श्रीजिनेन्द्रस्य प्रतिमा सुचतुर्मुखी ।
संजातः सर्वतस्तत्र जयकोलाहलो महान् ॥ ६८ ॥
समुत्पन्ने महाश्चर्ये भूपादीनां ततो नृपः ।
जगौ योगीन्द्र भो कस्त्वं परमाश्चर्यकारकः ॥ ६९ ॥
महासामर्थ्यसंयुक्तोऽयक्तलिंगीति तच्छ्रुतेः ।
स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः ॥ ७० ॥
"काञ्च्यां नग्नाटकोहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोन्द्रे शाकभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट् ।
वाणारस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी ।
राजन्यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥
पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटंर्विद्योत्कटैः सङ्कटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥"
इत्युक्त्वा कुलघोपस्य त्यक्त्वा लिङ्गं कुलिङ्गिनः ।
जैननिर्ग्रन्थसल्लिङ्गं शिखिपिच्छसमन्वितम् ॥ ७१ ॥
सन्धृत्वैकान्तिनः सर्वान्वादिनो दुर्मदान्वितान् ।
अनेकान्तप्रवादेन निर्जित्यैकहेलया ॥ ७२ ॥
कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनाम् ।
स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थङ्करो गुणी ॥ ७३ ॥
समुद्योतितवान्सारं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ।
कुदेवस्य नमस्काराऽकरणात्कविसत्तमः ॥ ७४ ॥
एकान्तवादिनां भङ्गात्सम्यग्ज्ञानं जिनेशिनः ।
स्वामी समन्तभद्राख्यो द्योतयामास शुद्धधीः ॥ ७५ ॥

एवं दृष्ट्वा महाश्चर्यं लोकानां भूपतेस्तराम् ।
श्रद्धा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासने समभूत्तदा ॥ ७६ ॥
शिवकोटिमहाराजो विवेकोत्कृष्टमानसः ।
चारित्रमोहनीयस्य क्षयोपशमहेतुना ॥ ७७ ॥
महावैराग्यसम्पन्नो राज्यं त्यक्त्वा विचक्षणः ।
जैनीं दीक्षां समादाय शर्मदां गुरुभक्तितः ॥ ७८ ॥
सकलश्रुतसन्दोहमधीत्य क्रमशः सुधीः ।
लोहाचार्यकृतां पूर्वां शुद्धात्माराधनां पराम् ॥ ७९ ॥
सहस्रैश्चतुराशीत्या श्लोकैः संख्यामितां हिताम् ॥
संक्षिप्य ग्रन्थतो मन्दमेधात्वच्छायुषोर्वशात् ॥ ८० ॥
अर्थतश्चारिहे लिङ्ग इत्यादिभिरनुत्तरैः ।
चत्वारिंशन्महासूत्रैः सन्मूलाराधनां नवाम् ॥ ८१ ॥
तृतीयार्द्धसहस्रातसंख्यां चक्रे जगद्धिताम् ।
सा राधना मुनीन्द्रो तौ शर्मदाः सन्तु मे सदा ॥ ८२ ॥
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तविलसद्रत्नाकरो निर्मलः
कामोद्दामकरीन्द्रपञ्चवदनो विद्यादिनन्दी गुरुः ।
षट्तर्कागमजैनशास्त्रनिपुणः श्रीमूलसङ्घे श्रियं
श्रीमद्भट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सूरिः श्रुताब्धिः क्रियात् ॥ ८३ ॥

इति सम्यग्दर्शनज्ञानोद्योतिनी श्रीसमन्तभद्रस्वामिनः कथा समाप्ता ।

८–श्रीसञ्जयन्तमुनेः कथा ।

श्रीमज्जैनपदाम्भोजयुग्मं नत्वा सुखप्रदम् ।
सञ्जयन्तमुनेर्वच्मि सत्तपोद्योतने कथाम् ॥ १ ॥

जम्बूद्वीपे महामेरोः पश्चिमास्ये विदेहके ।
विषये गन्धमालिन्यां वीतशोकपुरे पुरे ॥ १ ॥
वैजयन्तो महाराजो भव्यश्री नाम तत्प्रिया ।
सञ्जयन्तजयन्ताख्यौ सञ्जातौ सुसुतौ तयोः ॥ २ ॥
एकदा स महीनाथो विजयन्तोऽतिनिर्मलः ।
विद्युत्पातेन संवीक्ष्य मरणं पट्टहस्तिनः ॥ ४ ॥
महावैराग्यसम्पन्नो पुत्राभ्यां राज्यसम्पदम् ।
ददानो भणितस्ताभ्यां भो पितश्चेदिदं शुभम् ॥ ५ ॥
कथं सन्त्यज्यते राज्यं युष्माभिः सुविक्षणैः ॥
आवाभ्यां न ततस्तात राज्यं तद्गृह्यते सुधीः ॥ ६ ॥
ततो राज्यं बुधैस्त्याज्यं सञ्जयन्तसुताय च ।
वैजयन्ताय दत्वेति गृहीतं सुतपस्त्रिभिः ॥ ७ ॥
विशिष्टं स तपः कुर्वन्पिता सद्ध्यानवह्निना ।
घातिकर्मेन्धनं दग्ध्वा प्राप्तवान्केवलश्रियम् ॥ ८ ॥
केवलज्ञानपूजार्थं सञ्जाते मरुदागमे ।
मुनिर्जयन्तनामासौ संविलोक्य तदा लघुः ॥ ९ ॥
सद्रूपं धरणेन्द्रस्य विभूतिं च मनोहराम् ।
ईदृशं सुतरां रूपं सम्पदा महतीदृशी ॥ १० ॥
तपोमाहात्म्यतो भूयाच्छीघ्रं मे परजन्मनि ।
इत्युत्कटनिदानेन धरणेन्द्रश्चाभवत्ततः ॥ ११ ॥
सञ्जयन्तमुनिश्चापि- पक्षमासोपवासकैः ।
क्षुत्पिपासादिभिः क्षीणो महाटव्यां मुनिश्चलः ॥ १२ ॥
स सूर्यप्रतिमायोगसंस्थितो गिरिवत्तराम् ।
तदातस्योपरिप्राप्तो विद्युद्दंष्ट्रो खगाधिपः ॥ १३ ॥

आकाशे स्वविमानस्य स्खलनाद्वीक्ष्य तं मुनिम् ।
ततस्तस्योपसर्गं च चक्रे कोपतो दृढम् ॥ १४ ॥
स मुनिस्तु निजध्यानाच्चलितो नैव धीरधीः ।
महावायुशतैश्चापि चाल्तिः किं सुराचलः ॥ १५ ॥
ततस्तेनातिकष्टेन मुनिं विद्याप्रभावतः ।
नीत्वा च भरतक्षेत्रे पूर्वदिग्भागसंस्थिते ॥ १६ ॥
क्षिप्त्वा सिंहवतीमुख्यनदीपञ्चकसङ्गमे ।
तद्देशवर्तिनश्चापि सर्वलोकाः सुपापिनः ॥ १७ ॥
आकार्य भणिताः शीघ्रं राक्षसोऽयं महानहो ।
युष्मान्भक्षयितुं प्राप्तो मत्वैवं मार्यतामिति ॥ १८ ॥
तदाकर्ण्य मिलित्वा ते लोकैर्लकुटकादिभिः ।
पापाणैर्मार्यमाणोपि शत्रुमित्रसमाशयः ॥ १९ ॥
दुष्टोपसर्गकं जित्वा स मुनिः सञ्जयन्तवाक् ।
घातिकर्मक्षयं कृत्वा केवलज्ञानमद्भुतम् ॥ २० ॥
उत्पाद्य शेषकर्माणि हत्वा मोक्षं गतो द्रुतम् ।
ततो निर्वाणपूजार्थं जाते देवागमे तराम् ॥ २१ ॥
यो जयन्तमुनिर्जातो धरणेन्द्रो निदानतः ।
तेनागतेन तं दृष्ट्वा बन्धोः कायं महाक्रुधा ॥ २२ ॥
एभिर्मदीयसद्बन्धोरुपसर्गः कृतो महान् ।
मत्वेति नागपाशेन बद्धा लोकाः सुनिष्ठुरम् ॥ २३ ॥
ततस्तैर्भणितं लोकैर्नजानीमो वयं प्रभो ।
एतत्सर्वमहापापं विद्युद्दंष्ट्रेण निर्मितम् ॥ २४ ॥
तच्छ्रुत्वा नागपाशेन तं बद्ध्वा पापिनं पुनः ।
मुनिक्षिप्य महाम्भोधौ मारयन्धरणेन्द्रवाक् ॥ २५ ॥

तदा दिवाकराख्येन देवेन भणितो द्रुतम् ।
किं नागेन्द्र वराकेन मारितेनामुना सुधीः ॥ २६ ॥
चतुर्भवान्तराण्युच्चैर्वैरं पूर्वं प्रवर्तते ।
कारणेन पुनस्तेन मुनेश्चोपद्रवः कृत ॥ २७ ॥
एतदाकर्ण्य नागेन्द्रः प्राहैवं ब्रूहि कारणम् ।
ततो दिवाकरेणोक्तं श्रृणुत्वं भो विचक्षण ॥ २८ ॥
जम्बूद्वीपेऽत्र विख्याते भरतक्षेत्रमध्यगे ।
पुरा सिंहपुरे राजा सिंहसेनोऽभवत्सुधीः ॥ २९ ॥
रामदत्ता महादेवी साध्वी तस्य विचक्षणा ।
मंत्री श्रीभूतिनामाभूत्परेषा वंचनापरः ॥ ३० ॥
पद्मखण्डे पुरे श्रेष्ठी सुमित्रो गुणमाण्डितः ।
पुत्रः समुद्रदत्ताख्यो सुमित्राकुक्षिसंभवः ॥ ३१ ॥
वाणिज्येनैकदागत्य तत्र सिंहपुरे महान् ।
वणिक्समुद्रदत्तोऽसौ सत्यशौचपरायणः ॥ ३२ ॥
श्रीभूतिमंत्रिणः पार्श्वे धृत्वा सद्रत्नपञ्चकम् ।
गत्वा समुद्रपारं च तस्मादायाति तत्क्षणे ॥ ३३ ॥
पापतः स्फुटिते यान-पात्रे जातोतिनिर्धनः ।
आगतेन ततस्तेन श्रीभूतिस्तु स याचितः ॥ ३४ ॥
देहि मे पञ्च रत्नानि सत्यघोप दयापर ।
तेन श्रीभूतिना प्रोक्तं लोकानामग्रतस्तदा ॥ ३५ ॥
किं भो पुरा मया प्रोक्तं तत्सत्यं समभूद्वचः ।
मन्येऽहं धननाशेन समागच्छाति कोप्ययम् ॥ ३६ ॥
निर्धनो ग्रहिलो भूत्वा कस्यापि महतस्तराम् ।
करिष्यति वृथा मूढो गले वल्गनकं ध्रुवम् ॥ ३७ ॥

कस्मात्समागतान्यस्य सद्रत्नानि महीतले ।
केन वा लोकितानीति किं न कुर्वन्ति पापिनः ॥ ३८ ॥
ततः समुद्रदत्तोपि मदीयं रत्नपंचकम् ।
श्रीभूतिर्न ददात्येवं सर्वस्मिन्नगरे सुधीः ॥ ३९ ॥
कृत्वा पूत्कारकं नित्यं राजवेश्मसमीपतः ।
पश्चात्पश्चिमरात्रौ च पूत्कारं प्रकरोत्यसौ ॥ ४० ॥
षण्मासेषु गतेष्वेवं राज्ञ्या राज्ञे निवेदितम् ।
देवायं गृहिलो न स्यादेक्यवाक्यप्रजल्पनात् ॥ ४१ ॥
एकान्ते च ततो राज्ञा सम्पृष्टो गृहिलो जगौ ।
पूर्ववृत्तान्तकं सर्वं रत्नानां सत्यमेव च ॥ ४२ ॥
ततः परस्परं द्यूते पृष्ट्वा तं रामदत्तया ।
श्रीभूतिं भोजनं पश्चात्साभिज्ञानेन तेन च ॥ ४३ ॥
रत्नार्थं प्रेषिता दासी पार्श्वं श्रीभूतिकस्त्रियः ।
न दत्तानि तया पश्चाज्जित्वा तन्मुद्रिकां शुभाम् ॥ ४४ ॥
प्रेषिता सा पुनर्नैव तया दत्तानि तानि च ।
जित्वा च प्रेषिते यज्ञोपवीते भीतया तया ॥ ४५ ॥
शीघ्रं रत्नानि दत्तानि तान्यादाय तया पुनः ।
भूपतेर्दर्शतान्युच्चैस्ततस्तेन महीभुजा ॥ ४६ ॥
स्वकीयसाररत्नानां मध्ये निक्षिप्य तानि च ।
धृत्वा समुद्रदत्ताग्रे युष्माकं त्वं गृहाण भो ॥ ४७ ॥
इत्युक्ते तेन रत्नानि गृहीतानि निजानि वै ।
न विस्मृतिः सतां क्वापि काले दीर्घतरे गते ॥ ४८ ॥
तदा कोपेन तेनोक्तं भूभुजा स्वाधिकारिणाम् ।
अस्य किं क्रियते ब्रूत महाचोरस्य पापिनः ॥ ४९ ॥

ततोधिकारिभिः प्रोक्तं राजन्नीदृग्विधाथिनः ॥
भक्षणं गोमस्योच्चैर्द्वात्रिंशन्मल्लमुष्टयः ॥ ५० ॥
सर्वस्वहरणं दण्डः क्रियते चास्य निश्चयात् ।
श्रीभूतिस्तु महालोभी क्रमाद्दण्डत्रयं कुधीः ॥ ५१ ॥
स्वीकृत्यैव महाकष्टमार्त्तध्यानेन पीडितः ।
मृत्वा तस्य नृपस्याभूद्भाण्डागारे भुजङ्गमः ॥ ५२ ॥
सुधीः समुद्रदत्तस्तु धर्माचार्यमहामुनेः ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं गृहीत्वा सुतपस्ततः ॥ ५३ ॥
मृत्वा कालेन तस्यैव सिंहसेनमहीपतेः ।
सिंहचन्द्राभिधो धीमान्पुत्रो जातोतिनिर्मलः ॥ ५४ ॥
एकदा सिंहसेनोसौ भाण्डागारे नृपो गतः ।
श्रीभूतिचरसर्पेण भक्षितो मरणं श्रितः ॥ ५५ ॥
सल्लकीवनमध्ये च हस्ती जातो महान् ध्रुवम् ।
नृपो मृत्वा गजो जातो दुस्सहः कर्मसञ्चयः ॥ ५६ ॥
राज्ञो मरणमालोक्य महाकोपेन मन्त्रतः ।
सुघोषमन्त्रिणाहूय सर्वान्सर्पान्प्रजल्पितम् ॥ ५७ ॥
भो नागा ये तु निर्दोषाः प्रवेशं वह्निकुण्डके ।
कृत्वा स्वस्थानके यान्तु तं कृत्वा ते च निर्गताः ॥ ५८ ॥
श्रीभूतिचरसर्पे च संस्थिते मंत्रिणोदितम् ।
विषं मुञ्चाग्निकुण्डे वा कुरु त्वं रे प्रवेशनम् ॥ ५९ ॥
अगन्धनकुलोद्भूतो नाहं मुञ्चामि तद्विषम् ।
इति क्रूराशयः सोपि कृत्वा वह्निप्रवेशनम् ॥ ६० ॥
मृत्वा कुर्कुटसर्पोऽभूत्पापी तत्सल्लकीवने ।
पापिनां पुनरावर्तो भवत्येवं कुयोनिषु ॥ ६१ ॥

रामदत्ता तदा राज्ञी पत्युर्मरणदुःखिता ।
कनश्र्यार्यिकापार्श्वे तपो धृत्वा सुखं स्थिता ॥ ६२ ॥
सिंहचन्द्रोपि तातस्य मरणेन विरक्तधीः ।
स्वभ्रात्रे पूर्णचन्द्राय राज्यं दत्वा कनीयसे ॥ ६३ ॥
सुव्रताख्यमुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ।
संजातः सुतपोयोगैर्मनःपर्ययबोधवान् ॥ ६४ ॥
एकदा तं मुनिं दृष्ट्वा चतुर्थज्ञानसंयुतम् ।
रामदत्तार्यिका प्राह भक्त्या नत्वा तपोनिधिम् ॥ ६५ ॥
स्वामिन्धन्योऽत्र मे कुक्षिर्धृतो येन भवान्भृशम् ।
पूर्णचन्द्रस्तु ते भ्राता कदा धर्मं गृहीष्यति ॥ ६६ ॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह सिंहचंद्रो गुणोज्वलः ।
मातस्त्वं पश्य संसारवैचित्र्यं वच्मि तेऽधुना ॥ ६७ ॥
सिंहसेनो महाराजो दष्टः सर्पेण पापिना ।
स मृत्वा सल्लकीनामवने हस्ती बभूव च ॥ ६८ ॥
स मां वीक्ष्यैकदा धावन्मारणार्थं मया ततः ।
भणितो भो करीन्द्र त्वं सिंहसेनो नृपः पुरा ॥ ६९ ॥
पुत्रोऽहं सिंहचन्द्रस्ते प्राणेभ्यश्चातिवल्लभः ।
इदानीन्तु समायातो मारणार्थं कथं विधिः ॥ ७० ॥
इत्युक्ते स गजेन्द्रोपि भूत्वा जातिस्मरो महान् ।
अश्रुपातं तरां कुर्वन्नत्वा मे पादयोः स्थितः ॥ ७१ ॥
मया पुनस्ततस्तस्य कारयित्वा जिनेशिनः ।
सद्धर्मश्रवणं सारसम्यक्त्वाणुव्रतानि च ॥ ७२ ॥
ग्राहितानि गतः सोपि तान्युच्चैः प्रतिपालयन् ।
गृह्णन्नाहारतोयादिसमस्तं प्रासुकं पुनः ॥ ७३ ॥

क्षीणकायो नदीतीरे निर्मग्नः कर्दमे तदा ।
श्रीभूतिचरसर्पेण कुर्कुटाख्येन मस्तके ॥ ७४ ॥
स्थित्वा संखाद्यमानस्तु कृत्वा सन्यासमुत्तमम् ।
स्मरन्पञ्चनमस्कारान्सर्वपापक्षयङ्करान् ॥ ७५ ॥
मृत्वा स्वर्गे सहस्रारे देवोऽभूच्छ्रीधराह्वयः ।
नाना सत्सम्पदोपेतः किमन्यद्धर्मतः शुभम् ॥ ७६ ॥
सर्पः सोपि महापापी मृत्वा कष्टशतप्रदे ।
चतुर्थे नरके घोरे पतितः पापकर्मणा ॥ ७७ ॥
हस्तिनस्तस्य सद्दन्तौ तदा मुक्ताफलानि च ।
वनराजेन भिल्लेन गृहीत्वा तानि तेन च ॥ ७८ ॥
दत्तानि धनमित्राख्यसार्थवाहस्य तेन तु ।
पूर्णचंद्रमहीभर्तुरर्पितानि सुभक्तितः ॥ ७९ ॥
पूर्णचन्द्रेण दन्ताभ्यां स्वपल्यङ्कस्य कारिताः ।
पादा मुक्ताफलैर्हारो राज्ञीकण्ठे च कारितः ॥ ८० ॥
एवं संसारवैचित्र्यं पूर्णचन्द्रस्य कथ्यते ।
गत्वा मातस्त्वया सोपि जैनं धर्मं गृहीष्यति ॥ ८१ ॥
ततो नत्वा मुनिं सापि गता भूपस्य मन्दिरम् ।
तां दृष्ट्वा पूर्णचन्द्रश्चोत्थाय पल्यङ्कतो द्रुतम् ॥ ८२ ॥
प्रणम्य मातरं यावत्संस्थितो विनयानतः ।
सा जगौ पुत्र ते तातो दष्टः सर्पेण पापिना ॥ ८३ ॥
स मृत्वात्र गजेन्द्रोभूत्सल्लकीकानने सुधीः ।
सर्पो मृत्वा पुनः सोपि कुर्कुटाख्योहिकोऽभवत् ॥ ८४ ॥
निर्मग्नः कर्दमे हस्ती तेन सर्पेण भक्षितः ।
सद्दन्तौ हस्तिनस्तस्य मुक्ताफलकदम्बकम् ॥ ८५ ॥

अर्पयामास ते राजन्सार्थवाहः सुभक्तितः।
एते पल्यङ्कपादास्ते तद्दन्ताभ्यां विनिर्मिताः ॥ ८६ ॥
हारोयं शोभते राज्ञीकण्ठे ते भूपते तराम्।
ज्ञेयो मुक्ताफलैस्तस्य हस्तिनस्तु विनिर्मितः ॥ ८७ ॥
इत्यादिसर्वसंबन्धं स श्रुत्वा भूपतिस्तराम्।
महाशोकेन सन्तप्तो गिरिर्दावानलेन वा ॥ ८८ ॥
ततः पल्यङ्कपादांस्तान्समालिङ्ग्य प्रमोहतः।
हा तातेति च पूत्कारं पूर्णचन्द्रश्चकार सः ॥ ८९ ॥
अन्तःपुरेण तेनोच्चैः सुजनैश्च तथा जनैः।
कृत्वा संरोदनं पश्चाच्चन्दनाक्षतपुष्पकैः ॥ ९० ॥
दन्तमुक्ताफलानां च पूजां कृत्वा ततः परम्।
संस्कारस्तु कृतो लोके किन्न कुर्वन्ति मोहिनः ॥ ९१ ॥
पूर्णचन्द्रस्ततो धीमान्प्रतिपाल्य जिनोदितम्।
सारं श्रावकसद्धर्मं महाशुक्रे सुरोजनि ॥ ९२ ॥
रामदत्ता तपस्तप्त्वा देवस्तत्रैव चाभवत्।
के के नैव गता लोके कालेन कवलीकृताः ॥ ९३ ॥
चतुर्थज्ञानधारी च सिंहचन्द्रो मुनीश्वरः।
शुद्धचारित्रयोगेन प्रान्तं ग्रैवेयकं गतः ॥ ९४ ॥
अथ जम्बूमति द्वीपे भरतस्थे खगाचले।
श्रीसूर्याभपुरे राजा सुरावर्त्तो विचक्षणः ॥ ९५ ॥
यशोधरा महाराज्ञी रूपलावण्यमण्डिता।
दानपूजालसच्छीलप्रोषधैः प्रविराजिता ॥ ७६ ॥
सिंहसेनचरो योऽसौ गजो मृत्वा दिवं गतः।
तद्गर्भे हि समागत्य रश्मिवेगः सुतोभवत् ॥ ९७ ॥

ततः कैश्चिद्दिनैस्तस्मै रश्मिवेगाय धीमते ।
दत्वा राज्यं सुरावर्त्तो राजा जातो मुनीश्वरः ॥ ९८ ॥
अथैकदा महाराजो रश्मिवेगः सुधार्मिकः ।
सिद्धकूटजिनागारे वन्दनार्थं गतो मुदा ॥ ९९ ॥
तत्र श्रीहरिचन्द्राख्यं मुनिं दृष्ट्वा जगद्धितम् ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं तदन्ते सत्तपोऽगृहीत् ॥ १०० ॥
एकदा स तपःक्षीणो रश्मिवेगो महामुनिः ।
स्थितो वने गुहामध्ये कायोत्सर्गेण शुद्धधीः ॥ १०१ ॥
तदाऽयं कुर्कुटः सर्पश्चतुर्थं नरकं गतः ।
स जातोऽजगरो नाम पापी सर्पस्तु तद्वने ॥ १०२ ॥
तं पूत्कारं प्रकुर्वन्तं दहन्तं काननं महत् ।
गुहाभिमुखमागच्छन्तं विलोक्य महाशयुम् ॥ १०३ ॥
सुधीः संन्यासमादाय संस्थितो मुनिसत्तमः ।
भक्षितस्तेन दुष्टेन पापिनाजगरेण सः ॥ १०४ ॥
मृत्वा कापिष्ठकल्पेऽसौ देवो जातो महर्द्धिकः ।
आदित्यप्रभनामा श्री–जिनपादाब्जयो रतः ॥ १०५ ॥
मृत्वासोऽजगरो नागश्चतुर्थं नरकं गतः ।
छेदनैर्भेदनैः शूलारोहणाद्यैः कदर्थितः ॥ १०६ ॥
ततः कापिष्ठकल्पाच्च सिंहसेनचरः सुरः ।
च्युत्वा चक्रपुरे रम्ये चक्रायुधमहीपतिः ॥ १०७ ॥
चित्रमाला महादेवी तयोः पूर्वस्वपुण्यतः ।
वज्रायुधो सुतो जातो जैनधर्मधुरन्धरः ॥ १०८ ॥
तस्मै राज्यं समर्प्योच्चैश्चक्रायुधमहाप्रभुः ।
जैनीं दीक्षां समादाय संजातो मुनिसत्तमः ॥ १०९ ॥

वज्रायुधोपि सद्राज्यं चिरं भुक्त्वा प्रसन्नधीः ।
एकदा कारणं वीक्ष्य पितुः पार्श्वेऽभवन्मुनिः ॥ ११० ॥
पंकप्रभात्समागत्य स सर्पो रौद्रमानसः ।
संजातो निजपापेन भिल्लो नाम्नातिदारुणः ॥ १११ ॥
प्रयंगुपर्वते सोपि कायोत्सर्गेण संस्थितः ।
वज्रायुधो मुनिस्तेन हतो भिल्लेन बाणतः ॥ ११२ ॥
मुनिः सर्वार्थसिद्धिं च सम्प्राप्तः पुण्यसम्बलः ।
भिल्लो मृत्वा तथा पापी सप्तमं नरकं गतः ॥ ११३ ॥
सर्वार्थसिद्धितश्च्युत्वा वज्रायुधचरः सुरः ।
संजयन्तमुनिर्जातो विख्यातो भुवनत्रये ॥ ११४ ॥
पूर्णचन्द्रः पुरा यस्तु भवैः कैश्चिन्मुनिर्मलैः ।
जयन्ताख्यो मुनिर्मृत्वा जातस्त्वं लोभतोऽहिराट् ॥ ११५ ॥
दीर्घकालं महादुःखं भुक्त्वा सप्तमद्रुस्तलात् ।
स भिल्लस्तु समागत्य नाना तिर्यक्कुयोनिषु ॥ ११६ ॥
भ्रान्त्वा चैरावते क्षेत्रे भूतादिरमणे वने ।
नदी वेगवती तस्यास्तटे गोशृङ्गतापसः ॥ ११७ ।
तत्प्रिया शंखिनी तस्यां जातो हरिणशृङ्गवाक् ।
पञ्चाग्निसाधनं कृत्वा मृत्वा जातः खगोप्यसौ ॥ ११८ ॥
विद्युद्दंष्ट्रोति पापिष्टः पूर्ववैरेण तेन च ।
उपसर्गो महांश्चक्रे मुनेरेतस्य दारुणः ॥ ११९ ॥
मुनिश्चासौ विशुद्धात्मा निश्चलो मेरुवत्तराम् ।
संजयन्तो जगत्पूज्यो जित्वा सर्वपरीषहान् ॥ १२० ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं सत्तपो शीतनादिकम् ।
कृत्वा मोक्षं सुधीः प्राप्तः संजातोऽष्टमहागुणी ॥ १२१ ॥

भो नागेन्द्र त्वया धीमन् ज्ञात्वैवं संसृतेः स्थितिम् ।
त्यक्त्वा कोपं वराकोयं मुच्यतां नागपाशतः ॥ १२२ ॥
तच्छ्रुत्वा नागराजोसौ संजगाद महाद्युतिः ।
भो दिवाकरदेवाख्य यद्ययं मुच्यते मया ॥ १२३ ॥
शापोस्य दीयते दर्पविनाशाय दुरात्मनः ।
मा भूत्पुंसां कुले चास्य विद्यासिद्धिः कदाचन ॥ १२४ ॥
किं तु श्रीसंजयन्तस्य प्रतिमाग्रे सुभक्तितः ।
नाना सद्गन्धधूपाद्यैः स्त्रीणां तत्सिद्धिरस्तु वै ॥ १२५ ॥
इत्युक्त्वा तं विमुच्याशु सुधी नागाधिपस्तदा ।
जगाम स्थानकं स्वस्य मुनिभक्तिपरायणः ॥ १२६ ॥
इत्युत्कटतपोलक्ष्मीं भुक्त्वा लक्ष्मीं च शाश्वतीम् ।
संजयन्तमुनिः प्राप्तः सोऽस्माकं सत्सुखं क्रियात् ॥ १२७ ॥

अर्हत्पादसरोजयुग्ममधुलिट् सद्बोधसिन्धुः सुधीः
सच्चारित्रविचित्ररत्ननिचयः श्रीकुन्दकुन्दान्वये ।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः संसारनिस्तारकः
कुर्यान्मे वरमङ्गलानि नितरां भव्यैर्जनैः सेवितः ॥ १२८ ॥

इति कथाकोशे सत्तपोद्योतिनी श्रीसंजयन्तमुनेः कथा समाप्ता ।

६—अंजनचोरस्य कथा ।

श्रीसर्वज्ञपदाम्भोजं नत्वा सारसुखप्रदम् ।
निःशङ्कितगुणोद्योते चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे देशे मगधसंज्ञके ।
श्रेष्ठी राजगृहे नाम्ना नगरे जिनदत्तवाक् ॥ २ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ।
दानपूजाव्रताद्युक्तश्रावकाचारमण्डितः ॥ ३ ॥
एकदाऽसौ चतुर्दश्यां रात्रौ रौद्रे श्मशानके ।
त्रिधा वैराग्यसंयुक्तः कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥ ४ ॥
तदामितप्रभो देवो जिनभक्तिपरायणः ।
अन्यो विद्युत्प्रभो देवो मिथ्यादृष्टिमतेक्षणः ॥ ५ ॥
ताभ्यां परस्परं धर्मपरीक्षार्थं महीतले ।
गच्छद्भ्यां तपसा मूढश्चालितो यमदग्निवाक् ॥ ६ ॥
तत्रागत्य श्मशाने च तं दृष्ट्वा श्रेष्ठिनं शुभम् ।
अमितप्रभदेवोऽसौ संजगाद प्रमोदतः ॥ ७ ॥
अहो विद्युत्प्रभोत्कृष्टचारित्रप्रतिपालकाः ।
तिष्ठन्तु मुनयो मेत्र किन्त्वेनं श्रावकोत्तमम् ॥ ८ ॥
चालय त्वं महाध्यानात्सामर्थ्यं वर्तते यदि ।
ततो विद्युत्प्रभाख्येन देवेनातीव दुस्सहः ॥ ९ ॥
तस्योपसर्गकश्चक्रे कृष्णरात्रौ महांस्तदा ।
स धीरश्चलितो नैव सदृष्टिर्निजयोगतः ॥ १० ॥
प्रभातसमये जाते ततस्ताभ्यां सुभक्तितः ।
स्वमायामुपसंहृत्य तं प्रशस्य मुहुर्मुहुः ॥ ११ ॥
आकाशगामिनीं विद्यां दत्वा तस्मै सुदृष्टये ।
प्रोक्तमेवं च भो श्रेष्ठिन्सिद्धा विद्या तवाद्भुता ॥ १२ ॥
इयं ते वचनात्पञ्चनमस्कारविधानतः ।
अन्यस्य सुधियश्चापि सुधीः सिद्धा भविष्यति ॥ १३ ॥
ततः सोपि लसदृष्टिः श्रेष्ठी विद्याप्रभावतः ।
अकृत्रिमे जिनागारे स्वर्गमोक्षसुखप्रदे ॥ १४ ॥

नित्यं श्रीजिनपूजार्थं महाभक्त्या प्रयाति च ।
सोमदत्तेन सम्पृष्टो बटुकेन तदा मुदा ॥ १५ ॥
अहो स्वामिन्भवद्भिस्तु प्रातरुत्थाय नित्यशः ।
क्व गम्यते महाभाग जैनधर्मपरायण ॥ १६ ॥
तच्छ्रुत्वा जिनदत्तोसौ जगौ श्रेष्ठी विशिष्टवाक् ।
विद्यालाभस्तु मे जातस्तेनाऽहं भक्तितस्तराम् ॥ १७ ॥
शाश्वतेषु जिनेन्द्राणां हेमचैत्यालयेषु च ।
नित्यं व्रजामि पूजार्थं महाशर्मविधायिषु ॥ १८ ॥
सोमदत्तस्ततः प्राह विद्यां मे देहि भो सुधीः ।
येनाहं भवता सार्धं सद्गन्धकुसुमादिकम् ॥ १९ ॥
गृहीत्वा तत्र चागत्य पूजां श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
करोमि वन्दनां भक्तिं भवत्पुण्यप्रसादतः ॥ २० ॥
ततः श्रीजिनदत्तेन श्रेष्ठिना तस्य निर्मलः ।
दत्तो विद्योपदेशस्तु तत्समादाय सोपि च ॥ २१ ॥
रात्रौ कृष्णचतुर्दश्यां श्मशाने भूरिभीतिदे ।
वटद्रोः पूर्वशाखायां शतपादैर्वसूत्तरैः ॥ २२ ॥
अलंकृतं समारोप्य दर्भशिक्यं तथा तरोः ।
अधोभागे च शस्त्राणि वह्निज्वालोपमानि च ॥ २३ ॥
ऊर्ध्ववक्त्राणि संस्थाप्य कृत्वार्चां पुष्पकादिभिः ।
षष्ठोपवाससंयुक्तः स्थित्वा शिक्ये सुखप्रदम् ॥ २४ ॥
सारं पंचनमस्कारं प्रोच्चैरुच्चारयंस्ततः ।
एकैकं दर्भपादं तं छिन्दंश्छुरिकया पुनः ॥ २५ ॥
अधस्थितं समालोक्य सुतीक्ष्णं शस्त्रसञ्चयम् ।
संभीतश्चिन्तयामास सोमदत्तः स्वचेतसि ॥ २६ ॥

यदीदं श्रेष्ठिनो वाक्यमसत्यं भवति ध्रुवम् ।
तदा मे प्राणनाशस्तु संभवत्येव साम्प्रतम् ॥ २७ ॥
इत्यादिसंशयोपेतश्चटनोत्तरणादिकम् ।
करोति स्म स मूढात्मा क्व सिद्धिर्निश्चयं विना ॥ २८ ॥
येषां श्रीमज्जिनेन्द्राणां स्वर्गमोक्षसुखप्रदे ।
वाक्येपि निश्चयो नास्ति तेषां सिद्धिर्न भूतले ॥ २९ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे रात्रौ गणिकाञ्जनसुन्दरी ।
चोरमञ्जनकं प्राह शृणु त्वं प्राणवल्लभ ॥ ३० ॥
प्रजापालमहीभर्तुः कनकाख्या प्रियोत्तमा ।
तस्याः कण्ठे मया हारो दृष्टश्चातीव सुन्दरः ॥ ३१ ॥
तं समानीय चेद्धारं ददासि मम साम्प्रतम् ।
भर्त्ता मे त्वं भवस्येव नान्यथेति महाभट ॥ ३२ ॥
तच्छ्रुत्वाञ्जनचोरोसौ तस्यां संसक्तमानसः ।
ततो गत्वा तमादाय हारं रात्रौ स्वबुद्धितः ॥ ३३ ॥
समागच्छंस्तदा ज्ञात्वा हारोद्योतेन कर्कशैः ।
कोटपालादिभिर्गाढं ध्रियमाणः सुनिर्दयैः ॥ ३४ ॥
ततो हारं परित्यक्त्वा नष्ट्वागत्य श्मशानके ।
तथाभूतं तमालोक्य सोमदत्तं सुकातरम् ॥ ३५ ॥
पृष्ट्वा सम्बन्धकं तस्मान्मन्त्रमादाय चोत्तमम् ।
शिक्यमारुह्य निःशङ्कस्तेनैवविधिना मुदा ॥ ३६ ॥
वाक्यं मे श्रेष्ठिनो सत्यं प्रमाणं च तदेव हि ।
इत्युक्त्वा सांछिनाचि स्म शिक्यपादानशेषतः ॥ ३७ ॥
एकवारं सुधीः सोपि यावन्नोत्पतति ध्रुवम् ।
शस्त्रकेषु तदागत्य सा विद्याकाशगामिनी ॥ ३८ ॥

आदेशं देहि देवेति तं श्रुत्वा भक्तितो जगौ।
ततः संप्राह चोरोसौ परमानन्दनिर्भरः ॥ ३९ ॥
यत्र मेरौ जिनेन्द्राणां प्रतिमाः पूजयन्स्थितः।
श्रेष्ठी सन्तिष्ठते भक्त्या तत्र मां प्रापय ध्रुवम् ॥ ४० ॥
ततस्तया समादाय श्रेष्ठिनः सोग्रतो धृतः।
जैनधर्मप्रसादेन किं शुभं यन्न जायते ॥ ४१ ॥
तं नत्वा भक्तितः प्राह निर्भयोञ्जनसंज्ञकः।
भो श्रेष्ठिंस्त्वत्प्रसादेन प्राप्ता विद्या मया यथा ॥ ४२ ॥
आकाशगामिनी धीर तथा मे करुणार्णव।
संमन्त्रो दीयते येन शीघ्रं सिद्धो भवाम्यहम् ॥ ४३ ॥
परोपकरिणा तेन श्रेष्ठिना गुणशालिना।
चारणस्य मुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां शिवप्रदाम् ॥ ४४ ॥
ग्राहितः सुतरां सोपि तामुच्चैः प्रतिपालयन्।
क्रमात्कैलासमारूढो लोकालोकप्रकाशकम् ॥ ४५ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य भक्त्या त्रैलोक्यपूजितः।
शेषकर्मक्षयं कृत्वा प्राप्तवान्मोक्षमक्षयम् ॥ ४६ ॥
निःशंकितगुणेनोच्चैरंजनोपि निरञ्जनः।
संजातस्तु ततः सोपि पालनीयो बुधोत्तमैः ॥ ४७ ॥
सद्रत्नत्रयमण्डितोतिचतुरः श्रीमूलसङ्घाग्रणीः
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सद्बोधसिन्धुर्महान्।
तच्छिष्यः कुमताद्रिभेदनपविः श्रीसिंहनन्दीमुनि—
र्जीयाद्भव्यसरोजनिर्मलरविः स्वाचार्यवर्यः सताम् ॥ ४८ ॥

इति कथाकोशे निःशङ्किताङ्गेञ्जनचोरस्य कथा समाप्ता।

७–अनन्तमत्याः कथा ।

पादपद्मद्वयं नत्वा शर्मदं भक्तितोर्हताम् ।
निष्कांक्षितगुणोद्योते वक्ष्येनन्तमतीकथाम् ॥ १ ॥
अङ्गदेशेत्र विख्याते चारु चम्पापुरीप्रभुः ।
वसुवर्धननामाभूद्राज्ञी लक्ष्मीमती सती ॥ २ ॥
प्रियदत्तोऽभवच्छ्रेष्ठी परमेष्ठिप्रतीतिवान् ।
तद्भार्याङ्गवती नाम्ना धर्मकर्मविचक्षणा ॥ ३ ॥
तयोः पुत्री द्वयोर्जाता नाम्नानन्तमती सती ।
रूपलावण्यसौभाग्यगुणरत्नाकरक्षितिः ॥ ४ ॥
एकदा प्रियदत्तेन धर्मकीर्तिमुनीश्वरम् ।
नत्वा नन्दीश्वराष्टम्यां ब्रह्मचर्यं व्रतोत्तमम् ॥ ५ ॥
गृहीत्वाष्टदिनान्युच्चैः क्रीडया ग्राहिता सुता ।
सत्यं सतां विनोदोपि भवेत्सन्मार्गसूचकः ॥ ६ ॥
अन्यदा सम्प्रदानस्य कालेनन्तमती जगौ ।
दापितं ब्रह्मचर्यं मे त्वया तातेन किं पितः ॥ ७ ॥
तेनोक्तं क्रीडया पुत्रि दापितं ते मया व्रतम् ।
तयोक्तं तात का क्रीडा व्रते धर्मे च शर्मदे ॥ ८ ॥
श्रेष्ठी सुतां पुनः प्राह ननु पुत्रि व्रतं तदा ।
दत्तं तेष्टदिनान्येव कुलमन्दिरदीपिके ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा सा सुतोवाच पितर्भट्टारकैस्तथा ।
मर्यादा विहिता नैव भवतापि मम व्रते ॥ १० ॥
ततो मे जन्मपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं व्रतं हितम् ।
नियमस्तु विवाहेस्ति प्रोक्त्वैवं परमार्थतः ॥ ११ ॥

जैनशास्त्रार्थसन्दोहे संस्थिताभ्यासतत्परा ॥
अथैकदा निजोद्याने दोलयन्तीं स्वलीलया ॥ १२ ॥
चैत्रे सद्यौवनोपेतामुद्भूतरूपसम्पदम् ।
खगाद्रिदक्षिणश्रेणिकिन्नराख्यः पुराधिराट् ॥ १३ ॥
विद्याधरो स्मरोन्मत्तो नाम्ना कुण्डलमण्डितः ।
सुकेश्याभार्ययोपेतः समागच्छन्नभोङ्गणे ॥ १४ ॥
तां विलोक्य किमेतेन जीवितेनतया विना ।
संचिन्त्येति गृहे धृत्वा स खगः पुनरागतः ॥ १५ ॥
तां बालिकां समादाय यावद्याति नभस्तले ।
आगच्छन्तीं तदावेक्ष्य स्वकान्तां कोपकम्पिताम् ॥ १६ ॥
संभीतः पर्णलघ्व्याख्यविद्यया श्रेष्ठिनः सुताम् ।
महाटव्यां विटः सोपि मुक्तवान् शीलमण्डिताम् ॥ १७ ॥
हा तातेति प्रजल्पन्तीं तां सतीं कानने तदा ।
भीमाख्यभिल्लराजेन दृष्ट्वा नीत्वा स्वपल्लिकाम् ॥ १८ ॥
करोमि त्वां महाराज्ञीं ददामि बहुसम्पदम् ।
मामिच्छेति भणित्वा सा नेच्छन्ती वातिचित्तकम् ॥ १९ ॥
रात्रौ प्रभोक्तुमारब्धा तदा तच्छीलपुण्यतः ।
वनदेवतया तस्य ताडनाद्युपसर्गकः ॥ २० ॥
कृतः काचिदियं देवी महासामर्थ्यसंयुता ।
भिल्लेनेति विचार्योच्चैः सा कन्या कमलेक्षणा ॥ २१ ॥
पुष्पकाख्यमहासार्थवाहकस्य समर्पिता ।
सोपि तद्रूपसंसक्तः प्रोवाच मलिनं वचः ॥ २२ ॥
एतान्याभरणान्युच्चैर्नानासद्रत्नसञ्चयम् ।
गृहाण तव दासोस्मि मामिच्छेति प्रणष्टधीः ॥ २३ ॥

तयोक्तं यादृशं मेऽस्ति प्रियदत्तः पितापरः ।
तादृशस्त्वमपि भ्रष्ट मावादीः पापदं वचः ॥ २४ ॥
इत्यादिकं स्थिरं वाक्यं समाकर्ण्यैव पापिना ।
सार्थवाहेन चानीयायोध्यायां सुदृढव्रता ॥ २५ ॥
कामसेनाख्यकुट्टिन्याः पापिन्याः सा समर्पिता ।
कः कस्य दीयते दोषो विचित्रा कर्मणां स्थितिः ॥ २६ ॥
वेश्ययापि तयानेकप्रकारैश्चालिता सती ।
मेरोः सच्चूलिकेवासौ नाचलच्छीलशैलतः ॥ २७ ॥
येषां संसारभीरूणां न्यायोपार्जितवस्त्वपि ।
कदाचित्प्रीतये न स्यात्तन्मतिः किंकुकर्मसु ॥ २८ ॥
तदा तयापि कुट्टिन्या सिंहराजमहीभुजः ।
समर्पिता तथा बाला तस्याः सद्रूपयौवनम् ॥ २९ ॥
संविलोक्य सुलुब्धेन तेन रात्रौ दुरात्मना ।
हठात्सेवितुमारब्धा सा सती भुवनोत्तमा ॥ ३० ॥
तदा तद्व्रतमाहात्म्यात्पुरेदेवतया क्रुधा ।
उपसर्गो महांश्चक्रे तस्य दुष्कर्मणस्ततः ॥ ३१ ॥
निस्सारिता सुभीतेन भूभुजा तेन मन्दिरात् ।
सापि पंचनमस्कारं संस्मरन्ती सुखप्रदम् ॥ ३२ ॥
क्वचिद्देशे स्थिता यावत्तस्याः पुण्यप्रभावतः ।
पद्मश्रीरार्यिका वीक्ष्य तां ज्ञात्वा श्राविकोत्तमाम् ॥ ३३ ॥
दृष्ट्वा तस्याश्चरित्रं च स्वान्तिके परमादरात् ।
स्थापयामास पूतात्मा सतां वृत्तं परार्थकृत् ॥ ३४ ॥
अथानन्तमतीशोकवह्निसन्तप्तमानसः ।
प्रियदत्तो महाश्रेष्ठी गृहान्निर्गत्य पुण्यधीः ॥ ३५ ॥

तद्दुःखहानये कैश्चित्सज्जनैः परिवेष्टितः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसत्तीर्थयात्रां कुर्वन्सखप्रदाम् ॥ ३६ ॥
अयोध्यानगरीं प्राप्य सन्ध्यायां स गुणोज्वलः
तत्रस्थजिनदत्ताख्यश्यालकस्य गृहं गतः ॥ ३७ ॥
तेन श्रीजिनदत्तेन कृत्वा प्राघूर्णकक्रियाम् ।
सुखं पृष्टे जगौ श्रेष्ठी दुःखदं निजवृत्तकम् ॥ ३८ ॥
ततः प्रातः समुत्थाय प्रियदत्तेति धार्मिकः ।
स्नानादिकं विधायोच्चैर्गतो गेहं जिनेशिनाम् ॥ ३९ ॥
तदा कर्त्तुं च सद्भोज्यं चतुष्कं दातुमङ्गणे ।
जिनदत्तस्त्रियाहूता पद्मश्रीक्षान्तिकाश्रिता ॥ ४० ॥
कन्या सापि समागत्य भोज्यं कृत्वामृतोपमम् ।
दत्वांगणे चतुष्कं च प्रीतितो वसतिं गता ॥ ४१ ॥
ततो देवेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्राद्यैः समर्चिताः ।
जिनेन्द्रप्रतिमाः श्रेष्ठी समभ्यर्च्य समागतः ॥ ४२ ॥
तच्चतुष्कं समालोक्य स्मृत्वानन्तमतीं स ताम् ।
अश्रुपातेन संयुक्तो जगाद प्रियदत्तवाक् ॥ ४३ ॥
ययेदं मण्डनं चक्रे सा समानीयतां द्रुतम् ।
ततस्तैः सुजनैस्तस्य सुतामानीय दर्शिता ॥ ४४ ॥
निर्गलच्छोकपानीयपूरपूरितलोचनाम् ।
समालिंग्य सुतां श्रेष्ठी प्रोवाच मधुरं वचः ॥ ४५ ॥
भो पुत्रि त्वं महाशीलसलिलक्षालिताखिल ।
पापकर्दमसन्दोहपापिना केन संहृता ॥ ४६ ॥
केनवात्र समानीता शून्यं कृत्वा ममालयम् ।
संपृष्टेति सुता प्राह सर्वं तद्वृत्तकं निजम् ॥ ४७ ॥

तदा श्रीजिनदत्तेन तयोर्मेलापके तराम् ।
चक्रे महोत्सवः पुर्यां सन्तुष्टेन स्वचेतसा ॥ ४८ ॥
प्रियदत्तस्ततः प्राह भो सुते निजमन्दिरम् ।
एहि संगम्यतेऽस्माभिः सानन्दं सुमनोहरम् ॥ ४९ ॥
सा चोवाच तदा पुत्री दृष्टं तात मयाधुना ।
कष्टं संसारवैचित्र्यं ततो दापय मे तपः ॥ ५० ॥
वल्लीवत्कोमलाङ्गी त्वं जैनी दीक्षा सुदुःसहा ।
कियत्कालं सुते तिष्ठ धर्मध्यानेन मन्दिरे ॥ ५१ ॥
पश्चात्ते वाञ्छितं पुत्रि पुण्यतः सम्भविष्यति ।
इत्यादिकोमलालापैः श्रेष्ठिना गुणशालिना ॥ ५२ ॥
निषेध्यपि तथा पुत्री महावैराग्यमण्डिता ।
पद्मश्रीक्षान्तिका पार्श्वे जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ॥ ५३ ॥
समादाय लसद्भक्त्या तथानन्तमती दृढम् ।
पक्षमासोपवासादितपः कृत्वा सुदारुणम् ॥ ५४ ॥
सन्यासविधिना मृत्वा स्मरन्ती जिनपङ्कजम् ।
सहस्रारे सुरो जातः प्रोल्लसन्मुकुटादिभिः ॥ ५५ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां साभवद्भक्तिभाजनम् ।
नाना सत्सम्पदोपेतः सुपुण्यात्किं न जायते ॥ ५६ ॥
क्रीडामात्रगृहीतशीलममलं सम्पाल्य शर्मप्रदं
नाना रत्नसुवर्णभोगनिचये निष्काङ्क्षितामाश्रिता ।
या सानन्तमती जिनेन्द्रचरणाम्भोजातभृङ्गीव्रता—
त्स्वर्गे देवमहर्द्धिकोजनि तरां दद्यात्सतां मङ्गलम् ॥ ५७ ॥

इति श्रीकथाकोशे निष्काङ्क्षिताङ्गेऽनन्तमतीकथा समाप्ता ।

८—उद्दायनराज्ञः कथा।

नत्वार्हतं जगत्पूज्यं भारती गुरुपङ्कजम्।
वक्ष्ये निर्विचिकित्साङ्गे कथामुद्दायनप्रभोः ॥ १ ॥
इहैव भरतक्षेत्रे देशे कच्छाभिधे शुभे।
पुरे रौरवके नाम्ना सुधीरुद्दायनप्रभुः ॥ २ ॥
सद्दृष्टिर्जिनदेवानां पादपद्मार्चने रतः।
दाता भोक्ता विचारज्ञः प्रजानां सुतरां हितः ॥ ३ ॥
तस्य प्रभावती राज्ञी साध्वी पूर्णेन्दुनिर्मला।
दानपूजाव्रताम्भोभिः प्रक्षालितमनोमला ॥ ४ ॥
निष्कण्टकं महाराज्यं कुर्वन्सद्धर्मतत्परः
यावदास्ते सुखं राजा स पुण्येन तदा मुदा ॥ ५ ॥
धर्मानुरागतः स्वर्गे सौधर्मेन्द्रेण धीमता।
सभायां सर्वदेवानामग्रतश्चेति भाषितम् ॥ ६ ॥
देवोर्हन्दोषनिर्मुक्तो धर्मश्चेति क्षमादिकः।
गुरुर्निर्ग्रन्थतायुक्तस्तत्वे श्रद्धार्हते रुचिः ॥ ७ ॥
सा रुचिस्तु जिनेन्द्राणां स्वर्गमोक्षसुखप्रदा।
धर्मानुरागतस्तीर्थ-यात्राभिः सुमहोत्सवैः ॥ ८ ॥
जिनेन्द्रभवनोद्धारैः प्रतिष्ठाप्रतिमादिभिः।
साधर्मिकेषु वात्सल्याज्जायते भव्यदेहिनाम् ॥ ९ ॥
शृण्वन्तु सुधियो देवाः सम्यक्त्वं जगदुत्तमम्।
दुर्गत्यादिक्षयो यस्मात्सम्प्राप्तिः स्वर्गमोक्षयोः ॥ १० ॥
इत्यादिसारसम्यक्त्व-स्फीतिं वर्णयता सता।
चक्रे निर्विचिकित्साङ्गे तेन तद्भूपतेः स्तुतिः ॥ ११ ॥

तच्छ्रुत्वा वासवाख्यश्च देवो मायामयं द्रुतम् ।
दुष्टकुष्टव्रणोपेतं धृत्वा रूपं महामुनेः ॥ १२ ॥
मध्याह्ने तत्परीक्षार्थं भिक्षार्थी स समागतः ।
तदोद्दायनभूपालस्तं विलोक्य मुनीश्वरम् ॥ १३ ॥
पतन्तं पीडयाक्रान्तं मक्षिकाजालवेष्टितम् ।
ससम्भ्रमं समुत्थाय तिष्ठ तिष्ठेति सम्वदन् ॥ १४ ॥
प्रतिष्टाप्य महाभक्त्या पादप्रक्षालनादिभिः ।
प्रासुकं सरसाहारं स तस्मै दत्तवान्मुदा ॥ १५ ॥
स भुक्त्वा विविधाहारं मायया प्रचुरं पुनः ।
महादुर्गन्धसंयुक्तं चकार वमनं मुनिः ॥ १६ ॥
तदा दुर्गन्धतो नष्टाः पार्श्वस्थाः सज्जनाः जनाः ।
प्रतीच्छन्चान्तिकं भूपः सस्त्रीकः संस्थितः सुधीः ॥ १७ ॥
तदा सोपि मुनिर्गाढं प्रभावत्यास्तयोपरि ।
महाकष्टेन दुर्गन्धं छर्दिकं कृतवान्पुनः ॥ १८ ॥
हा मया पापिना दत्तं विरुद्धं मुनयेशनम् ।
महापुण्यैर्विना पात्र-दानसिद्धिर्न भूतले ॥ १९ ॥
यथा चिन्तामणिः कल्प-वृक्षो वा वाञ्छितप्रदः ।
प्राप्यते तुच्छपुण्यैर्न पात्रदानं तथा क्षितौ ॥ २० ॥
इत्यादिकं स भूपालो निन्दां कुर्वन्निजात्मनः ।
स्वच्छतोयं समादाय क्षालनार्थं पुनर्वपुः ॥ २१ ॥
समुत्थितस्तदा सोपि ज्ञात्वा तद्भक्तिमद्भुताम् ।
देवो मायामपाकृत्य संजगाद प्रहर्षतः ॥ २२ ॥
अहो नरेन्द्र सद्दृष्टेर्महादानपतेस्तव ।
गुणो निर्विचिकित्साङ्गे सौधर्मेन्द्रेण वर्णितः ॥ २३ ॥

यादृशोत्र मयागत्य स दृष्टस्तादृशस्तराम्।
अतस्त्वं श्रीजिनेन्द्रोक्त-सारधर्मस्य तत्ववित् ॥ २४ ॥
त्वां विना पाणिपद्माभ्यां मुनेर्वान्ति सुदुःसहाम्।
समुद्धर्तुं क्षमः कोत्र सम्यग्दृष्टिः शिरोमणिः ॥ २५ ॥
इति स्तुत्वा महीनाथं देवो वासवसंज्ञकः।
प्रोक्त्वा वृत्तान्तकं सर्वं तं समर्च्य दिवं गतः ॥ २६ ॥
अहो पुण्यस्य माहात्म्यं सतां केनात्र वर्ण्यते।
यद्वर्णनं सुराधीशः करोति परमादरात् ॥ २७ ॥
एकदोद्दायनो राजा राज्यं कुर्वन्स्वलीलया।
दानपूजाव्रताद्युक्ते जिनधर्मे सुतत्परः ॥ २८ ॥
कियत्यपि गते काले कारणं वीक्ष्य किं चन।
त्रिधा वैराग्यसम्पन्नो दत्वा राज्यं सुताय च ॥ २९ ॥
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य स्वर्गमोक्षप्रदायिनः।
पादपङ्कजयोर्मूले महाभक्त्या सुनिश्चलः ॥ ३० ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं देवेन्द्राद्यैः समर्चिताम्।
प्रतिपाल्य जगत्सारं सुधी रत्नत्रयं मुदा ॥ ३१ ॥
ततो ध्यानाग्निना दग्ध्वा घातिकर्मचतुष्टयम्।
केवलज्ञानमुत्पाद्य सुरासुरनरार्चितः ॥ ३२ ॥
सम्बोध्य सकलान्भव्यान्स्वर्गमोक्षप्रदायकः।
शेषकर्मक्षयं कृत्वा सम्प्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥ ३३ ॥
प्रभावती महादेवी गृहीत्वा सुतपः सती।
मुक्त्वा स्त्रीलिङ्गकं कष्टं ब्रह्मस्वर्गे सुरोभवत् ॥ ३४ ॥
सकलगुणसमुद्रः केवलज्ञानचन्द्रः
मदनमदमरेन्द्रः शर्मदः श्रीजिनेन्द्रः।

स भवतु मम नित्यं सेवितो भक्तिभारै-
गुणगणमणिरुद्रो बोधसिन्धुर्यतीन्द्रः ॥ ३५ ॥

इति कथाकोशे निर्विचिकित्साङ्गे श्रीमदुद्दायनस्य कथा समाप्ता।

९-श्रीरेवतीराज्ञ्याः कथा।

प्रणम्य परया भक्त्या जिनेन्द्रं त्रिजगद्धितम्।
कथाममूढदृष्टेश्च रेवत्या रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
अत्रैव विजयार्धस्य-दक्षिणश्रेणिसंस्थिते ।
मेघकूटपुरे राजा नाम्ना चन्द्रप्रभः सुधीः ॥ २ ॥
प्राज्यं राज्यं प्रकुर्वाणश्चैकदा स खगेश्वरः।
चन्द्रशेखरपुत्राय दत्वा राज्यं सुधार्मिकः ॥ ३ ॥
यात्रां कुर्वञ्जिनेन्द्राणां महातीर्थेषु शर्मदाम्।
गत्वा दक्षिणदेशस्थ-मथुरायां स्वपुण्यतः ॥ ४ ॥
गुप्ताचार्यमुनेः पार्श्वे श्रुत्वा धर्मकथास्ततः।
प्रोक्तः परोपकारोत्र महापुण्याय भूतले ॥ ५ ॥
इति ज्ञात्वा तथा तीर्थयात्रार्थं श्रीजिनेशिनाम्।
काश्चिद्विद्या दधानोपि क्षुल्लको भक्तितोऽभवत् ॥ ६ ॥
एकदा तीर्थयात्रार्थमुत्तरां मथुरां प्रति ।
गन्तुकामेन तेनोच्चैर्गुरुः पृष्टः प्रणम्य च ॥ ७ ॥
किं कस्य कथ्यते देव भवद्भिः करुणापरैः।
स प्राह परमानन्दाद्गुप्ताचार्यो विचक्षणः ॥ ८ ॥
सुव्रताख्यमुनेर्वाच्या नतिर्मे गुणशालिनः।
धर्मवृद्धिश्च रेवत्याः सम्यक्त्वासक्तचेतसः ॥ ९ ॥

त्रिपृष्टेन तदेवोच्चैराचार्येण प्रजल्पितम् ।
ततश्चन्द्रप्रभः सोपि क्षुल्लको निजचेतसि ॥ १० ॥
भव्यसेनमुनेरेका-दशाङ्गश्रुतधारिणः ।
अन्येषामपि न प्रोक्तं किंचिदत्रास्ति कारणम् ॥ ११ ॥
सम्प्रधार्येति गत्वा च तत्र सुव्रतसन्मुनेः ।
प्रोक्त्वा तद्वन्दनां तस्य तुष्टे वात्सल्यतस्तराम् ॥ १२ ॥
ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः ।
साधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले ॥ १३ ॥
ततोसौ क्षुल्लकश्चापि विनोदेन विशिष्टधीः ।
लिङ्गमात्रमुनेर्भव्य-सेनस्य वसतिं गतः ॥ १४ ॥
तेन विद्याप्रमत्तेन तस्मै सुब्रह्मचारिणे ।
न दत्ता धर्मवृद्धिश्च धिग्गर्वं कष्टकोटिदम् ॥ १५ ॥
यत्र वाक्येपि दारिद्र्यं विवेकविकलात्मनि ।
प्राघूर्णकक्रिया तत्र स्वप्ने स्यादपि दुर्लभा ॥ १६ ॥
सर्वदोषापहं जैनं ज्ञानं तस्य मदेऽभवत् ।
सत्यं पुण्यविहीनानाममृतं च विषायते ॥ १७ ॥
ततस्तस्य परीक्षार्थं बहिर्भूमिं प्रगच्छतः ।
प्रातः कुण्डीं समादाय पृष्ठतश्चलितो व्रती ॥ १८ ॥
मार्गे स्वविद्यया तस्य ब्रह्मचारी गुणोज्ज्वलः ।
कोमलैर्हरितैः स्निग्धैस्तृणाङ्कुरकदम्बकैः ॥ १९ ॥
आच्छादितं महीपीठं दर्शयामास सर्वतः ।
तद्विलोक्य महीपीठं भव्यसेनो विनष्टधीः ॥ २० ॥
एते त्वेकेन्द्रिया जीवाः प्रोक्ताः सन्ति जिनागमे ।
इत्युक्त्वात्रारुचिं कृत्वा गतस्तेषां तदोपरि ॥ २१ ॥

ततः शौचक्षणे सोपि मायया कुण्डिकाजलम् ।
शोषयित्वा जगादैवं भो मुने नात्र विद्यते ॥ २२ ॥
कुण्डिकायां जलं तस्मादेतस्मिंश्च सरोवरे ।
शौचं मृत्तिकया सार्द्धं कुरु त्वं सुमनोहरे ॥ २३ ॥
भवत्वेवं भणित्वेति तत्र शौचं चकार सः ।
किं करोति न मूढात्मा कार्यं मिथ्यात्वदूषितः ॥ २४ ॥
न स्यान्मुक्तिप्रदं ज्ञान-चारित्रं दुर्दृशामपि ।
उद्गतो भास्करश्चापि किं घूकस्य सुखायते ॥ २५ ॥
मिथ्यादृष्टिश्रितं शास्त्रं कुमार्गाय प्रवर्तते ।
तथा मृष्टं भवेत्कष्टं सुदुग्धं तुम्बिकागतम् ? ॥ २६ ॥
इत्यादिकं विचार्योच्चैः स्वचित्ते चतुरोत्तमः ।
मिथ्यादृष्टिं परिज्ञात्वा तं कुमार्गविधायिनम् ॥ २७ ॥
भव्यसेनस्य तस्यैवा-भव्यसेन इति व्रती ।
चक्रे नाम दुराचारात्किं न कष्टं प्रवर्तते ॥ २८ ॥
ततोन्यस्मिन्दिने सोपि ब्रह्मचारी शुचिव्रतः ।
वरुणाख्यमहीनाथ-राज्ञी या रेवती सती ॥ २९ ॥
तस्याश्चापि परीक्षार्थं पूर्वस्यां दिशि मायया ।
पद्मस्थितं चतुर्वक्त्रं महायज्ञोपवीतकम् ॥ ३० ॥
वेदध्वनिसमायुक्तं सुरासुरनमस्कृतम् ।
ब्रह्मणो रूपमादाय संस्थितो निजलीलया ॥ ३१ ॥
तदाकर्ण्य च भूपाल-भव्यसेनादयो जनाः ।
गत्वा तद्वन्दनां चक्रुः प्रमोदेन जडाशयाः ॥ ३२ ॥
तदा वरुणभूपेन प्रेर्यमाणापि रेवती ।
सम्यक्त्वरत्नसंयुक्ता जिनभक्तिपरायणा ॥ ३३ ॥

मोक्षे तथात्मनि ज्ञाने वृत्ते श्रीवृषभेश्वरः।
ब्रह्मा जिनागमे चेति सम्प्रोक्तो न परो नरः॥ ३४ ॥
अयं कोपिमहाधूर्त्तो जनानां चित्तरञ्जकः।
इत्युक्त्वा सा गता नैव तत्र राज्ञी विचक्षणा॥ ३५ ॥
तथान्ये दिवसे सोपि दक्षिणस्यां दिशि व्रती।
गरुडस्थं चतुर्बाहु-शङ्खचक्रगदान्वितम्॥ ३६ ॥
लसत्खड्गेन संयुक्तं सर्वदैत्यभयप्रदम्।
दर्शयामास गूढात्मा वैष्णवं रूपमद्भुतम्॥ ३७ ॥
पश्चिमस्यां दिशि प्रौढं वृषारूढं तथान्यदा।
पार्वतीवदनाम्भोज-समीक्षणसमन्वितम्॥ ३८ ॥
जटाजूटशिरोदेशं लम्बोदरविराजितम्।
रूपं माहेश्वरं तेन दर्शितं च सुरैः स्तुतम्॥ ३९ ॥
ततोन्यस्मिन्दिने धीमा-नुत्तरस्यां दिशि स्फुरत्।
समवादिसृतिस्थं च प्रातिहार्यैर्विभूषितम्॥ ४० ॥
मानस्तंभादिभिर्मिथ्या-दृशां चेतोविडम्बनम्।
सुरासुरनराधीश-समर्चितपदद्वयम्॥ ४१ ॥
निर्ग्रन्थादिगुणोपेतं रूपं तीर्थेशिनः शुभम्।
विद्यया दर्शयामास स क्षुल्लको जगदुत्तमम्॥ ४२ ॥
तदानन्दभरेणोच्चै-र्वरुणाख्यमहीभुजा।
सार्द्धं सर्वजनाः शीघ्रं भव्यसेनादयो गताः॥ ४३ ॥
तद्भक्त्यर्थं तथा पौरैः प्रेर्यमाणापि रेवती।
जगाद त्रिजगत्सार-सम्यक्त्वेन विराजिता॥ ४४ ॥
अहो जिनागमे प्रोक्ताश्चतुर्विंशतिरेव च।
श्रीमत्तीर्थकरा देवाः सर्वदेवेन्द्रवन्दिताः॥ ४५ ॥

नवैव वासुदेवाश्च रुद्राश्चैकादश स्मृताः ।
ते सर्वे तु यथास्थानं सम्प्राप्ताः स्वगुणैः क्रमात् ॥ ४६ ॥
अतः कोपि समायातो मूढानां मूढताप्रदः ।
जनानां वञ्चने चंचु-रेष पाखण्डमण्डितः ॥ ४७ ॥
इत्युक्त्वा सा स्थिता गेहे राज्ञी सम्यक्त्वशालिनी ।
किं कदा चलिता वातैर्निश्चला मेरुचूलिका ॥ ४८ ॥
ततः क्षुल्लकरूपेण स व्रती मायया पुनः ।
महाव्याधिग्रहग्रस्त-परैर्घुर्व्रतभूषितः ॥ ४९ ॥
रेवत्या प्राङ्गणे चर्या-वेलायां भोजनाय च ।
आगच्छन्मूर्च्छयाक्रान्तः स पपात महीतले ॥ ५० ॥
तं विलोक्य तदा राज्ञी रेवती धर्मवत्सला ।
हा हा कारं विधायोच्चैः शीघ्रमागत्य भक्तितः ॥ ५१ ॥
कृत्वा सचेतनं चारु-शीतवातादिभिस्ततः ।
नयति स्म गृहान्तस्तु महाकारुण्यमण्डिता ॥ ५२ ॥
सा तस्मै प्रासुकाहारं सरसं विधिपूर्वकम् ।
ददौ कारुण्ययुक्तानां युक्तं दाने मतिः सदा ॥ ५३ ॥
भुक्त्वाहारं व्रती सोपि मायया प्रचुरं पुनः ।
चकार वमनं भूरि पूतिगन्धं सुदुस्सहम् ॥ ५४ ॥
अपथ्यं हा मयादत्तं पापिन्या व्रतिनेऽशनम् ।
इत्यात्मनो महानिन्दां कुर्वन्ती रेवती सती ॥ ५५ ॥
दूरीकृत्य तदा वान्ति भक्त्या निःशङ्कमानसा ।
सुखोष्णतोयमादाय तद्वपुः क्षालनं व्यधात् ॥ ५६ ॥
तदा चन्द्रप्रभो सोपि ब्रह्मचारी दृढव्रतः ।
तस्याः सद्भक्तिमालोक्य सुधीर्हृष्टा स्वचेतसि ॥ ५७ ॥

तां मायामुपसंहृत्य संजगाद लसद्वचः ।
महासन्तोपसन्दोह-दायकः परमादरात् ॥ ५८ ॥
भो देवि त्रिजगत्सार-गुप्ताचार्यस्य मद्गुरोः ।
धर्मवृद्धिः स्फुरत्सिद्धिः पुनातु तव मानसम् ॥ ५९ ॥
पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां त्वन्नाम्ना या मया कृता ।
धर्मानुरागतः सा ते भूयात्कल्याणदायिनी ॥ ६० ॥
अमूढत्वं त्रिजगत्सारं ससाराम्भोधिपारदम् ।
दृष्टं मया तवागत्य व्यक्तं नाना प्रकारकैः ॥ ६१ ॥
अतस्ते त्रिजगत्पूज्यं सम्यक्त्वं केन वर्ण्यते ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां चरणार्चनकोविदे ॥ ६२ ॥
इत्यादिकं प्रशस्योच्चै-स्तां देवीं गुणशालिनीम् ।
प्रोक्त्वा सर्वं च वृत्तान्तं स्वस्थानं स व्रती गतः ॥ ६३ ॥
ततो वरुणभूपालः सूनवे शिवकीर्तये ।
दत्वा राज्यं जगद्वन्द्यं तपो धृत्वा जिनोदितम् ॥ ६४ ॥
जातो माहेन्द्रकल्पेसौ देवो दिव्याङ्गभासुरः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-पूजनेतीव तत्परः ॥ ६५ ॥
रेवती च महाराज्ञी जिनेन्द्रवचने रता ।
वैराग्येन समादाय जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ॥ ६६ ॥
क्रमेण तपसा ब्रह्म-स्वर्गे देवो महर्द्धिकः ।
संजातो जैनतीर्थेषु महायात्राविधायकः ॥ ६७ ॥

धर्मे श्रीजिनभाषिते शुचितरे स्वर्मोक्षसौख्यप्रदे
देवेन्द्रैश्च नरेन्द्रखेचरतरैर्भक्त्या निसंसेविते ।
भो भव्याः कुरुत प्रतीतिमतुलां चेदिच्छथः सत्सुखं
त्यक्त्वा सर्वकुमार्गसङ्गमाचिरं श्रीरेवतीवत्तराम् ॥ ६८ ॥

इति कथाकोशेऽमूढदृग्ङ्गे श्रीमद्रेवतीकथा
समाप्ता ।

१०–श्रीजिनेन्द्रभक्तस्य कथा।

नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्।
वक्ष्ये जिनेन्द्रभक्तस्य सत्कथां सोपगूहने ॥ १ ॥
सौराष्ट्रविषयेऽत्रैव सरसे सदयान्विते।
श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य जन्मना सुपवित्रिते ॥ २ ॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये राजा जातो यशोध्वजः।
तस्य राज्ञी सुसीमाख्या रूपलावण्यमण्डिता ॥ ३ ॥
तयोः पुत्रः सुवीराख्यः सप्तव्यसनतत्परः ॥
संजातः पापतः सोऽपि तस्करोत्करसेवितः ॥ ४ ॥
किं करोति पिता माता कुलं जातिश्च सर्वथा।
भाविदुर्गतिदुःखानां कुले जन्मापि निष्फलम् ॥ ५ ॥
अथास्ति गौडदेशे च तामलिप्ताभिधा पुरी।
यत्र संतिष्ठते लक्ष्मीर्दानपूजायशस्करी ॥ ६ ॥
श्रेष्ठी जिनेन्द्रभक्ताख्यो जिनभक्तिपरायणः।
संजातस्तत्र सद्दृष्टिः श्रावकाचारसत्त्वणः ॥ ७ ॥
स्वर्मोक्षसस्यदं पूतं जिनोक्तं क्षेत्रसप्तकम्।
तर्पयामास स श्रेष्ठी स्ववित्तजलदोत्करैः ॥ ८ ॥
जिनेन्द्रभवनोद्धार-प्रतिमापुस्तकास्तथा।
सङ्घश्चतुर्विधश्चेति संप्रोक्तं क्षेत्रसप्तकम् ॥ ९ ॥
श्रेष्ठिनो विद्यते तस्य सम्यग्दृष्टेः शिरोमणेः।
सप्तभूम्याश्रितोत्कृष्ट-प्रासादस्योपरिस्थिता ॥ १० ॥
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रस्य महायत्नेन रक्षिता।
छत्रत्रयेण संयुक्ता प्रतिमा रत्ननिर्मिता ॥ ११ ॥

तस्याश्छत्रत्रयस्योर्ध्वे-रुपरिप्रस्फुरद्युतिः ।
मणिर्वैडूर्यनामास्ति बहुमूल्यसमन्वितः ॥ १२ ॥
तां वार्त्तां च समाकर्ण्य सुवीरस्तस्कराग्रणीः ।
स्वांस्तस्करान्प्रति प्राह तमानेतुं लसत्प्रभम् ॥ १३ ॥
अहो कोपि समर्थोस्ति तच्छ्रुत्वा सूर्यनामकः ।
चोरो जगाद भो स्वामिन्नहं शक्रस्य मस्तकात् ॥ १४ ॥
आनयामि क्षणार्धेन शिरोरत्नं सुनिर्मलम् ॥
युक्तं ये तु दुराचाराः स्युस्ते दुष्कर्मतत्पराः ॥ १५ ॥
ततोऽसौ सूर्यको धूर्त्तः कपटेन तदाज्ञया ।
धृत्वा क्षुल्लकरूपं च क्लेशतः क्षीणतां गतः ॥ १६ ॥
पर्यटन्नगरग्राम-पत्तनेषु निरन्तरम् ।
लोकान्प्रतारयन्नुच्चैः स्फीतिं सन्दर्शयन्निजाम् ॥ १७ ॥
क्रमेण तामलिप्ताख्यां तां पुरीं प्राप्तवांस्ततः ।
श्रुत्वा जिनेन्द्रभक्तोसौ श्रेष्ठी तं वन्दितुं गतः ॥ १८ ॥
दृष्ट्वा तं क्षुल्लकं चापि मायया तपसा कृशम् ।
स्तुत्वा प्रणम्य सद्भक्त्या नयति स्म निजालयम् ॥ १९ ॥
अहो धूर्त्तस्य धूर्त्तत्वं लक्ष्यते केन भूतले ।
यस्य प्रपञ्चतो गाढं विद्वान्सश्चापि वञ्चिताः ॥ २० ॥
ततो विलोक्य चोरोसौ तं मणिं विस्फुरत्प्रभम् ।
सन्तुष्टो स्वर्णकारो वा कनत्काञ्चनवीक्षणात् ॥ २१ ॥
तदासौ श्रेष्ठिना तेन स्थापितः कपटव्रती ।
अनिच्छन्माययाप्युच्चै-रक्षार्थं तत्र भक्तितः ॥ २२ ॥
एकदासौ वणिग्वर्यः पृष्ट्वा तं क्षुल्लकं सुधीः ।
गन्तुं समुद्रयात्रायां पुरबाह्ये स्थितस्तदा ॥ २३ ॥

स तस्करः समालोक्य कुटुम्बं कार्यव्यग्रकम् ।
अर्धरात्रौ समादाय तं मणिं निर्गतो गृहात् ॥ २४ ॥
कोट्टपालैस्तदामार्गे दृष्टोसौ मणितेजसा ।
गृहीतुं च समारब्धो न समर्थः पलायितुम् ॥ २५ ॥
रक्ष रक्षेति संजल्पन् श्रेष्ठिनः शरणं गतः ।
तदा जिनेन्द्रभक्तोसौ श्रुत्वा कोलाहलध्वनिम् ॥ २६ ॥
ज्ञात्वा तं तस्करं धीमान्सम्यग्दृष्टिर्विशाम्पतिः ।
दर्शनोद्दाहनाशार्थं कोट्टपालान् जगाद च ॥ २७ ॥
रे रे मूर्खा भवद्भिस्तु कृतं वाढं विरूपकम् ।
महातपस्विनश्चास्य तस्करत्वं यदीरितम् ॥ २८ ॥
मद्वाक्येन समानीतो मणिश्चैतेन धीमता ।
महाचारित्ररत्नेन नित्यं सम्भावितात्मना ॥ २९ ॥
इत्याकर्ण्य तमानम्य श्रेष्ठिनं गुणशालिनम् ॥
कोट्टपालजनाः शीघ्रं स्वस्थानं ते गतास्ततः ॥ ३० ॥
श्रेष्ठी तस्मात्समादाय तं मणिं तेजसा युतम् ।
एकान्ते तं प्रति प्राह दुराचारसमन्वितम् ॥ ३१ ॥
रे रे नष्ट महाकष्टं विक्ते पापिष्ट चेष्टितम् ।
अन्यायेन रतो मूढ दुर्गतिं यास्यसि ध्रुवम् ॥ ३२ ॥
ये कृत्वा पातकं पापाः पोषयन्ति स्वकं भुवि ।
त्यक्त्वा न्यायक्रमं तेषां महादुःखं भवार्णवे ॥ ३३ ॥
कुमार्गकलितो लोकः क्षयं याति न संशयः ।
तीव्रतृष्णातुरः प्राणी त्वादृशः पापपण्डितः ॥ ३४ ॥
इत्यादिदुर्वचोवज्र-पातेनैव निहत्य च ।
चक्रे निष्कासनं तस्य स्वस्थानात्स गुणाकरः ॥ ३५ ॥

एवमन्यो महाभव्यो दुर्जनासक्तलम्पटैः ।
दर्शनस्यागते दोषे कुर्यादाच्छादनं श्रिये ॥ ३६ ॥

विमलतरजिनेन्द्रप्रोक्तमार्गेत्र दोषं
वदति विगतबुद्धिर्यस्तु सोस्ति प्रमत्तः ।
अमृतरससमानं शर्करादुग्धपानं
कटु भवति न किं वा दुष्टपित्तज्वराणाम् ॥ ३७ ॥

इति कथाकोशे उपगूहनाङ्गे जिनेन्द्रभक्तस्य कथा समाप्ता ।

११-श्रीवारिषेणमुनेः कथा ।

श्रीमज्जिनं जगत्पूज्यं नत्वा भक्त्या प्रवक्ष्यहम् ।
सुस्थितिकरणाङ्गे च वारिषेणस्य सत्कथाम् ॥ १ ॥
अथेह मगधादेशे निवेशे सारसम्पदाम् ।
पुरे राजगृहे नाम्ना सद्दृष्टिः श्रेणिकः प्रभुः ॥ २ ॥
तद्राज्ञी चेलना नाम्ना सम्यक्त्वव्रतशालिनी ।
वारिषेणस्तयोः पुत्रः संजातः श्रावकोत्तमः ॥ ३ ॥
एकदासौ चतुर्दश्यां रात्रौ तत्वविदाम्वरः ।
श्मशाने सोपवासश्च कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥ ४ ॥
तस्मिन्नेव दिने क्रीडां कर्तुं मगधसुन्दरी ।
विलासिनी वनं प्राप्ता श्रीकीर्त्तेः श्रेष्ठिनो गले ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा हारं द्युतिस्फारं निस्सारं जन्म मे भुवि ।
विना हारेण चैतेन सञ्चिन्त्येति गृहं गता ॥ ६ ॥
सुदुःखिता स्थिता यावत्तावद्रात्रौ समागतः ।
विद्युच्चोरस्तदासक्तः संविलोक्य जगाद च ॥ ७ ॥

हे प्रिये त्वं स्थिता कष्टे कस्मात्तद्ब्रूहि कारणम् ।
तयोक्तं श्रेष्ठिनो हारं श्रीकीर्त्तेर्विलसत्प्रभम् ॥ ८ ॥
समानीय ददास्येव यदि त्वं प्राणवल्लभ ।
अस्ति मे जीवितं भर्त्ता भवस्यत्र च नान्यथा ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा तां समुद्धीर्य तस्करः साहसोद्धतः ।
गत्वा रात्रौ गृहीत्वा च तं हारं निजबुद्धितः ॥ १० ॥
मार्गे तत्तेजसा ज्ञात्वा समागच्छंश्च तस्करः ।
कोट्टपालैस्तथा धर्तुं प्रारब्धो गृहरक्षकैः ॥ ११ ॥
तदा पलायितुं तेभ्यो न समर्थः स पापधीः ।
वारिषेणकुमाराग्रे तं धृत्वाऽदृश्यतां गतः ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा ते तं तथाभूतं कोट्टपालादयो जगुः ।
नृपस्याग्रे कुमारोऽयं तस्करश्चेति भो प्रभो ॥ १३ ॥
तच्छ्रुत्वा श्रेणिको भूपो महाकोपेन कम्पितः ।
पश्य भो पापिनश्चास्य दुश्चरित्रं दुरात्मनः ॥ १४॥
क्व श्मशाने महाध्यानं वञ्चनं क्व च कष्टदम् ।
लोकानां किं न कुर्वन्ति वञ्चने ये तु चञ्चवः ॥ १५ ॥
यौवराज्ये मया प्राज्ये स्थापनीयो महोत्सवैः ।
स चेदीदृग्विधः पुत्रः किं नु कष्टमतः परम् ॥ १६ ॥
इत्युक्त्वासौ कुमारस्य मस्तकच्छेदनाय वै ।
आदेशं दत्तवांस्तूर्णं तेषां दुष्कर्मकारिणाम् ॥ १७ ॥
नृपादेशात्समादाय श्मशाने मिलितास्ततः ।
चण्डालाश्चण्डकर्माण-श्चोराणां प्राणहारिणः ॥ १८ ॥
तदैकेन गले तस्य वारिषेणस्य पापिना ।
गृहीतुं मस्तके क्षिप्तस्तीक्ष्णः खड्गः लसद्युतिः ॥ १९ ॥

तदा तत्पुण्यमाहात्म्यात्स खड्गः संपतन्नपि ।
पश्यत्सु सर्वलोकेषु पुष्पमाला बभूव च ॥ २० ॥
अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं याति भूतले ।
समुद्रः स्थलतामेति दुर्विषं च सुधायते ॥ २१ ॥
शत्रुर्मित्रत्वमाप्नोति विपदा सम्पदायते ।
तस्मात्सुखैपिणो भव्याः पुण्यं कुर्वन्तु निर्मलम् ॥ २२ ॥
पुण्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां पादपद्मद्वयार्चनम् ।
पात्रदानं तथा शील-रक्षणं सोपवासकम् ॥ २३ ॥
तदाश्चर्यं समालोक्य सन्तुष्टास्ते सुरासुराः ।
अहो पुण्यमहोपुण्यं कुर्वन्तश्चेति संस्तवम् ॥ २४ ॥
भ्रमद्भृङ्गसमाकीर्णां सुगन्धीकृतदिङ्मुखाम् ।
तस्योपरि महाभक्त्या पुष्पवृष्टिं प्रचक्रिरे ॥ २५ ॥
पौरा ये तु महाशूराः परमानन्दनिर्भराः ।
साधु भो वारिषेणात्र चरित्रं ते मनोहरम् ॥ २६ ॥
त्वं हि श्रीमज्जिनेन्द्राणां पादपङ्कजषट्पदः ।
श्रावकाचारशुद्धात्मा जिनधर्मविचक्षणः ॥ २७ ॥
इत्यादिभिः शुभैर्वाक्यैर्महाधर्मानुरागतः ।
चक्रुस्ते संस्तुतिं तस्य सुपुण्यात्किं न जायते ॥ २८ ॥
श्रेणिकोपि महाराजः श्रुत्वा तद्वृत्तमद्भुतम् ।
पश्चात्तापेन सन्तप्तो हा मया किं कृतं वृथा ॥ २९ ॥
ये कुर्वन्ति जडात्मानः कार्यं लोकेऽविचार्य च ।
ते सीदन्ति महान्तोपि मादृशा दुःखसागरे ॥ ३० ॥
इत्यालोच्य समागत्य श्मशाने भूरिभीतिदे ।
अहो पुत्र मयाज्ञान-शून्येनात्र विनिर्मितम् ॥ ३१ ॥

यत्र त्वया महाधीर क्षम्यतामिति वाग्भरैः ।
तं पुत्रं विनियोपेतं सत्क्षमां नयति स्म सः ॥ ३२ ॥
चन्दनं घृष्यमाणं च दह्यमानो यथागुरुः ।
न याति विक्रियां साधुः पीडितोपि तथापरैः ॥ ३३ ॥
ततो लब्धभयो विद्यु-च्चोरश्चागत्य भूपतिम् ।
नत्वा जगाद वृत्तान्तं स्वकीयं सुभटः स्फुटम् ॥ ३४ ॥
इदं मे चेष्टितं देव वेश्यासक्तस्य पापिनः ।
वारिषेणस्तु पुत्रस्ते शुद्धात्मा श्रावकोत्तमः ॥ ३५ ॥
तदा श्रीश्रेणिकः प्राह स्वपुत्रं प्रति सादरम् ।
आगच्छ पुत्र गच्छावः स्वगेहं सम्पदामृतम् ॥ ३६ ॥
तेनोक्तं भो मया तात दृष्टं संसारचेष्टितम् ।
अतो मे श्रीजिनेन्द्राणां शरणं चरणद्वयम् ॥ ३७ ॥
भोक्तव्यं पाणिपात्रेण कर्त्तव्यं स्वात्मनो हितम् ।
गन्तव्यं च वने नित्यं स्थातव्यं मुनिमार्गतः ॥ ३८ ॥
इत्युक्त्वा वारिषेणोसौ संविरक्तो भवादितः ।
सूरदेवमुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ॥ ३९ ॥
ततोसौ श्रीजिनेन्द्रोक्त-महाचारित्रतत्परः ।
कुर्वन्विहारमत्युच्चैर्भव्यान्सम्बोधयन्मुनिः ॥ ४० ॥
ग्रामं पलासकूटाख्यं संप्राप्तश्चैकदा सुधीः ।
श्रेणिकस्य महीभर्तु-र्मन्त्री तत्रास्ति भूतिवाक् ॥ ४१ ॥
तत्पुत्रः पुष्पडालाख्यो दानपूजापरायणः ।
दृष्ट्वा चर्यार्थमायातं तं मुनिं गुणशालिनम् ॥ ४२ ॥
ससंभ्रमं समुत्थाय तिष्ठ तिष्ठेति सम्वदन् ।
संस्थाप्य नवभिः पुण्यैः सप्तभिः स्वगुणैर्युतः ॥ ४३ ॥

प्रासुकं सरसाहारं भक्तितः परया मुदा ।
स तस्मै दत्तवान्दाता सुपात्राय सुखप्रदम् ॥ ४४ ॥
पुष्पडालस्ततो राज-पुत्रत्वाद्बाल्यमित्रतः ।
भक्तितश्च तथा सार्धं मुनिना तेन गच्छता ॥ ४५ ॥
सोमिल्यां स्वस्त्रियं पृष्ट्वा सोनुव्रजनहेतवे ।
स्तोकमार्गं समादाय कुण्डिकां निर्गतो गृहात् ॥ ४६ ॥
पश्चादागन्तुकामोसौ मंत्रिपुत्रो जगौ पथि ।
पश्य देव पुरावाभ्यां क्रीडितं सरसीह च ॥ ४७ ॥
सच्छायः सफलस्तुङ्गो जनानां सौख्यदायकः ।
सुराजेव विभात्युच्चै-रयं चाम्रतरुः पुरः ॥ ४८ ॥
यत्रावाभ्यां समागत्य पूर्वं क्रीडा विनिर्मिता ।
शोभतेयं महीदेशो विस्तीर्णो वा सतां मनः ॥ ४९ ॥
इत्यादिकं मुहुश्चिह्नं दर्शयन्प्रणमन्पुनः ।
तच्चित्तं जानताप्युच्चैः स्वामिना तेन सादरम् ॥ ५० ॥
धृत्वा करे सुवैराग्यं नीत्वा सत्तत्ववाग्भरैः ।
कृत्वा धर्मश्रुतिं जैनीं दीक्षां संग्राहितः सखा ॥ ५१ ॥
पठन्नपि महाशास्त्रं पालयन्नपि संयमम् ।
सोमिल्यां भामिनीं काणीं स्मरत्येव नवव्रती ॥ ५२ ॥
धिक्कामं धिग्महामोहं धिङ्भोगान्यैस्तु वञ्चितः ।
सन्मार्गेपि स्थितो जन्तुर्न जानाति निजं हितम् ॥ ५३ ॥
ततो द्वादशवर्षाणि तत्तपःसिद्धिहेतवे ।
गुरुस्तं कारयामास तीर्थयात्रां निजैः सह ॥ ५४ ॥
एकदा तौ मुनी श्रीमद्वर्धमानजिनेशिनः ।
समवादिसृतिं प्राप्तौ चक्रतुर्जिनवन्दनाम् ॥ ५५ ॥

तत्रस्थैर्जिनसद्भक्त्या सद्गन्धर्वसुधाशिभिः ।
गीयमानमिदं पद्यं श्रृणोति स्म लघुव्रती ॥ ५६ ॥
"मइल कुचेली दुम्मणी णाहे पवसियएण ।
कह जीवेसइ धणियधर वज्झंते विरहेण ॥"
तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोसौ मुनिः कामाग्निपीडितः ।
सोमिल्यासक्तचेतस्कश्चक्रे चित्तं व्रतोन्मुखम् ॥ ५७ ॥
वारिषेणो मुनिर्ज्ञात्वा मानसं तस्य तादृशम् ।
चचाल स्वपुरीं नीत्वा तं स्थितीकरणाय च ॥ ५८ ॥
समागच्छन्तमालोक्य मुनीन्द्रं शिष्यसंयुतम् ।
चारित्राच्चलितः किं वा पुत्रोऽयं चेलना सती ॥ ५९ ॥
सञ्चिन्त्य मानसे चेति परीक्षार्थं तदा ददौ ।
सरागवीतरागे द्वे आसने तस्य भक्तितः ॥ ६० ॥
वीतरागासने धीमान्संस्थितो वारिषेणवाक् ।
मुनीन्द्रो न तपत्येव सतां भ्रान्तिः क्रियाविधौ ॥ ६१ ॥
तदामृतरसस्वादु-हारिभिर्वचनोत्करैः ।
मातरं तोषयामास यतीन्द्रो विनयान्विताम् ॥ ६२ ॥
ततः प्राह मुनिर्मातर्मदीयान्तःपुरं परम् ।
आनीयतामिति श्रुत्वा सा सती चेलना तदा ॥ ६३ ॥
द्वात्रिंशद्गणनोपेतास्तद्भार्या रूपमण्डिताः ।
सालङ्काराः समानीय दर्शयामास सद्गुणाः ॥ ६४ ॥
कृत्वा नतिं ततस्तास्तु संस्थिताः सुयथाक्रमम् ।
गुरुः शिष्यं प्रति प्राह सावधानः प्रमादिनम् ॥ ६५ ॥
यौवराज्यमिदं प्राज्यमेता मे सारसम्पदः ।
सर्वं गृहाण चेत्तुभ्यं रोचते भो मुने ध्रुवम् ॥ ६६ ॥

तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोसौ मुनिर्लज्जाभरान्वितः।
समुत्थाय गुरोपाद-द्वयं नत्वा जगाद च ॥ ६७ ॥
धन्यस्त्वं भो मुने स्वामिन्हतलोभमहाग्रहः।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सारतत्वविदाम्वर ॥ ६८ ॥
ये कुर्वन्ति महान्तोत्र मुक्त्वैताः सारसम्पदः।
त्वादृशाः सुतपस्तेषां किं लोके यच्च दुर्लभम् ॥ ६९ ॥
सत्यं जन्मान्धकोहं च गृहीत्वा यत्तपोमणिम्।
अक्ष्णा काणीं तु सोमिल्यां नात्यजन्निजचेतसः ॥ ७० ॥
त्वया द्वादशवर्षाणि तपश्चक्रे सुनिर्मलम्।
मया मूर्खेण तत्रैव तत्कृतं शल्यकश्मलम् ॥ ७१ ॥
अतोपराधिनो मे च प्रायश्चित्तं प्रदीयताम्।
भवद्भिः करुणासारैर्यतो पापक्षयो भवेत् ॥ ७२ ॥
तदासौ वारिषेणश्च मुनीन्द्रो निश्चलव्रतः।
संजगाद वचो धीमान्परमानन्ददायकम् ॥ ७३ ॥
अहो धीर महादुःखं मा कुरु त्वं स्वचेतसि।
दुष्टकर्मवशाज्जीवो विद्वान् क्वापि च मुह्यति ॥ ७४ ॥
इत्युक्त्वा तं समुद्धीर्य प्रायश्चित्तं यथागमम्।
दत्वा तत्तपसश्चेति सुस्थितीकरणं व्यधात् ॥ ७५ ॥
पुष्पडालस्ततो धीमान्गुरुवाक्यप्रसादतः।
महावैराग्यभावेन तपश्चक्रे सुदुःसहम् ॥ ७६ ॥
इत्थं चान्येन कर्त्तव्यं सुस्थितीकरणं श्रिये।
केनापि कारणेनात्र पततो धर्मपर्वतात् ॥ ७७ ॥
येत्र भव्याः प्रकुर्वन्ति सुस्थितीकरणं परम्।
स्वर्मोक्षफलदस्तैश्च सिञ्चितो धर्मपादपः ॥ ७८ ॥

शरीरसम्पदादीना-मस्थिराणां क्वचिद्भवेत्।
रक्षणं शर्मदं धर्मे का कथा शर्मकोटिदे ॥ ७९ ॥
एवं ज्ञात्वा समुत्सृज्य प्रमादं दुःखकारणम्।
कार्यं तद्धि महाभव्यैः संसाराम्भोधितारणम् ॥ ८० ॥

श्रीमज्जैनपदाब्जयुग्ममधुलिट् श्रीवारिषेणो मुनि-
र्दत्वा तस्य मुनेस्तपोद्रिपततो हस्तावलम्बं दृढम्।
ज्ञानध्यानरतः प्रसिद्धमहिमा प्राप्तो वनं निर्मलं
दद्यान्मे भवतारकः स भगवान्नित्यं सुखं मङ्गलम् ॥ ८१ ॥

इति कथाकोशे स्थितिकरणाङ्गे श्रीवारिषेणमुनेः कथा समाप्ता।

१२—श्रीविष्णुकुमारमुनेः कथा।

श्रीजिनं भारतीं साधु-पादद्वंद्वं सुखप्रदम्।
नत्वा विष्णुकुमारस्य वात्सल्याङ्गे कथां ब्रुवे ॥ १ ॥
अथेह भारते क्षेत्रेऽवन्तिदेशे महापुरि।
उज्जयिन्यां प्रभुर्जातः श्रीवर्मा श्रीमतिप्रियः ॥ २ ॥
न्यायशास्त्रविचारज्ञो धार्मिको वैरिमर्दकः।
प्रजानां पालने दक्षो दुष्टानां निग्रहे क्षमः ॥ ३ ॥
बलिर्बृहस्पतिस्तस्य प्रल्हादो नमुचिस्तथा।
चत्वारो मन्त्रिणश्चेति संजाता धर्मशत्रवः ॥ ४ ॥
शोभते स्म स भूपालोऽधार्मिकैस्तैर्निसेवितः।
पन्नगैर्वेष्टितो दुष्टैर्यथा चन्दनपादपः ॥ ५ ॥
एकदाकम्पनाचार्यो लसत्संज्ञानलोचनः।
प्रसिञ्चन्भव्यसस्यौघान्स्ववाक्यामृतवर्षणैः ॥ ६ ॥
मुनीनां कामशत्रूणां संयुक्तः सप्तभिः शतैः।
समागत्य तदुद्याने संस्थितः सुरपूजितः ॥ ७ ॥

वारितो गुरुणा तेन स्वसंघो विनयान्वितः ।
आगते भूमिपादौ च भवद्भिर्भो यतीश्वराः ॥ ८ ॥
सार्धं केनापि कर्त्तव्यं जल्पनं नैव साम्प्रतम् ।
अन्यथा सर्वसंघस्य विनाशोत्र भविष्यति ॥ ९ ॥
तदाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं लोकद्वयहितप्रदम् ।
मौनेन संस्थितास्तेपि मुनयो ध्यानमानसाः ॥ १० ॥
शिष्यास्तेत्र प्रशस्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः ।
प्रीतितो विनयोपेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत् ॥ ११ ॥
तदा पौराः समादाय पूजाद्रव्यं मनोहरम् ।
निर्गता वन्दनाभक्त्या तेषामानन्दनिर्भराः ॥ १२ ॥
स्वप्रसादस्थितो राजा श्रीवर्मा वीक्ष्य तान्जगौ ।
अकालेपि क्व यात्येष पौरः पुष्पादिसंयुतः ॥ १३ ॥
तच्छ्रुत्वा मंत्रिणः प्राहुर्दुष्टास्ते भूपतिं प्रति ।
देवोद्याने समायाता नित्यं नग्ना दिगम्बराः ॥ १४ ॥
तत्र प्रयाति लोकोयं तदाकर्ण्य नृपोवदत् ।
तान्द्रष्टुं वयमप्युच्चै-र्गच्छामः कौतुकीमयान् ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वा मंत्रिभिः सार्धं गत्वा तत्र महीपतिः ।
तान्विलोक्य महाध्यान-सम्पन्नान्हृष्टमानसः ॥ १६ ॥
प्रत्येकं भक्तितस्तेषां स चक्रे वन्दनां मुदा ।
केनापि मुनिना नैव दत्तमाशीर्वचस्तदा ॥ १७ ॥
महाध्यानेन तिष्ठन्ति निस्पृहा मुनयस्तराम् ।
स कुर्वन्संस्तुतिं चेति व्याघुट्य चलितो नृपः ॥ १८ ॥
तदा ते पापिनः प्राहुर्मंत्रिणो द्वेषिणः सताम् ।
एते देव किमप्यत्र वक्तुं जानन्ति नैव च ॥ १९ ॥

ततो मौनं समादाय संस्थिताः कपटेन हि ।
हास्यं कृत्वेति तेनैव निर्गता भूभुजा समम् ॥ २० ॥
इन्द्रप्रतीन्द्रनागेन्द्रै-र्वन्दितानां मुनीशिनाम् ।
निन्दां कुर्वन्ति ये सत्यं दुर्जना भापणोपमाः ॥ २१ ॥
ततः मार्गे समालोक्य चर्यां कृत्वा मुनीश्वरम् ।
आगच्छन्तं जगुस्तेपि श्रुतसागरसंज्ञकम् ॥ २२ ॥
बलीवर्दः समायाति पूर्णकुक्षिस्तु नूतनः ॥
तदाकर्ण्य मुनीन्द्रेण ज्ञात्वा वादोद्धतांश्च तान् ॥ २३ ॥
स्याद्वादवादिना तेन द्विजास्ते ज्ञानगर्विताः ।
निर्जिता भूपसान्निध्ये वाक्कल्लोलभरैर्निजैः ॥ २४ ॥
एकेन तेन सर्वेपि निर्जिताश्चेति नाद्भुतम् ।
एको हि तिमिरश्रेणि-प्रक्षये भास्करः प्रभुः ॥ २५ ॥
समागत्य गुरोः पार्श्वे स्ववृत्तान्तं जगौ हि सः ।
तच्छ्रुत्वा च गुरुः प्राह हा कृतं भो विरूपकम् ॥ २६ ॥
हतस्त्वया स्वहस्तेन संघोयं शर्मदः सताम् ।
वादस्थाने त्वमेकाकी गत्वा रात्रौ यदि ध्रुवम् ॥ २७ ॥
कायोत्सर्गेण सद्ध्यानं करोपि परमार्थतः ।
संघस्य जीवितं ते च विशुद्धिः संभवेत्तदा ॥ २८ ॥
स धीरो मेरुवद्गाढं मुनिः श्रीश्रुतसागरः ।
श्रुत्वेति संघरक्षार्थं गत्वा तत्र तथा स्थितः ॥ २९ ॥
तदा ते विप्रकाः सर्वे मानभङ्गेन लज्जिताः ।
मुनीनां मारणार्थं च रात्रौ गेहाद्विनिर्गताः ॥ ३० ॥
मार्गे तं मुनिमालोक्य कायोत्सर्गेण संस्थितम् ।
येनास्माकं कृतो मान-भङ्गः सोयं तु हन्यते ॥ ३१ ॥

इत्यालोच्य मुनेस्तस्य यथार्थं दुष्टमानसाः ।
खड्गानुत्थापयामासुश्चत्वारश्चैकवारतः ॥ ३२ ॥
तदा तत्पुण्यमाहात्म्यात्प्रकम्पितनिजासना ।
तथैव स्तंभयामास मंत्रिणः पुरदेवता ॥ ३३ ॥
प्रभातसमये श्रुत्वा लोकेभ्यो भूपतिस्तदा ।
मंत्रिणां दुश्चरित्रं तत्संदृष्ट्वा कीलितांश्च तान् ॥ ३४ ॥
बाधा निरपराधानां येत्र कुर्वन्ति पापिनः ।
प्रयान्ति नरकं घोरं दुस्सहं ते दुराशयाः ॥ ३५ ॥
सामान्यजन्तुहन्तॄणां मुखं दृष्टुं न युज्यते ।
किं पुनस्त्रिजगत्पूज्य-मुनिपीडाविधायिनाम् ॥ ३६ ॥
इत्युक्त्वा कुलमंत्रित्वाद्विप्रत्वाच्च न मारिताः ।
कोपेन कारयित्वाशु गर्दभारोहणं च तान् ॥ ३७ ॥
देशान्निर्घाटयामास श्रीवर्मा न्यायशास्त्रवित् ।
युक्तं पापप्रयुक्तानां जनानामीदृशी गतिः ॥ ३८ ॥
तं प्रभावं समालोक्य सर्वे भव्यजनास्तदा ।
संचक्रुः परमानन्दै-र्जयकोलाहलध्वनिम् ॥ ३९ ॥
अथास्ति हस्तिनागाख्ये पुरे राजा सुधार्मिकः ।
महापद्मो गतच्छद्मा राज्ञी लक्ष्मीमती सती ॥ ४० ॥
बभूवतुस्तयोः पुत्रौ पद्मो विष्णुश्च शर्मदौ ।
एकदा स महापद्मो राजा राजीवलोचनः ॥ ४१ ॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य जिनपादाब्जयो रतः ।
दत्वा राज्यं सुधीर्ज्येष्ठ-पुत्राय परमार्थतः ॥ ४२ ।
श्रुतसागरचन्द्राख्यं मुनिं नत्वा जगद्धितम् ।
सार्धं विष्णुकुमारेण जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ॥ ४३ ॥

श्रीमद्विष्णुकुमारोसौ मुनिः सद्ध्यानतत्परः ।
कुर्वंस्तपो जिनेन्द्रोक्तं संजातो विक्रयर्द्धिवाक् ॥ ४४ ॥
तदा पद्ममहीभर्त्तुः सद्राज्यं कुर्वतः सुखम् ।
विप्रास्ते तु समागत्य संजाता मंत्रिणः पुनः ॥ ४५ ॥
अन्यदा दुर्बलं वीक्ष्य पद्मराजानमब्रवीत् ।
बलिः किं देव दौर्बल्य-कारणं च प्रभुर्जगौ ॥ ४६ ॥
अस्ति कुंभपुरे राजा नाम्ना सिंहबलो महान् ।
दुष्टो दुर्गबलेनासौ मद्देशं हन्ति दारुणः ॥ ४७ ॥
ततो नृपाज्ञया सोपि बलिर्मंत्री स्वबुद्धितः ।
गत्वा दुर्गाश्रयं भङ्क्त्वा गृहीत्वा च महारिपुम् ॥ ४८ ॥
आगत्य नृपतिं प्राह सोयं सिंहबलः प्रभो ।
इत्याकर्ण्य जगौ राजा पद्माख्यो हृष्टमानसः ॥ ४९ ॥
प्रार्थय त्वं वरं धीर यत्तुभ्यं रोचते तराम् ।
तेनोक्तं प्रार्थयिष्यामि तदा मे दीयतां विभो ॥ ५० ॥
अथैकदा समागत्य मुनिवृन्दैः समन्वितः ।
सुधीरकम्पनाचार्यो भव्यौघान्प्रतिबोधयन् ॥ ५१ ॥
संस्थितः पुरबाह्येसौ पौरास्तत्र महोत्सवैः ।
तान्वन्दितुं गताः सर्वे पूजाद्रव्यैः प्रमोदतः ॥ ५२ ॥
तदाकर्ण्य द्विजास्तेपि चक्रुश्चिन्तां स्वचेतसि ।
एतेषां भाक्तिको राजा भीत्वा मंत्रं विधाय च ॥ ५३ ॥
बलिः प्राह ततो भूपं दीयतां मे प्रभो वरम् ।
राज्यं सप्तदिनान्येव भवद्भिः सत्यसंयुतैः ॥ ५४ ॥
ततोसौ पद्मभूपालो वंचितस्तैः कुमंत्रिभिः ।
दत्वा राज्यं निजं तस्मै स्वयं वान्तःपुरे स्थितः ॥ ५५ ॥

तैस्तदा राज्यमादाय कपटेन शठद्विजैः ।
मुनीनां मारणार्थं च वृत्या संवेष्ट्य तान्पुनः ॥ ५६ ॥
कारयित्वा तृणैः काष्ठैः पापिष्ठैः मण्डपं ततः ।
वेदवाक्यैः समारब्धो यज्ञकः पशुघातकः ॥ ५७ ॥
तदा छागोद्भवैर्धूम-शयितैः खर्परादिभिः ।
पीडिताः मुनयस्तेपि सन्यासं द्विविधं दृढम् ॥ ५८ ॥
गृहीत्वा संस्थिताश्चित्ते स्मरन्तः परमात्मनः ।
शत्रुमित्रसमाः सर्वे निश्चला मेरुवत्तराम् ॥ ५९ ॥
मिथिलायामथ ज्ञानी श्रुतसागरचन्द्रवाक् ।
मुनीन्द्रो व्योम्नि नक्षत्रं श्रवणं श्रमणोत्तमः ॥ ६० ॥
कम्पमानं समालोक्यं हाहाकारं विधाय च ।
उपसर्गो मुनीन्द्राणां वर्तते महतां महान् ॥ ६१ ॥
इति प्राह तदाकर्ण्य पृष्टोसौ क्षुल्लकेन च ।
पुष्पदन्तेन भो देव कुत्र केषां गुरुर्जगौ ॥ ६२ ॥
हस्तिनागपुरेकम्प-नाचार्यादिमुनीशिनाम् ।
उपसर्गं कथं देव संक्षयं याति धीधन ॥ ६३ ॥
गुरुर्जगाद् भो वत्स भूमिभूषणपर्वते ।
मुनिर्विष्णुकुमारोस्ति विक्रियर्द्धिप्रमण्डितः ॥ ६४ ॥
स तं निवारयत्येव मुनीनामुपसर्गकम् ।
तच्छ्रुत्वा क्षुल्लको गत्वा सर्वं तस्य मुनेर्जगौ ॥ ६५ ॥
ततो विष्णुकुमारेण विक्रियर्द्धिर्ममास्ति च ।
संचिन्त्येति परिक्षार्थं हस्तः स्वस्य प्रसारितः ॥ ६६ ॥
तदासौ भूधरं भित्वा समुद्रे पतितः करः ।
विक्रियर्द्धिं ततो ज्ञात्वा मुनिः सद्धर्मवत्सलः ॥ ६७ ॥

गत्वा नागपुरं पद्मं भूपतिं प्रति चोक्तवान् ।
अहो भ्रातस्त्वया कष्टं किमारब्धं मुनीशिनाम् ॥ ६८ ॥
अस्मत्कुले पुरा केन निर्मितं नैव चेदृशम् ।
मुनीनामुपसर्गं रे कथं कारयसि त्वकम् ॥ ६९ ॥
शिष्टानां पालनं दुष्ट-निग्रहं यः करोत्यहो ।
कथ्यते स महीनाथो न पुनर्मुनिघातकः ॥ ७० ॥
साधूनामत्र सन्तापो कष्टदो भवति ध्रुवम् ।
सुष्ठु तप्तं यथा तोयं दहत्यङ्गं न संशयः ॥ ७१ ॥
कुरु त्वं शान्तिमेतेषां यावत्ते नागतापदा ।
तदाकर्ण्य प्रभुः प्राह किं करोमि महामुने ॥ ७२ ॥
मया सप्त दिनान्येव स्वराज्यं बलिमंत्रिणे ।
दत्तं ततो भवानेव युक्तमुच्चैः करोतु च ॥ ७३ ॥
किं कथ्यते मया तत्र भवतां कार्यशालिनाम् ।
प्रोल्लसद्भास्करे भाति किं दीपेनाल्पतेजसा ॥ ७४ ॥
ततो विष्णुमुनिः सोपि विक्रयर्द्धिप्रभावतः ।
वामनब्राह्मणस्योच्चै-रूपमादाय लीलया ॥ ७५ ॥
कुर्वन्वेदध्वनिं गत्वा यज्ञस्थाने स्थितस्तदा ।
बलिस्तं वीक्ष्य सन्तुष्टः प्रोवाच वचनं शुभम् ॥ ७६ ॥
यत्तुभ्यं रोचते विप्र तन्मया दीयते वद ।
स प्राह वेदवेदाङ्ग-पारगो वामनो द्विजः ॥ ७७ ॥
देहि भो भूपते मह्यं भूमेः पादत्रयं मुदा ।
किं त्वया याचितं विप्र बहु प्रार्थय वाञ्छितम् ॥ ७८ ॥
लोकैः प्रेर्यमाणोपि याचते स्म तदेव सः ।
दानेनैतेन भो देव पूर्यतामिति साम्प्रतम् ॥ ७९ ॥

तदा बलिः प्रभुर्विप्र त्वं गृहाण निजेच्छया ।
भूमेः पादत्रयं चेति दत्तवांस्तत्करे जलम् ॥ ८० ॥
ततः कोपेन तेनोच्चै-रेकः पादः सुराचले ।
द्वितीयश्चरणो दत्तो मानुषोत्तरपर्वते ॥ ८१ ॥
तृतीयश्चरणश्चेति विना स्थानं न चालितः ।
आकाशे तु तदा क्षोभः सजातो भुवनत्रये ॥ ८२ ॥
कम्पिताः पर्वताः सर्वे ससमुद्राः सभूमयः ।
प्रापुः संघट्टनं व्योम्नि विमानाश्चकिताः सुराः ॥ ८३ ॥
क्षम्यतां क्षम्यतां देव भीत्वा चेति सुरासुराः ।
समागत्य बलिं बध्वा पूजयन्ति स्म तत्क्रमौ ॥ ८४ ॥
भक्त्या तदा मुनीन्द्राणामुपसर्गं विशिष्टधीः ॥
शीघ्रं निवारयामास मुनिर्विष्णुकुमारवाक् ॥ ८५ ॥
स पद्मोपि महाराजो भयादागत्य वेगतः ।
विष्णोर्मुनेस्तथा तेषां पतितश्चरणद्वये ॥ ८६ ॥
मंत्रिणश्चेति चत्वारो मुक्त्वा दुष्टाशयं तदा ।
विष्णोरकम्पनाचार्य-मुनीनां पादपद्मयोः ॥ ८७ ॥
नत्वा सद्भावतस्त्यक्त्वा कष्टं मिथ्यामतं द्रुतम् ।
संजाताः श्रावकाः सर्वे जैनधर्मपरायणाः ॥ ८८ ॥
तथा विष्णुकुमारस्य पादपूजार्थमद्भुतम् ।
दत्तं वीणात्रयं देवैर्लोकानां शर्मदायकम् ॥ ८९ ॥
एवं भव्यात्मना भक्त्या मुन्यादीनां सुखप्रदम् ।
वात्सल्यं सर्वथा कार्यं स्वर्गमोक्षसुखश्रिये ॥ ९० ॥

इत्थं श्रीजिनपादपङ्कजरतो धर्मानुरागान्वितः
कृत्वा श्रीमुनिपुंगवेषु नितरां वात्सल्यमुद्यन्मतिः ।

सम्प्राप्तः स्वपदं प्रमोदकलितः श्रीविष्णुनामा मुनि—
भूयान्मे भवसिन्धुतारणपरः सन्मोक्षसौख्यश्रिये ॥ ९१ ॥

इति कथाकोशे वात्सल्याङ्गे विष्णुकुमारमुनेः कथा समाप्ता।

१३—श्रीवज्रकुमारमुनेः कथा ।

प्रणम्य परमात्मानं श्रीजिनं त्रिजगद्गुरुम् ।
वक्ष्ये प्रभावनाङ्गेहं कथां वज्रकुमारजाम् ॥ १ ॥
हस्तिनागपुरे रम्ये वलनाम्नो महीपतेः ।
पुरोहितोभवत्तस्य गरुडाख्यो विचक्षणः ॥ २ ॥
तत्पुत्रः सोमदत्तोभून्नाना शास्त्रसरित्पतेः ।
पारगः परमानन्द-दायकः सज्जनादिषु ॥ ३ ॥
अहिच्छत्रपुरं गत्वा त्वेकदासौ विशालधीः ।
सुभूतिं मातुलं प्राह भो माम विनयान्वितः ॥ ४ ॥
राजानं दुर्मुखाख्यं मे दर्शय त्वं कृपापरः ।
गर्वितेन प्रभुस्तेन दर्शितो नैव तस्य सः ॥ ५ ॥
ततोसौ गृहिलो भूत्वा सभायां भूपतेः स्वयम् ।
गत्वाशीर्वचनं तस्मै दत्वा पुण्यप्रभावतः ॥ ६ ॥
नाना शास्त्रप्रवीणत्वं स्वं प्रकाश्यैकहेलया ।
प्राप्तो मंत्रिपदं दिव्यं स्वशक्तिः शर्मदायिनी ॥ ७ ॥
तथाभूतं तमालोक्य सोमदत्तं स मातुलः ।
सुभूतिर्विधिना तस्मै यज्ञदत्तां सुतां ददौ ॥ ८ ॥
एकदा यज्ञदत्ताया गर्भिण्याया हृदोऽभवत् ।
आम्रपक्वफलास्वादे प्रावृषि स्त्रीस्वभावतः ॥ ९ ॥

तान्यालोकितुं विप्रो गतश्चाम्रवनं तदा ।
अकालेपि सुधीरोत्र किं करोति न साहसम् ॥ १० ॥
तत्रान्वेषयता तेन सहकारद्रुमेषु च ।
एकोद्याम्रतरुर्दृष्टः सुमित्रमुनिना श्रितः ॥ ११ ॥
नाना फलौघसम्पन्नो महद्भिः सेवितो महान् ।
शोभते स्म तरुः सोपि जैनधर्म इवापरः ॥ १२ ॥
प्रभावोयं मुनेरस्य द्विजो ज्ञात्वेति चेतसि ।
तान्यादाय फलान्युच्चैः प्रेषयामास योषितः ॥ १३ ॥
स्वयं स्थित्वा मुनेः पाद-मूलेसौ भक्तिनिर्भरः ।
नत्वा तं त्रिजगत्पूतं पृष्टवान्सोमदत्तवाक् ॥ १४ ॥
भो मुने करुणासिन्धो सारं किं भुवनत्रये ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि श्रीमतां मुखपद्मतः ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनिनाथोसौ सुमित्राख्योवदत्तराम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-धर्म एव विचक्षण ॥ १६ ॥
सोपि वत्स द्विधा प्रोक्तः स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
मुनिश्रावकभेदेन भवभ्रमणनाशकः ॥ १७ ॥
तत्राद्यो दशधा धर्मो मुनीनां गुणशालिनां ।
रत्नत्रयादिभिश्चैव जिनेन्द्रैः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥
दानपूजादिभिः शील-प्रोषधैश्च शुभश्रिये ।
भवेत्परोपकाराद्यैः श्रावकाणां वृषोत्तमः ॥ १९ ॥
इत्यादिधर्मसद्भावं श्रुत्वा श्रीमुनिभाषितम् ।
महावैराग्यसम्पन्नो नत्वा तं मुनिनायकम् ॥ २० ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥
आगमाम्भोधिसत्पारं प्राप्तोसौ गुरुभक्तितः ॥ २१ ॥

ततो नाभिगिरिं गत्वा सोमदत्तो महामुनिः ।
स्थित्वा तापनयोगेन सद्ध्याने संश्रितः सुधीः ॥ २२ ॥
अथातो यज्ञदत्ता सा ब्राह्मणी सुषुवे सुतम् ।
दिव्यं शर्माकरं पूज्यं सुकाव्यं वा सतां मतिः ॥ २३ ॥
एकदा सा समाकर्ण्य भर्तृवृत्तान्तमद्भुतम् ।
बन्धूनामग्रतो गत्वा जगादाश्रुविलोचना ॥ २४ ॥
बन्धुवर्यैः समं गत्वा ततो नाभिगिरिं द्रुतम् ।
दृष्ट्वा तापनयोगेन संस्थितं मुनिसत्तमम् ॥ २५ ॥
महाकोपेन सन्तप्ता यज्ञदत्ता जगाद च ।
रे रे दुष्ट त्वया कष्टं परिणीता कथं यतः ॥ २६ ॥
मां विमुच्य तपःप्रीत्या संस्थितोसि शिलोच्चये ।
अतस्ते त्वं गृहाणेमं पुत्रं पालय साम्प्रतम् ॥ २७ ॥
इत्युक्त्वा निष्ठुरं वाक्यं तं पुत्रं निर्दयाशया ।
धृत्वा तत्पादयोरग्रे कोपतः स्वगृहं गता ॥ २८ ॥
सिंहव्याघ्रसमाकीर्णे पर्वते तत्र निर्दया ।
त्यक्त्वा बालं गता सेत्थं किं न कुर्वन्ति योषितः ॥ २९ ॥
अत्रान्तरेमरावत्या नगर्याश्च खगाधिपः ।
श्रीदिवाकरदेवाख्यः कुटुम्बकलहे सति ॥ ३० ॥
स पुरंदरदेवेन लघुभ्रात्रा महायुधि ।
राज्यान्निर्घाटितो ज्येष्टः सकलत्रो विषण्णधीः ॥ ३१ ॥
ततो विमानमारुह्य जैनीं यात्रां सुखप्रदाम् ।
नाना तीर्थेषु संकर्तुं निर्गतो दुर्गतिच्छिदम् ॥ ३२ ॥
पर्यटंश्च नभोभागे नाभिपर्वतसंस्थितम् ।
दृष्ट्वा तं मुनिमायातो वन्दितुं भक्तिनिर्भरः ॥ ३३ ॥

तत्र बालं विलोक्योच्चैः प्रस्फुरत्कान्तिमद्भुतम् ।
मुनीन्द्रपादपद्माग्रे विकसन्मुखपङ्कजम् ॥ ३४ ॥
ज्ञात्वा तं पुण्यसंयुक्तं समाहूय प्रहर्षतः ।
दत्तवान्निजभार्यायै गृहाणेति सुतं प्रिये ॥ ३५ ॥
संविलोक्य करौ तस्य वज्रचिह्नादिशोभितौ ।
नाम्ना वज्रकुमारोय-मित्युक्त्वा तौ गृहं गतौ ॥ ३६ ॥
स्वमात्रापि विमुक्तोसौ लालितः खेचरस्त्रिया ।
प्रकृष्टपूर्वपुण्यानां न हि कष्टं जगत्त्रये ॥ ३७ ॥
तथासौ स्वगुणैः सार्द्धं वृद्धिं सम्प्राप्तवान्सुधीः ।
कुर्वन्सर्वजनानन्दं द्वितीयेन्दुरिवामलः ॥ ३८ ॥
कनकाख्यपुरे राजा नाम्ना विमलवाहनः ।
स बालस्य भवत्येव तस्य कृत्रिममातुलः ॥ ३९ ॥
तत्समीपे कुमारोसौ नाना शास्त्रमहार्णवम् ।
तरति स्म यथा सर्वे खेचरा विस्मयं गताः ॥ ४० ॥
अथैकदा खगाधीशः सुधीर्गरुडवेगवाक् ।
तद्भार्याङ्गवती नाम्नी सती तद्गुणमण्डिता ॥ ४१ ॥
तयोः पवनवेगाख्या पुत्री सद्रूपशालिनी ।
ह्रीमन्तपर्वते पूते विद्यां प्रज्ञप्तिमद्भुताम् ॥ ४२ ॥
साधयन्ती स्थिता यावद्दर्याः कण्टकेन च ।
पवनान्दोलितेनोच्चैर्विद्धा सा लोचने सती ॥ ४३ ॥
पीडया चलचित्तायास्तस्या विद्या न सिद्ध्यति ।
पुण्याद्वज्रकुमारोसौ लीलया तत्र चागतः ॥ ४४ ॥
तां विलोक्य तथाभूतां लोचनाच्चतुरोत्तमः ।
दूरीचकार यत्नेन कण्टकं दुर्जनोपमम् ॥ ४५ ॥

ततस्तस्यास्तरां स्वस्थ-चित्ताया मंत्रयोगतः।
सिद्धा प्रज्ञप्तिका विद्या कार्यकोटिविधायिनी॥ ४६॥
सा जगाद ततः कन्या त्वत्प्रसादेन मे ध्रुवम्।
सिद्धा विद्येति भो धीर परमानन्ददायिनी॥ ४७॥
अतस्त्वमेव मे भर्त्ता कार्यसिद्धिविधायकः।
नान्यः परो नरः कोपि निर्गुणः सगुणोऽथवा॥ ४८॥
ततो गरुडवेगोसौ तत्पिता विधिपूर्वकम्।
तस्मै वज्रकुमाराय तां सुतां दत्तवान्मुदा॥ ४९॥
अथ वज्रकुमारोसौ तां विद्यां स्वप्रियो द्रुतम्।
समादाय महासैन्यं विधाय परमादरात्॥ ५०॥
श्रीदिवाकरदेवेन समं गत्वामरावतीम्।
संग्रामेण ततो जित्वा तं पुरंदरदेवकम्॥ ५१॥
तं दिवाकरदेवं च धर्मतातं महोत्सवैः।
तद्राज्ये स्थापयामास सुपुत्रः कुलदीपकः॥ ५२॥
एकदा भूपतेः पत्नी जयश्रीः प्राह कोपतः।
स्वपुत्रराज्यसन्देहद्याङ्का तन्मान्यतां तराम्॥ ५३॥
अन्येन जनितश्चान्यं संतापयति दुष्टधीः।
कुपुत्रोसौ महाकष्टं स्त्रीबुद्धिर्नैव निश्चला॥ ५४॥
तदा वज्रकुमारोसौ श्रुत्वा मातुः कटुश्रुतिम्।
प्रोवाच वचनं तातं प्रतीत्यं भो खगेश्वर॥ ५५॥
अहं कस्य सुतो देव तदाकर्ण्य प्रभुर्जगौ।
किं भो पुत्र मतिभ्रंसोमवत्ते येन साम्प्रतम्॥ ५६॥
महादुःखप्रदं वाक्यं वदस्येव मनोहरम्।
सोपि प्राह सुधीस्तात वद त्वं सत्यमेव च॥ ५७॥

अन्यथा भोजनादौ मे प्रवृत्तिर्नैव भूपते।
सतां चित्ते यदा यातं तत्कथं केन वार्यते ॥ ५८ ॥
विद्याधरप्रभुः प्राह ततो वृत्तान्तमादितः।
सत्यमेवाग्रहेणात्र शक्यते छादितुं न हि ॥ ५९ ॥
तं निशम्य कुमारोसौ स्ववृत्तान्तं विरक्तवान्।
ततौ विमानमारुह्य वन्दितुं तं मुनीश्वरम् ॥ ६० ॥
तातादिबन्धुभिः सार्द्धं मथुरानिकटस्थिताम्।
क्षत्रियाख्यगुहां प्राप्तो यत्रास्ते स महामुनिः ॥ ६१ ॥
इन्द्रचन्द्रनरेन्द्राद्यैः समर्चितपदद्वयम्।
सोमदत्तमुनिं दृष्ट्वा सन्तुष्टास्ते स्वचेतसि ॥ ६२ ॥
त्रिः परीत्य समभ्यर्च्य नत्वा तं भक्तितो मुनिम्।
संस्थितेषु सुखं तत्र सर्वलोकेषु लीलया ॥ ६३ ॥
सोमदत्तगुरोरग्रे महाधर्मानुरागतः।
स दिवाकरदेवश्च स्ववृत्तान्तं पुनर्जगौ ॥ ६४ ॥
तदा वज्रकुमारेण प्रोक्तं भो तात शुद्धधीः।
आदेशं देहि येनाहं करोमि सुतपो ध्रुवम्। ६५ ॥
खगेशः प्राह भो पुत्र त्वत्सहायेन साम्प्रतम्।
युक्तं मेत्र तप कर्तुं त्वं गृहाणेति मे श्रियम् ॥ ६६ ॥
इत्यादिमधुरैर्वाक्यै-र्निषिद्धोपि महीभुजा।
युक्त्या सम्बोध्य तानुच्चै-र्मुनिर्जातः स धीरधीः ॥ ६७ ॥
तपो धृत्वा कुमारोसौ कन्दर्पकरिकेसरी।
श्रीमज्जैनमताम्भोधौ जातः पूर्णेन्दुरद्भुतम् ॥ ६८ ॥
अत्रान्तरे कथां वक्ष्ये शृण्वन्तु सुधियो जनाः ॥
पूतिगन्धाभिधो राजा मथुरायां प्रवर्त्तते ॥ ६९ ॥

तस्योऽस्ति महाराज्ञी सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः ।
नित्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां चरणार्चनकोविदा ॥ ७० ॥
धर्मप्रभावनायां च संरक्ता श्रीजिनोदिताम् ।
नन्दीश्वरमहापर्व-दिनान्यष्टौ प्रमोदतः ॥ ७१ ॥
वर्षं प्रति शिवारांश्च महामोदेन संयुता ।
श्रीजिनेन्द्रार्थोत्साहं कारयन्तीव सर्वदा ॥ ७२ ॥
तत्रैव नगरे श्रेष्ठी ज्ञातः सागरदत्तवाक् ।
भार्या समुद्रदत्ताख्या तयोः पुत्री बभूव च ॥ ७३ ॥
पापतः सा दरिद्राख्या दुःखदारिद्र्यकारिणी ।
मृते सागरदत्ताख्ये वस्तुवर्गे क्षयं गते ॥ ७४ ॥
दरिद्रा जीविता कष्टं परोच्छिष्टाऽशनादि ।
दानपूजागुणैः हीनः प्राणी स्याद्दुःखभाजनम् ॥ ७५ ॥
तदा तत्पुरमायातौ चर्यार्थं मुनिनायकौ ।
नन्दनाख्यो मुनिर्ज्येष्ठो द्वितीयश्चाभिनन्दनः ॥ ७६ ॥
तामुच्छिष्टाशनं बालां भक्षन्तीं विलोक्य च ।
लघुः प्राह मुनिर्ज्येष्ठं हाऽसौ कष्टेन जीवति ॥ ७७ ॥
इत्याकर्ण्य मुनीन्द्रोऽसौ नन्दनो ज्ञानलोचनः ।
अभिनन्दननामानं प्रोवाच मधुरं वचः ॥ ७८ ॥
अहो कन्या दरिद्रासौ [illegible] ।
अस्य पट्टमहाराज्ञी भविष्यति सुलक्षणा ॥ ७९ ॥
तदाकर्ण्य च भिक्षार्थं भ्रमता तत्र पत्तने ।
धर्मश्रीवन्दकेनेदं-नान्यथा मुनिभाषितम् ॥ ८० ॥
संचिन्त्येति दरिद्रासौ नाना मृष्टाशनादिभिः ।
नीत्वा शीघ्रं निजस्थानं पोषिता बहुयत्नतः ॥ ८१ ॥

एकदा यौवनारम्भे चैत्रमासे स्वलीलया ।
विलोक्यान्दोलयन्तीं तां दैवयोगान्महीपतिः ॥ ८२ ॥
कामान्धः पूतिगन्धोसौ तद्रूपासक्तमानसः ।
मंत्रिणं प्रेषयामास तदर्थं वन्दिकान्तिकम् ॥ ८३ ॥
गत्वा ते मंत्रिणः प्राहुर्भो वन्दक महीभुजे ।
दत्वा कन्यामिमां पूतां सुखीभव धनादिभिः ॥ ८४ ॥
तेनोक्तं बौद्धधर्मं मे करोति यदि भूपतिः ।
तदासौ दीयते कन्या मया तस्मै गुणोज्वला ॥ ८५ ॥
तत्स्वीकृत्य ततो भूपो दरिद्रां परिणीतवान् ।
कामी कामाग्निसन्तप्तः किं करोति न पातकम् ॥ ८६ ॥
दरिद्रा बुद्धदासीति स्वं प्रकाश्याभिधानकम् ।
प्राप्य राज्ञीपद बौद्ध-कुधर्मे तत्पराभवत् ॥ ८७ ॥
युक्तं श्रीमज्जिनेन्द्राणां धर्मः शर्मकरो भुवि ।
प्राप्यते नाल्पपुण्यैश्च निधानं वा भवान्धकैः ॥ ८८ ॥
अथ श्रीफाल्गुणे मासि नन्दीश्वरमहोत्सवे ।
महापूजाविधाने च रथं काञ्चननिर्मितम् ॥ ८९ ॥
लसन्तं पट्टकूलाद्यैः किंकिणीजालशोभितम् ।
नाना रत्नाञ्चितं चारु-छत्रत्रयविराजितम् ॥ ९० ॥
घण्टाटंकारसंयुक्तं वीज्यमानं सुचामरैः ।
सनाथं जिनबिम्बेन पूजितं सज्जनोत्करैः ॥ ९१ ॥
प्रोल्लसत्पुष्पमालाभिः सुगन्धीकृतदिङ्मुखम् ।
इत्यादिबहुशोभाढ्यमुर्विलाया विलोक्य तम् ॥ ९२ ॥
बुद्धदासी नृपं प्राह क्षोभं गत्वा स्वमानसे ।
भो नरेन्द्र रथो मेत्र पूर्वं भ्रमतु पत्तने ॥ ९३ ॥

तदाकर्ण्य तदासक्तो नृपः प्राह भवत्विति ।
मोहान्धा नैव जानन्ति गोक्षीरार्कपयोन्तरम् ॥९४॥
उर्विला च महाराज्ञी जिनपादाब्जयो रता ।
पत्तने प्रथमं मे श्री यदा भ्रमति सद्रथः ॥९५॥
तदाहारप्रवृत्तिर्मे प्रतिज्ञामिति मानसे ।
कृत्वा शीघ्रं तदा गत्वा क्षत्रियाख्यां गुहां सती ॥९६॥
सोमदत्तमुनिं नत्वा भक्तितो धर्मवत्सला ।
तथा वज्रकुमाराख्यं प्रणम्य मुनिसत्तमम ॥९७॥
अहो मुने जिनेन्द्राणां सद्धर्माम्बुधिचन्द्रमाः ।
त्वमेव शरणं मेस्ति मिथ्यात्वध्वान्तभास्करः ॥९८॥
इति स्तुत्वा महाभक्त्या जगाद निजवृत्तकम् ।
संस्थिता तत्पदांभोज-मूले यावद्गुणोज्वला ॥९९॥
तौ दिवाकरदेवाद्यास्तदा विद्याधरेशिनः ।
तं वन्दितुं समायाता मुनीन्द्रौ पुण्यपाकतः ॥१००॥
तदा वज्रकुमारेण मुनीन्द्रेण लसद्धिया ।
प्रोक्तं भो भूपते शीघ्रं भवद्भिर्धर्मवत्सलैः ॥ १०१ ॥
उर्विलाया महाराज्याः सम्यग्दृष्टिशिरोमणेः ।
यात्रा रथस्य जैनेंद्री कर्त्तव्या परमादरात् ॥ १०२ ॥
तच्छ्रुत्वा ते मुनेर्वाक्यं सर्वविद्याधरा द्रुतम् ।
तौ प्रणम्य मुनी भक्त्या सम्प्राप्ता मथुरापुरीम् ॥ १०३ ॥
स्वयं ते श्रीजिनेन्द्राणां धर्मकर्मपरायणाः ।
किं पुनः प्रेरितास्तेन मुनीन्द्रेण सुकर्मणि ॥ १०४ ॥
तत्र कोपेन ते प्रोच्चैर्बुद्धदास्या रथं भटान् ।
चूर्णीकृत्य समं तस्या महागर्वेण वेगतः ॥ १०५ ॥

उर्विलाया महादेव्या जिनधर्मार्पितचेतसः ।
संचक्रे परमानन्दा-द्रथयात्रामहोत्सवम् ॥ १०६ ॥
नदत्सु सर्ववादित्र-प्रकारेषु समंततः ।
स्तुवत्सु भव्यलोकेषु चारणेषु पठत्सु च ॥ १०७ ॥
समन्ताज्जयघोषेषु पुष्पवृष्टियुतेषु च ।
नाना नृत्यविनोदेषु कामिनीगीतहारिषु ॥ १०८ ॥
दीयमानेषु दानेषु प्रोल्लसत्प्रमदेषु च ।
अनेकभव्यलोकानां बर्द्धमानेषु मुद्दृष्टिषु ॥ १०९ ॥
जिनेन्द्रप्रतिमोपेतः सर्वसंवैरलंकृतः ।
संचचाल महाभूत्या रथः पूर्णमनोरथः ॥ ११० ॥
उर्विलाया महादेव्याः सर्वेषां भव्यदेहिनाम् ।
संजातः परमानन्दः स केनात्र प्रवर्ण्यते ॥ १११ ॥
जैनधर्मस्य ते सर्वे संविलोक्य प्रभावनाम् ।
राजा पूतिमुखो भक्त्या बुद्धदासी तथापरे ॥ ११२ ॥
त्यक्त्वा मिथ्यामतं शीघ्रं वान्तिवद्दुःखकारणम् ।
जैनधर्मे जगत्पूज्ये संजाता नितरां रताः ॥ ११३ ॥
एवं वज्रकुमारोसौ मुनीन्द्रो धर्मवत्सलः ।
कारयामास संप्रीत्या जैनधर्मप्रभावनाम् ॥ ११४ ॥
अन्यैश्चापि महाभव्यैः स्वर्गमोक्षप्रदायिनी ।
प्रभावना जिनेन्द्रोक्ते धर्मे कार्या जगद्धिता ॥ ११५ ॥
नाना यात्राप्रतिष्ठाभि-र्गरिष्ठाभिर्विशिष्टधीः ।
जैनशासनमुद्दिश्य यः करोति प्रभावनाम् ॥ ११६ ॥
धर्मानुरागतो धीमान्सम्यग्दृष्टिः शिरोमणिः ।
स भवेत्त्रिजगत्पूज्यः स्वर्गमोक्षसुखाधिपः ॥ ११७ ॥

स श्रीवज्रकुमारोत्र जिनधर्मे सुवत्सलः ।
नित्यं जैनमते कुर्यान्मतिं मे मुनिनायकः ॥ ११८ ॥

गच्छे श्रीमति मूलसंघतिलके श्रीशारदायाः शुभे
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सूरिः श्रुताब्धिः सुधीः ।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तविलसद्रत्नाकरोनिर्मलो
दद्यान्मे वरमंगलानि नितरां भक्त्या समाराधितः ॥ ११९ ॥

इति कथाकोशे प्रभावनाङ्गे वज्रकुमारमुनेः कथा समाप्ता ।

१४–नागदत्तमुनेः कथा ।

नत्वा पंच गुरून्भक्त्या पंचमीगतिनायकान् ।
नागदत्तमुनेश्चारु चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
देशेत्र मगधे ख्याते रम्ये राजगृहे पुरे ।
प्रजापालो महाराजः प्रजापालनतत्परः ॥ २ ॥
धार्मिको न्यायशास्त्रज्ञो जिनभक्तिपरायणः ।
तद्राज्ञी प्रियधर्माख्या दानपूजाप्रसन्नधीः ॥ ३ ॥
तयोर्बभूवतुः पुत्रौ विख्यातौ गुणशालिनौ ।
ज्येष्ठोसौ प्रियधर्माख्यो द्वितीयः प्रियमित्रवाक् ॥ ४ ॥
एकदा राजपुत्रौ तौ दीक्षां जैनीं समाश्रितौ ।
तपः कृत्वाच्युते स्वर्गे देवौ जातौ महर्द्धिकौ ॥ ५ ॥
ज्ञात्वा पूर्वभवं तत्र प्रशस्य जिनशासनम् ।
कुर्वाणौ जैनसद्भक्तिं संस्थितौ सुखतश्च तौ ॥ ६ ॥
धर्मानुरागतस्तत्र प्रतिज्ञेति तयोरभूत् ।
आवयोर्द्वयोर्मध्ये पूर्वं याति नृजन्मताम् ॥ ७ ॥

स्वर्गस्थितेन देवेन स सम्बोध्य जिनेशिनः ।
दीक्षां संग्राहितन्यश्च भवभ्रमणनाशिनीम् ॥ ८ ॥
नगर्यामुज्जयिन्यां च नागधर्मो महीपतिः ।
नागदत्ता महाराज्ञी रूपलावण्यमण्डिता ॥ ९ ॥
प्रियदत्तसुरस्तस्यां स्वर्गादागत्य शुद्धधीः ।
नागदत्तः सुतो जातः नागक्रीडाविचक्षणः ॥ १० ॥
एकदा प्रियधर्मोसौ देवो वाचातिनिश्चलः ।
भूत्वा गारुडिको धृत्वा सर्पयुग्मं करण्डके ॥ ११ ॥
उज्जयिन्यां समागत्य तस्य सम्बोधनाय च ।
सर्पक्रीडाविधौ चंचु-रहं चेति परिभ्रमन् ॥ १२ ॥
तदासौ नागदत्तेन राजपुत्रेण गर्विणा ।
धृतः प्रोक्तं च भो नाग-पालक प्रस्फुरद्विपम् ॥ १३ ॥
त्वदीयं सर्पकं मुञ्च तेन क्रीडां करोम्यहम् ।
तदा गारुडिकः प्राह राजपुत्रैः समं मया ॥ १४ ॥
विवादः क्रियते नैव रुष्टो राजा यदि ध्रुवम् ।
तदा मां मारयत्येव समाकर्ण्य नृपात्मजः ॥ १५ ॥
नीत्वा तं भूपतेरग्रे दापयित्वाभयं वचः ।
एकं भुजंगमं तस्य क्रीडया जयति स्म सः ॥ १६ ॥
ततो हृष्टेन तेनोक्तं नागदत्तेन तं प्रति ।
मुञ्च मुञ्च द्वितीयं च सर्पं भो मन्त्रवादिक ॥ १७ ॥
तेनोक्तं देव सर्पोयं महादुष्टः प्रवर्तते ।
दैवात्खादति चेदस्य प्रतीकारो न विद्यते ॥ १८ ॥
नागदत्तस्ततो रुष्टा वराकोयं करोति किम् ।
मंत्रतंत्रप्रवीणस्य ममेति वचनं जगौ ॥ १९ ॥

ततस्तेन नृपादर्थं कृत्वा तान्साक्षिणः पुनः।
विमुक्तः कालसर्पेश्च तेनासौ भक्षितः पुमान् ॥ २० ॥
तदा तद्विपमाहात्म्यान्नागदत्तो महीतले।
पपात निश्चलो भूत्वा मोहान्धो वा भवाम्बुधौ ॥ २१ ॥
राज्ञाप्याकारिताः सर्वे तदा ते मन्त्रवादिनः।
तैरुक्तं कालदष्टोयं भो स्वामिन्नैव जीवति ॥ २२ ॥
महाचिन्तातुरेणोच्चै-र्नागधर्ममहीभुजा।
अहो वादिन्यदि त्वं च करोष्येतं सचेतनः ॥ २३ ॥
अर्धराज्यं तदा तुभ्यं दीयतेत्र मया ध्रुवम्।
इत्युक्त्वा तेन तस्यैव स्वपुत्रोसौ समर्पितः ॥ २४ ॥
स वादी प्राह भो नाथ कालसर्पेण भक्षितः।
जीवत्यत्र यदा जैनीं दीक्षां गृह्णाति निर्मलाम् ॥ २५ ॥
भूत्वा सचेतनश्चेति ममादेशोस्ति भूपते।
एवमस्त्विति भूभर्त्ता संजगाद प्रमोदतः ॥ २६ ॥
तदा चोत्थापयामास मंत्रवादी नृपात्मजम्।
मिथ्यामार्गविपक्रान्तं प्राणिनां वा गुरुर्महान् ॥ २७ ॥
सावधानस्ततो भूत्वा नागदत्तो विचक्षणः।
श्रुत्वा नृपादितः सर्वां तां प्रतिज्ञां प्रसन्नधीः ॥ २८ ॥
मुनेर्यमधरस्योच्चैः पादमूले सुभक्तितः।
दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीं सुरेन्द्रैः परिपूजिताम् ॥ २९ ॥
प्रियधर्मचरो देवः प्रकटीभूय भक्तिभाक्।
नत्वा तं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा दिवं गतः ॥ ३० ॥
ततः परमवैराग्यान्नागदत्तो मुनीश्वरः।
विशुद्धचरणोपेतो जिनकल्पी बभूव च ॥ ३१ ॥

सुधीः श्रीमज्जिनेन्द्राणां नाना तीर्थेषु शर्मदाम् ।
यात्रां जिनेन्द्रसद्भक्तिं कुर्वाणः परया मुदा ॥ ३२ ॥
एकदासौ महाटव्या-मागच्छन्मुनिसत्तमः ।
सूरदत्ताश्रितैश्चौरै रुद्धमार्गो दुराशयैः ॥ ३३ ॥
अस्मानसौ मुनिर्गत्वा लोकानां कथयिष्यति ।
भीत्वेति धर्त्तुमारब्धो महालुण्टाकपण्डितैः ॥ ३४ ॥
सूरदत्तस्तत प्राह चोराणामग्रणीर्महान् ।
अहो परमचारित्रो वीतरागेयमद्भुतम् ॥ ३५ ॥
पश्यन्नपि प्रभुर्धीमान्नैव पश्यति किंचन ।
न किंचित्कथयिष्यत्येष केषांचिद्धीरमानसः ॥ ३६ ॥
अतोसौ मुच्यतां शीघ्रं मा भयं कुरुत ध्रुवम् ।
तदाकर्ण्य भटैस्तैश्च विमुक्तो मुनिनायकः ॥ ३७ ॥
अत्रान्तरे मुनेस्तस्य माता या नागदत्तिका ।
नागश्रियं निजां पुत्रीं समादाय विभूतिभिः ॥ ३८ ॥
वत्सदेशेत्र कोशाम्ब्यां जिनदत्तमहीपतेः ।
पुत्राय जिनदत्ताया जिनपालाय धीमते ॥ ३९ ॥
तां दातुं बहुभिः सार-सम्पदाभिः समन्विता ।
सा गच्छन्ती तदामार्गे सुजनैः परिमण्डिताः ॥ ४० ॥
सम्मुखं नागदत्तं तं मुनीन्द्रं वीक्ष्य भक्तितः ।
नत्वा प्राह मुने मार्गो विशुद्धोस्ति नवैति च ॥ ४१ ॥
मौनं कृत्वा मुनिः सोपि निर्गतो मोहवर्जितः ।
शत्रुमित्रसमानश्च महाचारित्रमण्डितः ॥ ४२ ॥
नागदत्ता तथा चोरैर्धृत्वा सर्वधनादिकम् ।
गृहीत्वा सूरदत्तस्य सपुत्री सा समर्पिता ॥ ४३ ॥

तदा तस्करनाथोऽसौ सूरदत्तो जगाद च ।
चोराणमग्रतः किं भो भवद्भिः सम्विलोकितम् ॥ ४४ ॥
औदासीन्यं मुनीन्द्रस्य निस्पृहस्यास्य सर्वथा ।
एतया वन्दितश्चापि पृष्टश्चापि सुभक्तितः ॥ ४५ ॥
एतेषां भाक्तिकानां च नास्मद्वार्त्ता जगौ मुनिः ।
धीरो वीरोऽतिगंभीरो जिनतत्वविदाम्वरः ॥ ४६ ॥
इत्याकर्ण्य ततः प्राह नागदत्ता प्रकोपतः ।
देहि भो सूरदत्त त्वं छुरिकामतिदारुणाम् ॥ ४७ ॥
कुक्षिं विदारयामीति यत्रायं नवमासकान् ।
निष्ठुरः स्थापितः कष्टैः कुपुत्रो मोहवर्जितः ॥ ४८ ॥
तच्छ्रुत्वा सूरदत्तोऽसौ महावैराग्यमाप्तवान् ।
या माता मुनिनाथस्य सा त्वं माता ममापि च ॥ ४९ ॥
इत्युक्त्वा तां प्रणम्योच्चैर्दत्वा सर्वधनं पुनः ।
संविसर्ज्य तथागत्य सूराणामग्रणीर्द्रुतम् ॥ ५० ॥
नागदत्तमुनेः पाद-पद्मद्वंतं प्रणम्य च ।
स्तुत्वा तं परया प्रीत्या मुनीन्द्रं गुणशालिनम् ॥ ५१ ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं तत्समीपे सुखप्रदाम् ।
क्रमात्सद्दर्शनज्ञान-चारित्रैर्जिनभाषितैः ॥ ५२ ॥
घातिकर्मक्षयं कृत्वा लोकालोकप्रकाशकम् ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य देवेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ॥ ५३ ॥
सम्बोध्य सकलान्भव्यान्स्वर्गमोक्षप्रदायकः ।
शेषकर्मक्षयं कृत्वा प्राप्तवान्मोक्षमक्षयम् ॥ ५४ ॥

सकलगुणसमुद्रः सर्वदेवेन्द्रवन्द्य-
स्त्रिभुवनजननेत्रोत्कृष्टनीलोत्पलेन्दुः ।

सृजतु मम शिवानि श्रीजिनः सूरदत्तो
भवतु च भवशान्त्यै नागदत्तो मुनीन्द्रः ॥ ५५ ॥

इति कथाकोशे नागदत्तमुनेः कथा समाप्ता ।

१८—कुसङ्गोद्भवदोषस्य कथा ।

श्रीसर्वज्ञं नमस्कृत्य सर्वसत्वहितप्रदम् ।
वक्ष्ये दुस्सङ्गदोषस्य कथां दुस्सङ्गहानये ॥ १ ॥
वत्सदेशेत्र विख्याते कोशाम्बीपत्तने शुभे ।
राजाभूद्धनपालाख्यो दुष्टानां मानमर्दकः ॥ २ ॥
चतुर्वेदपुराणादि-सर्वशास्त्रविचक्षणः ।
पुरोहितो भवत्तस्य शिवभूतिर्द्विजोत्तमः ॥ ३ ॥
तत्रैव कल्पपालश्च पूर्णचन्द्रो धनैर्युतः ।
मणिभद्रा प्रिया तस्य सुमित्राख्या सुता भवत् ॥ ४ ॥
कदाचित्पूर्णचन्द्रोसौ सुमित्राया विवाहके ।
भोजयित्वाखिलं लोकं युक्तितो वरभोजनैः ॥ ५ ॥
आमंत्रितश्च मित्रत्वाच्छिवभूतिः पुरोहितः ।
तेनोक्तं मित्र शूद्रान्न-मस्माकं नैव कल्पते ॥ ६ ॥
कल्पपालः पुनः प्राह पवित्रोद्यानके सुधीः ।
निष्पादितं महाविप्रैर्भोजनं क्रियतामिति ॥ ७ ॥
एवमस्त्विति तेनोक्तं ब्राह्मणेन तदाग्रहात् ।
तद्दानं हि प्रधानं स्याल्लोके यद्विनयान्वितम् ॥ ८ ॥
ततोसौ पूर्णचन्द्रश्च विप्रहस्तेन भोजनम् ।
उद्याने कारयामास रसैः षड्भि[illegible]न्वितम् ॥ ९ ॥

तत्रैकतो वने पूर्ण-चन्द्रं तं बन्धुभिर्युतम् ।
अन्यपार्श्वे द्विजं तं च पिबन्तं दुग्धशर्कराम् ॥ १० ॥
केश्चिल्लोकैः समालोक्य धनपालमहीपतेः ।
प्रोक्तं देव कृतं मद्य-पानं ते शिवभूतिना ॥ ११ ॥
इत्याकर्ण्य महीनाथस्तमाहूय द्विजोत्तमम् ।
पृष्टवांश्च द्विजः प्राह कृतं नैव मया प्रभो ॥ १२ ॥
परीक्षार्थं ततो राज्ञा शिवभूतिः पुरोहितः ।
कारितो वमनं विप्रो वेदवेदाङ्गपारगः ॥ १३ ॥
स्वभावतोतिदुर्गन्धे कृते तस्मिंश्च वान्तिके ।
महाकोपेन सन्तप्तो धनपालो धराधिपः ॥ १४ ॥
निर्भर्त्स्य निष्ठुरैर्वाक्यैः शिवभूतिं सुकष्टतः ।
देशान्निर्घाटयामास कुसङ्गः कष्टदो ध्रुवम् ॥ १५ ॥
अतो भव्यैः परित्यज्य कुसङ्गं सर्वनिन्दितम् ।
सङ्गतिः सुजनानां च कर्तव्या परमादरात् ॥ १६ ॥

श्रीमज्जैनपदाब्जयुग्मरसिकैर्भव्यालिभिः साधुभिः
कर्तव्या सह सङ्गतिः सुनितरां त्यक्त्वा कुसगं बुधैः ।
सम्मानं धनधान्यमुन्नतिपदं प्रीतिं सतां सर्वदा
या लोके च करोति सङ्गतिरसौ सा मे क्रियान्मङ्गलम् ॥ १७ ॥

इति कथाकोशे कुसङ्गोद्भवदोषस्य कथा समाप्ता ।

१६-पवित्रहृदयबालकस्य कथा ।

बालो विलोक्यते यादृक्तादृशं वदति ध्रुवम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि तत्कथां बुद्धये नृणाम् ॥ १ ॥

कौशाम्बीनगरे राजा जयपालो विचक्षणः ।
श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यो धनाढ्यो धर्मवत्सलः ॥ २ ॥
भार्या सागरदत्ताभूत्तयोः पुत्रो बभूव च ।
नाम्ना समुद्रदत्तोसौ रूपलावण्यमण्डितः ॥ ३ ॥
तत्रैव नगरे जातो गोपायनवणिक्कुधीः ।
सप्तव्यसनसंसक्तः पापतो धनवर्जितः ॥ ४ ॥
तस्य सोमाभवद्भार्या तयोः पुत्रश्च सोमकः ।
संजातो वत्सरैः कैश्चित्क्रमेण प्रौढबालकः ॥ ५ ॥
तौ द्वौ स्वलीलया बालौ बालक्रीडां परस्परम् ।
नित्यं समुद्रदत्ताख्य-सोमकौ कुरुतः स्म च ॥ ६ ॥
एकदा धनलोभेन पापी गोपायनो वणिक् ।
बालं समुद्रदत्ताख्यं सर्वाभरणभूषितम् ॥ ७ ॥
पश्यतः सोमकस्याग्रे मारयित्वा स्वगेहके ।
गृहीत्वाभरणान्याशु गर्त्तायां क्षिप्तवान्कुधीः ॥ ८ ॥
तदा सागरदत्ताद्यैस्तत्कुटुम्बैः सुदुःखितैः ।
कष्टतोपि न दृष्टोसौ पुण्यहीने यथा सुखम् ॥ ९ ॥
ततः पुत्रमपश्यन्ती सती सागरदत्तिका ।
क रे समुद्रदत्तोसौ सोमकं प्रति संजगौ ॥ १० ॥
सोमकः प्राह बालत्वाद्गर्त्तायां तव पुत्रकः ।
तिष्ठतीति, नवेत्त्येव बालकः किंचिदप्यहो ॥ ११ ॥
पापी पापं करोत्येवं प्रच्छन्नपि पापतः ।
तत्प्रसिद्धं भवत्येव कष्टकोटिप्रदायकम् ॥ १२ ॥
तत्र सागरदत्ता सा मृतं पुत्रं विलोक्य तम् ।
भर्तुः सागरदत्तस्य जगौ वार्तां सुदुःखदाम् ॥ १३ ॥

तेनोक्तं यमदण्डाख्य-कोट्टपालस्य तेन च ।
भूपतेस्तेन कोपेन चक्रे तन्निग्रहं भृशम् ॥ १४ ॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं त्यक्त्वा पापं सुखःखदम् ।
धर्मः श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तः सेवनीयः सुखप्रदः ॥ १५ ॥

बालो वेत्ति हिताहितं न विकलो लोकेत्र कामातुर-
स्तारुण्ये गतयौवने च नितरां प्राणी जरापीडितः ।
मध्यस्थोपि कुटुम्बदुर्भरतृषाक्रान्तः कदा स्वस्थता
दैवात्प्राप्य जिनेन्द्रशासनमसौ भव्योस्तु धर्माशयः १६

इति कथाकोशे पवित्रहृदयबालकस्य कथा समाप्ता ।

१७--धनदत्तराज्ञः कथा ।

नत्वा श्रीमज्जिनाधीशं सुराधीशैः समर्चितम् ।
धनदत्तमहीभर्तुः सत्कथां कथयाम्यहम् ॥ १ ॥
अन्ध्रदेशेत्र विख्याते धान्यादिकनकेपुरे ।
धनदत्ताभिधो राजा सद्दृष्टिर्धर्मवत्सलः ॥ २ ॥
संघश्रीवन्दकस्तस्य मंत्री मिथ्यामताश्रितः ।
एवं राज्यं करोति स्म धर्मकर्मपरो नृपः ॥ ३ ॥
एकदा धनदत्ताख्या-संघश्रीभ्यां स्वलीलया ।
ताभ्यां मंत्रप्रकुर्वद्भ्यां प्रासादस्योपरि क्षितौ ॥ ४ ॥
काले पराह्णके तत्र समालोक्य नभस्तले ।
मुनीन्द्रौ चारणौ चित्ते चमत्कारविधायिनौ ॥ ५ ॥
ससम्भ्रमं समुत्थाय कृत्वा तद्वन्दनां मुदा ।
स्वान्तिके तौ समानीतौ साधुसङ्गः सतां प्रियः ॥ ६ ॥

तदा तस्य महीभर्तुर्वचनेन विचक्षणौ ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्म-व्याख्यानं संविधाय तौ ॥ ७ ॥
संघश्रीवन्दकं कृत्वा श्रावकं परमादरात् ।
स्वस्थानं जग्मतुः पूतौ मुनीन्द्रौ गुणशालिनौ ॥ ८ ॥
बुद्धश्रीवन्दकं सोपि संघश्रीः स्वगुरुं सदा ।
त्रिसन्ध्यं वन्दितुं याति पुरा मिथ्यात्वमोहितः ॥ ९ ॥
तस्मिन्दिने गतो नैव वन्दनासमये ततः ।
बुद्धश्रिया समाहूय स नीतो निजपार्श्वकम् ॥ १० ॥
नमस्कारमकुर्वन्सन्पृष्टोसौ वन्दकेन च ।
न प्रणामं करोषीति कथं रे साम्प्रतं मम ॥ ११ ॥
मंत्रिणा मुनिवृत्तान्ते कथिते सुमनोहरे ।
वन्दकेन तदा प्रोक्तं पापिना पलभक्षिणा ॥ १२ ॥
हा हा त्वं वञ्चितोसीति सन्ति नैवात्र चारणाः ।
मुनयो गगने मूढ गम्यते किं निराश्रये ॥ १३ ॥
राजा ते कपटी लोके दर्शयामास साम्प्रतम् ।
इन्द्रजालं महाभ्रान्ति मा गास्त्वं बुद्धभाक्तिकः ॥ १४ ॥
एवं मिथ्यात्वमानीतो वारितो नितरामसौ ।
प्रभाते त्वं च मा गच्छ भूपतेः सदसि ध्रुवम् ॥ १५ ॥
गत्वापि तत्र मायादी मया दृष्टौ मुनी इति ।
संघश्रीस्तत्समाकर्ण्य श्रावकत्वमपाकरोत् ॥ १६ ॥
स्वयं ये पापिनो लोके परं कुर्वन्ति पापिनम् ।
यथा सन्तप्तमानोसौ दहत्यग्निर्न संशयः ॥ १७ ॥
धनदत्तो महीभर्त्ता सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः ।
प्रभाते स्वसभामध्ये महाधर्मानुरागतः ॥ १८ ॥

सामन्तादिमहाभव्य-लोकानामग्रतः सुधीः ।
चक्रे चारणयोगीन्द्र-समागमकथां शुभाम् ॥ १९ ॥
विश्वासहेतवे तत्र समाहूय च मंत्रिणम् ।
अहो मंत्रिन्नृपः प्राह कीदृशौ तौ मुनीश्वरौ ॥ २० ॥
तनोक्तं निन्दकेनेति वन्दकेन सुपापिना ।
नैव दृष्टं किमप्यत्र मया भो चारणादिकम् ॥ २१ ॥
तदा संघाश्रियस्तस्य महापापप्रभावतः ।
कष्टतः स्फुटिते नेत्रे तत्क्षणाद्दुष्टचेतसः ॥ २२ ॥
प्रभावो जिनधर्मस्य सूर्यस्येव जगत्त्रये ।
नैव संछाद्यते केन घूकप्रायेण पापिना ॥ २३ ॥
जैनधर्मं प्रशस्योच्चैः सर्वे ते भूमिपादयः ।
संजाताः श्रावकाचार—चञ्चवो भक्तिनिर्भराः ॥ २४ ॥

इत्थं श्रीजिनशासनेऽतिविमले देवेन्द्रचन्द्रार्चिते
ज्ञात्वा भव्यजनैः प्रभावमतुलं स्वर्गापवर्गप्रदे ।
त्यक्त्वा भ्रांतिमतीवशर्मनिलये कार्या मतिर्निर्मला
धर्मे श्रीजिनभाषितेत्र नितरां सर्वेष्टसंसाधिनी ॥ २५ ॥

इति कथाकोशे धनदत्तराज्ञः कथा समाप्ता ।

१८—ब्रह्मदत्तस्य कथा ।

प्रणम्य परया भक्त्या जिनेन्द्रं जगदर्चितम् ।
ब्रह्मदत्तकथां वक्ष्ये सतां सद्बोधहेतवे ॥ १ ॥
कांपिल्यनगरेत्रैव राजा ब्रह्मरथः सुधीः ।
राज्ञी रूपगुणोपेता रामिल्या प्राणवल्लभा ॥ २ ॥

तयोर्द्वादशचक्रेशो ब्रह्मदत्तोभवत्सुतः ।
षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं संसाध्य सुखतः स्थितः ॥ ३ ॥
एकदा सूपकारश्च तस्मै विजयसेनवाक् ।
भोजनावसरे तप्तं पायसं दत्तवांस्ततः ॥ ४ ॥
उष्णत्वात्तेन तद्भोक्तु-मसमर्थेन चक्रिणा ।
तेनैव पायसेनाशु क्रोधान्धेन कुबुद्धिना ॥ ५ ॥
मस्तके दाहयित्वा च सूपकारः स मारितः ।
धिक्कोपं प्राणिनां लोके कष्टकोटिविधायकम् ॥ ६ ॥
ततो विजयसेनोसौ सूपकारः सुदुःखितः ।
मृत्वा क्षारसमुद्रस्थे रत्नद्वीपे सुविस्तृते ॥ ७ ॥
भूत्वा व्यन्तरदेवश्च विभंगज्ञानचक्षुषा ।
ज्ञात्वा पूर्वभवं कष्टं महाकोपेन कम्पितः ॥ ८ ॥
परिव्राजकरूपेण पूर्ववैरेण संयुतः ।
कदल्यादिमहामिष्ट-फलान्यादाय वेगतः ॥ ९ ॥
तत्रागत्य ततस्तस्मै ब्रह्मदत्ताय दत्तवान् ।
स जिह्वालम्पटश्चक्री भक्षित्वा सुफलानि च ॥ १० ॥
सन्तुष्टः पृष्टवानित्थं परिव्राजक भो वद ।
ईदृशानि फलान्युच्चैः कुत्र सन्ति प्रियाणि च ॥ ११ ॥
तच्छ्रुत्वा सोपि संप्राह समुद्रे भो नरेश्वर ।
मदीयमठसान्निध्ये वाटिकायां बहून्यलम् ॥ १२ ॥
तदाकर्ण्य नृपस्तत्र गन्तुकामोभवत्तराम् ।
शुभाशुभं न जानाति हा कष्टं लम्पटः पुमान् ॥ १३ ॥
अन्तःपुरादिसंयुक्तं नीत्वा तं तेन सागरे ।
मारणार्थं समारब्धस्तथोच्चैरुपसर्गकः ॥ १४ ॥

तदा पञ्चनमस्कारं स्मरन्तं चक्रवर्तिनम् ॥
देवो मारयितुं तत्र न समर्थो बभूव च ॥ १५ ॥
ततोसौ प्रकटो भूत्वा देवो दुष्टाशयोवदत् ।
रे रे दुष्ट त्वया कष्टं मारितोहं पुरा किल ॥ १६ ॥
अतोहं मारयामि त्वां साम्प्रतं बहु दुःखतः ।
यदि त्वं नास्ति जैनेन्द्र-शासनं भुवनत्रये ॥ १७ ॥
भणित्वेति प्रशस्योच्चैः स्ववाक्यैः परदर्शनम् ।
लिखित्वा च जले पञ्च-नमस्कारपदानि च ॥ १८ ॥
विनाशयसि पादेन त्वां मुञ्चामि तदा ध्रुवम् ।
ब्रह्मदत्तस्ततो मिथ्या-दृष्टिश्चक्रे तदीरितम् ॥ १९ ॥
मारितः सिन्धुमध्येसौ व्यन्तरेण सुवैरिणा ।
सप्तमं नरकं प्राप्तो मिथ्यात्वं कष्टकोटिदम् ॥ २० ॥
यस्य चित्ते न विश्वासो धर्मे श्रीजिनभाषिते ।
तस्य किं कुशलं लोके महादुष्कर्मकारिणः ॥ २१ ॥
मिथ्यात्वेन समं किंचिन्निन्द्यं न भुवनत्रये ।
यतोसौ चक्रवर्त्ती च सप्तमं नरकं गतः ॥ २२ ॥
तस्मात्तद्दूरतस्त्यक्त्वा मिथ्यात्वं वान्तिवद् बुधाः ।
स्वर्मोक्षसाधने हेतुं सम्यक्त्वं भावयन्तु वै ॥ २३ ॥
देवोर्हन्भुवनत्रयेत्र नितरां दोषौघसङ्गोज्झितो
देवेन्द्रार्कनरेन्द्रखेचरशतैर्भक्त्या सदाभ्यर्चितः ।
तद्वाक्यं भवसागरप्रवहणप्रायं महाशर्मदं
नित्यं चेतसि भावितं च भवतां कुर्याद्वरं मङ्गलम् ॥२४॥

इति कथाकोशे ब्रह्मदत्तचक्रिणः कथा समाप्ता ।

१९-श्रीश्रेणिकनृपस्य कथा ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम् ।
वक्ष्ये श्रीश्रेणिकस्योच्चैः सत्कथां श्रेयसे नृणाम् ॥ १ ॥
देशेत्र मगधे ख्याते पुरे राजगृहे परे ।
राजा श्रीश्रेणिकस्तत्र राजविद्याविराजितः ॥ २ ॥
तद्राज्ञी चेलिनी नाम्नी सम्यग्दृष्टिर्विचक्षणा ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-पूजनैपकरायणा ॥ ३ ॥
एकदा श्रेणिकेनोक्तं शृणु त्वं देवि वच्म्यहम् ।
सर्वधर्मप्रधानोयं विष्णुधर्मोत्र वर्त्तते ॥ ४ ॥
अतस्त्वया रतिः कार्या तत्रैवाशु सुखप्रदे ।
तदाकर्ण्य प्रभोर्वाक्यं जैनतत्वेषु निश्चला ॥ ५ ॥
चेलना विनयोपेता-संजगाद प्रियं वचः ।
भो देव विष्णुभक्तानां भोजनं दीयते मया ॥ ६ ॥
अथैकदा समाहूय भोजनार्थं स्वमण्डपे ।
गौरवात्स्थापयामास सर्वान्भागवतान्सती ॥ ७ ॥
तत्र ते कपटोपेताः शठा ध्यानेन संस्थिताः ।
पृष्ठास्तया भवन्तोत्र किं कुर्वन्ति तपस्विनः ॥ ८ ॥
इत्याकर्ण्य जगुस्तेपि त्यक्त्वा देहं मलैर्भृतम् ।
जीवं विष्णुपदं नीत्वा तिष्ठामो देवि सौख्यतः ॥ ९ ॥
ततस्तया महादेव्या चेलिन्या सोपि मण्डपः ।
प्रज्वालितोग्निना नष्टाः कष्टास्ते वायसा यथा ॥ १० ॥
राज्ञा रुष्टेन सा प्रोक्ता भक्तिर्नास्ति यदि ध्रुवम् ।
किं ते मारयितुं चैतान्युक्तं कष्टात्तपस्विनः ॥ ११ ॥

तयोक्तं देव भो त्यक्त्वा कुत्सितं स्ववपुर्द्रुतम् ।
एते विष्णुपदं प्राप्ताः तारसौख्यसमन्वितम् ॥ १२ ॥
नित्यं तत्रैव तिष्ठन्ति किमत्रागमनेन च ।
इति ज्ञात्वोपकाराय मयेदं निर्मितं प्रभो ॥ १३ ॥
अस्त्येव मम वाक्यस्य निश्चयार्थं महीपते ।
तद्दृष्टान्तकथां वक्ष्ये श्रूयतां परमादरात् ॥ १४ ॥
"वत्सदेशे सुविख्याते कौशाम्बीपत्तने प्रभुः ।
प्रजापालो महाराज्यं करोति स्म स्वलीलया ॥ १५ ॥
श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यो वसुमत्या स्त्रिया युतः ।
तत्रैव च समुद्रादि दत्तः श्रेष्ठी परोभवत् ॥ १६ ॥
भार्या समुद्रदत्ताख्या श्रेष्ठिनोश्च तयोर्द्वयोः ।
महास्नेहवशादुच्चैर्वाचा वन्धोभवद्ध्रुवम् ॥ १७ ॥
आवयोः पुत्रपुत्र्यौ यौ संजायेते परस्परम् ।
तयोर्विवाहः कर्त्तव्यो यस्मात्प्रीतिर्भवेत्तदा ॥ १८ ॥
ततः सागरदत्तस्य वसुमत्यां सुतोभवत् ।
तिष्ठति स्म गृहे चेति वसुमित्रो महाद्भुतम् ॥ १९ ॥
तथा समुद्रदत्तस्य नागदत्ता सुताजनि ।
तस्यां समुद्रदत्तायां रूपलावण्यमण्डिता ॥ २० ॥
वसुमित्रेण तेनोच्चैः परिणीता क्रमेण सा ।
नैव वाचा चलत्वं च सतां कष्टशतैरपि ॥ २१ ॥
ततश्च वसुमित्रोसौ निशायां निजलीलया ।
धृत्वा पिटारके शीघ्रं नित्यं सर्पशरीरकम् ॥ २२ ॥
भूत्वा दिव्यनरो नागदत्तया सह तोष्यतः ।
भुंक्ते भोगान्मनोभीष्टान्विचित्रा संसृतेः स्थितिः ॥ २३ ॥

एकदा यौवनाक्रान्तां नागदत्तां विलोक्य च ।
जगौ समुद्रदत्ता सा पुत्री स्नेहेन दुःखिता ॥ २४ ॥
हा विधेश्चेष्टितं कष्टं कीदृशी मे सुतोत्तमा ।
वरश्च कीदृशो जातो भीतिकारी भुजङ्गमः ॥ २५ ॥
तच्छ्रुत्वा नागदत्तासौ भो मातर्माविसूरय ।
समुद्रीयेति वृत्तान्तं स्वभर्तुः संजगाद च ॥ २६ ॥
तदाकर्ण्य समुद्रादिदत्ता गत्वा सुतागृहम् ।
रात्रौ पिट्टारके मुक्त्वा सर्पदेहं सुनिन्दितम् ॥ २७ ॥
धृत्वा मनुष्यसद्रूपं वसुमित्रे च निर्गते ।
सा प्रच्छन्नं तदा भस्मी-चक्रे पिट्टारकं सती ॥ २८ ॥
दाहिते च तदा तस्मिन्वसुमित्रो गुणोज्वलः ।
भुञ्जानो विविधान्भोगान्सदासौ पुरुषः स्थितः ॥ २९ ॥
तथैते देव तिष्ठन्ति विष्णुलोके निरन्तरम् ।
एतदर्थं मयारब्धो देहदाहस्तपस्विनाम् ॥ ३० ॥"
तन्निशम्य महीनाथः श्रेणिकश्चेलनोदितम् ।
समर्थो नोत्तरं दातुं कोपान्मौनेन संस्थितः ॥ ३१ ॥
अथैकदा नृपाधीशो गतः पापर्द्धिहेतवे ।
तत्रातापनयोगस्थं यशोधरमहामुनिम् ॥ ३२ ॥
समालोक्य महाकोपान्ममेमं विघ्नकारिणम् ।
मारयामीति संचिन्त्य मुक्तवान्कुक्कुरान्वृथा ॥ ३३ ॥
गत्वा पञ्चशतान्युच्चैः कुक्कुरास्तेपि निष्ठुराः ।
यशोधरमुनेस्तस्य तपोमाहात्म्ययोगतः ॥ ३४ ॥
कृत्वा प्रदक्षिणां पाद-मूले तस्थुः सुभक्तितः ।
क्रोधान्धेन पुनस्तेन बाणा मुक्ताः सुदारुणाः ॥ ३५ ॥

तेपि बाणा बभूवुश्च पुष्पमालाः सुनिर्मलाः ।
प्रभावो मुनिनाथस्य महान्केनात्र वर्ण्यते ॥ ३६ ॥
तस्मिन्काले महीपालः सप्तमं नरकं प्रति ।
त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुर्बन्धं चक्रे सुकष्टदम् ॥ ३७ ॥
ततः प्रभावमालोक्य मुनेः पादाम्बुजद्वयम् ।
प्रणम्य परया भक्त्या त्यक्त्वा दुष्टाशयं नृपः ॥ ३८ ॥
पुण्येन पूर्णयोगोसौ यशोधरमहामुनिः ।
तत्त्वं जगाद जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः प्रपूजितम् ॥ ३९ ॥
तच्छ्रुत्वोपशमं सार-सम्यक्त्वं संगृहीतवान् ।
तदायुश्चतुराशीति-गुणवर्षसहस्रकम् ॥ ४० ॥
संचक्रे प्रथमे शीघ्रं नरके प्रस्तरादिमे ।
किं न स्याद्भव्यमुख्यानां शुभं सद्दर्शनागमे ॥ ४१ ॥
ततः पादान्तिके चित्र-गुप्तनाम महामुनेः ।
क्षयोपशमिकं प्राप्य सम्यक्त्वं भक्तिनिर्भरः ॥ ४२ ॥
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य पादमूले जगद्गुरोः ।
गृहीत्वा शुद्धसम्यक्त्वं क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥ ४३ ॥
स्वीचक्रे तीर्थकृन्नाम त्रैलोक्येशैः समर्चितम् ।
तस्माच्छ्रेणिको भूपस्तीर्थेशः संभविष्यति ॥ ४४ ॥

स जयति जिनदेवः केवलज्ञानदीपः
सकलसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः प्रपूज्यः ।
यदुदितवरवाक्यैर्भावितः स्वच्छचित्ते
भवति विमललक्ष्मीनायकोसौ मनुष्यः ॥ ४५ ॥

इति कथाकोशे श्रीश्रेणिकनृपस्य कथा समाप्ता ।

२०-पद्मरथस्य कथा ।

श्रीजिनं त्रिजगन्नाथैः समर्चितपदद्वयम् ।
नत्वा पद्मरथस्योच्चै-र्जिनभक्तिकथोच्यते ॥ १ ॥
देशेत्र मागधे रम्ये मिथिलायां महापुरि ।
राजा पद्मरथो जातो विख्यातो मुग्धमानसः ॥ २ ॥
एकदासौ महाटव्यां पापर्द्धयै भूपतिर्गतः ।
दृष्ट्वैकं शशकं पृष्टे तस्याश्वं वाहयद्द्रुतम् ॥ ३ ॥
भूत्वैकाकी वने काल-गुहां प्राप्तः स्वपुण्यतः ।
तत्र दीप्ततपोयोगा-द्विस्फुरत्कान्तिमद्भुतम् ॥ ४ ॥
सुधर्ममुनिमालोक्य रत्नत्रयविराजितम् ।
शान्तो बभूव सन्तप्तो लोहपिण्डो यथाम्भसा ॥ ५ ॥
तुरंगादवतीर्याशु तं प्रणम्य महामुदा ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ॥ ६ ॥
सम्यक्त्वाणुव्रतान्युच्चैः समादाय सुभक्तितः ।
सन्तुष्टः पृष्टवानित्थं सुधीः पद्मरथो नृपः ॥ ७ ॥
भो मुने भुवनाधार-जैनधर्माम्बुधौ विधो ।
वक्तृत्वादिगुणोपेत-स्त्वादृशः पुरुषोत्तमः ॥ ८ ॥
किं कोपि वर्तते क्वापि परो वा नेति धीधन ।
सन्देहो मानसे मेस्ति ब्रूहि त्वं करुणापर ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह सुधर्मो जैनतत्ववित् ।
शृणु त्वं भो महीनाथ चम्पायां विबुधार्चितः ॥ १० ॥
तीर्थकृद्वासुपूज्योस्ति द्वादशो भवशर्मदः ।
स कोटिभास्करोत्कृष्ट-कान्तिसन्दोहसाधिकः ॥ ११ ॥

तस्य श्रीवासुपूज्यस्य ज्ञानदीप्तिगुणोदये ।
अन्तरं मे तरां चास्ति मेरुसर्षपयोरिव ॥ १२ ॥
तदाकर्ण्य मुनेर्वाक्यं धर्मप्रीतिविधायकम् ।
तत्पादवन्दनाभक्त्यै संजातः सोत्सवो नृपः ॥ १३ ॥
यावच्चचाल सद्भूत्या प्रभाते प्रीतिनिर्भरः ।
यावद्धन्वन्तरिर्नाम्ना सुधीर्विश्वानुलोमवाक् ॥ १४ ॥
तौ सखायौ सुरौ भूत्वा समागत्य महीतले ।
तस्य भक्तेः परीक्षार्थं मार्गे सङ्गच्छतो मुदा ॥ १५ ॥
दर्शयामासतुः कष्टं कालसर्पं तिरोगतम् ।
मायया छत्रभंगं च पुरो दाहादिकं पुनः ॥ १६ ॥
वातोद्भूतमहाधूली-पाषाणपतनादिकम् ।
अकालेपि महावृष्टिं निमग्नं कर्दमे द्विपम् ॥ १७ ॥
मन्त्र्यादिभिस्तदा वार्य-माणोपि बहुधा नृपः ।
अमङ्गलशते जाते गम्यते नैव भूपते ॥ १८ ॥
नमः श्रीवासुपूज्याय भणित्वेति प्रसन्नधीः ।
कर्दमे प्रेरयामास भक्तिमान्निजकुंजरम् ॥ १९ ॥
तथाभूतं तमालोक्य जिन भक्तिभरान्वितम् ।
स्वमायामुपसंहृत्य संप्रशस्य सुरोत्तमौ ॥ २० ॥
सर्वरोगापहं हारं भेरीं योजननादिनीम् ।
धर्मानुरागतस्तस्मै दत्वा स्वस्थानकं गतौ ॥ २१ ॥
यस्य चित्ते जिनेन्द्राणां भक्तिः सन्तिष्ठते सदा ।
सिध्यन्ति सर्वकार्याणि तस्य नैवात्र संशयः ॥ २२
ततो पद्मरथो राजा प्रहृष्टहृदयाम्बुजः ।
गत्वा चम्पापुरीं तत्र दृष्ट्वा त्रैलोक्यमङ्गलम् ॥ २३ ॥

समवादिसृतौ संस्थं प्रातिहार्यादिभूषितम् ।
सुरासुरनराधीश-समर्चितपदद्वयम् ॥ २४ ॥
केवलज्ञाननिर्णीत-विश्वतत्त्वोपदेशकम् ।
अनन्तभवसम्बद्ध-महामिथ्यात्वनाशकम् ॥ २५ ॥
वासुपूज्यजिनाधीशं समभ्यर्च्य सुभक्तितः ।
स्तुत्वा स्तोत्रैस्तथा नत्वा श्रुत्वा तत्वं जिनोदितम् ॥ २६ ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं पादमूले जिनेशिनः ।
संजातो गणभृच्चारु-चतुर्ज्ञानविराजितः ॥ २७ ॥
अतो भव्यैः सदा कार्या जिनभक्तिः सुशर्मदा ।
त्यक्त्वा मिथ्यामतं शीघ्रं स्वर्गमोक्षसुखाप्तये ॥ २८ ॥
यथा पद्मरथो राजा जिनभक्तिपरोभवत् ।
अन्यैश्चापि महाभव्यै-र्भवितव्यं तथा श्रिये ॥ २९ ॥
यद्भक्तिर्भुवनत्रयेत्र नितरां निर्वाणसंसाधिनी
सामान्येन सुरेन्द्रखेचरनराधीशादिशर्मप्रदा ।
स श्रीमान्मुनिपुंगवः शुचितरः सत्केवलोद्योतको
दद्यात्सारसुखं समस्तजगतो पूज्यः सतां सेवितः ॥ ३० ॥

इति कथाकोशे जिनभक्तपद्मरथस्य कथा समाप्ता ।

२१–पञ्चनमस्कारमंत्रप्रभावकथा ।

नत्वा पंच गुरून्भक्त्या पञ्चमीगतिसिद्धये ।
कथा पञ्चनमस्कार-फलस्योच्चैर्निगद्यते ॥ १ ॥
अंगदेशे सुविख्याते चम्पायां चारुलोचनः ।
प्रतापनिर्जिताराति-र्जातो राजा नृवाहनः ॥ २ ॥

श्रेष्टि वृषभदासाख्यो-र्हद्दासी मानसप्रियः।
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-सेवनैकलसत्क्रियः॥ ३ ॥
श्रेष्टिनस्तस्य गोपालः कदाचित्पुण्ययोगतः।
स्वेच्छया गृहमागच्छन्नरण्ये भुवनोत्तमम्॥ ४ ॥
दृष्ट्वा चारणयोगीन्द्रं यथा स्तिमितमद्भुतम्।
अभ्रावकाशिनं शीत-काले तीव्रे शिलास्थितम्॥ ५ ॥
अहो कथं मुनीन्द्रोसौ वस्त्रादिपरिवर्जितः।
शिलापीठे स्थितो रात्रिं कष्टतो गमयिष्यति॥ ६ ॥
संचिन्त्येति गृहं गत्वा मुनिं स्मृत्वा सुमानसे।
तथा पश्चिमरात्रौ च गृहीत्वा महिषीः पुनः॥ ७ ॥
तत्रागत्य समालोक्य तं मुनिं ध्यानसंस्थितम्।
तच्छरीरे महाशीतं तुषारं पतितं द्रुतम्॥ ८ ॥
स्फेटयित्वा स्वहस्तेन मुनेः पादादिमर्दनम्।
कृत्वा स्वास्थ्यं निधायोच्चैः पुण्यभागी बभूव च॥ ९ ॥
प्रभातेसौ महाध्यान-मुपसंहृत्य धीधनः।
अयमासन्नभव्योस्ति मत्वेति मुनिनायकः॥ १० ॥
"णमो अरिहंताणं"
इति दत्वा महामंत्रं तस्मै स्वर्मोक्षदायकम्।
तमेवाशु समुच्चार्य नभोभागे स्वयं गतः॥ ११ ॥
गोपालस्य तदा तस्य तन्मंत्रस्योपरि स्थिरा।
संजाता महती श्रद्धा सैव लोके सुखप्रदा॥ १२ ॥
ततोसौ सर्वकार्येषु गोपालः परमादरात्।
पूर्वमेव महामंत्रं तमुच्चरति सुस्फुटम्॥ १३ ॥
एकदा श्रेष्टिना तेन पठन्मंत्रं स गोपकः।
किं रे करोषि चापल्यं वारितश्चेति धीमता॥ १४ ॥

तेनोक्ते पूर्ववृत्तान्ते श्रेष्ठी सन्तुष्टमानसः ।
संजगाद त्वमेवात्र धन्यो गोप महीतले ॥ १५ ॥
येन दृष्टौ मुनीन्द्रस्य पादौ त्रैलोक्यपूजितौ ।
भवन्ति भुवने सन्तः सत्यं धर्मानुरागिणः ॥ १६ ॥
अथैकदा महिष्योस्य वह्निक्षेत्रं प्रभक्षितुम् ।
गंगानदीं समुत्तीर्य निर्गता निजलीलया ॥ १७ ॥
ता निवर्तयितुं सोपि महिषीर्गोपकस्तदा ।
तं सुमंत्रं समुच्चार्य नद्यां झंपां प्रदत्तवान् ॥ १८ ॥
तत्रादृश्योरुकाष्ठेन विद्धोसौ जठरे तदा ।
प्रच्छन्नदुर्जनेनेव तीक्ष्णेन प्राणहारिणा ॥ १९ ॥
मृत्वा निदानतस्तस्य श्रेष्ठिनस्तनयोभवत् ।
अर्हद्दास्याः शुभे गर्भे पुण्यान्नाम्ना सुदर्शनः ॥ २० ॥
रूपलावण्यसौभाग्य-धनधान्यसमन्वितः ।
संजातः कृतपुण्यानां किमप्यत्र न दुर्लभम् ॥ २१ ॥
ततः सागरदत्तस्य पुत्रीं नाम्ना मनोरमाम् ।
जातां सागरसेनायां युक्त्यासौ परणीतवान् ॥ २२ ॥
एकदासौ महाश्रेष्ठी सुधीर्वृषभदत्तवाक् ।
त्रिधा वैराग्यमासाद्य धृत्वा तं स्वपदे सुतम् ॥ २३ ॥
मुनेः समाधिगुप्तस्य पादमूले सुभक्तितः ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ २४ ॥
तदा सुदर्शनो धीमान्प्राप्य श्रेष्ठीपदं महत् ।
राजादिपूजितो जातः सुप्रसिद्धो बभूव च ॥ २५ ॥
नित्यं श्रीमज्जिनेन्द्रोक्त-श्रावकाचारतत्परः ।
दानपूजाव्रतशीलादि-धर्मकर्मपरोऽभवत् ॥ २६ ॥

कदाचिद्भूभुजा सार्द्धं वनक्रीडनहेतवे ।
गतोसौ निजसंभूत्या श्रेष्ठी सर्वगुणान्वितः ॥ २७ ॥
तं दृष्ट्वा श्रेष्ठिनं तत्र निधानं रूप सम्पदः ।
तद्राज्ञी विह्वलीभूया-ऽभयाख्या प्राह धात्रिकाम् ॥ २८ ॥
कोयं भो धात्रिके धीमान्नरकोटिशिरोमणिः ।
तयोक्तं देवि विख्यातो राजश्रेष्ठी सुदर्शनः ॥ २९ ॥
तच्छ्रुत्वा सावदद्राज्ञी यद्यमुं पुरुषोत्तमम् ।
त्वं ददासि समानीय तदाजीवाम्यहं ध्रुवम् ॥ ३० ॥
धात्री जगाद भो देवि करिष्यामि तवेप्सितम् ।
अवश्यं दुष्टनारीभिर्निन्दितं क्रियते न किम् ॥ ३१ ॥
स श्रीसुदर्शनः श्रेष्ठी विशिष्टश्रावकव्रती ।
अष्टम्याश्चचतुर्दश्यां रात्रौ भीमे श्मशानके ॥ ३२ ॥
स्थित्वा वैराग्यभावेन योगं गृह्णाति शुद्धधीः ।
तन्मत्वा धात्रिका सापि पापकर्मविचक्षणा ॥ ३३ ॥
कुंभकारगृहं गत्वा मृत्तिकापुत्तलं तदा ।
नरप्रमाणकं शीघ्रं कारयित्वा सुवाससा ॥ ३४ ॥
वेष्टयित्वा समादाय राज्ञीपार्श्वे चचाल सा ।
किमेतद्धात्रिके ब्रूहि धृतेति द्वारपालकैः ॥ ३५ ॥
कौटिल्येन तया तत्र क्षिप्त्वा पुत्तलकं क्षितौ ।
भग्नमालोक्य कोपेन प्रोक्तं धात्र्या सुधूर्तया ॥ ३६ ॥
रे रे दुष्टाः सुपापिष्ठा भवद्भिर्निन्दितं कृतम् ।
राज्ञ्या नरव्रतं चास्ति पूजयित्वा सुपुत्तलम् ॥ ३७ ॥
पश्चात्तया च कर्तव्यं भोजनं नान्यथा ध्रुवम् ।
अतः प्रभाते मार्यन्ते भवन्तोऽन्यायकारिणः ॥ ३८ ॥

तदा भीत्वा जगुस्तेपि भो मातस्त्वं क्षमां कुरु ।
कदाचित्कोपि नैव त्वां वारयत्यत्र सर्वथा ॥ ३९ ॥
एवं सर्वान्वशीकृत्य धात्री तान्द्वारपालकान् ।
आगम्याथ तथा रात्रौ गत्वा घोरं श्मशानके ॥ ४० ॥
कायोत्सर्गस्थितं दृष्ट्वा श्रेष्ठिनं तं सुदर्शनम् ।
राज्ञ्याः समर्पयामास तत्रानीय प्रयत्नतः ॥ ४१ ॥
आलिङ्गनादिविज्ञानैः सा राज्ञी कामपीडिता ।
नानोपसर्गकं चक्रेऽभयाख्या तस्य धीमतः ॥ ४२ ॥
सः श्रेष्ठी मेरुवद्धीरो गंभीरो जलधेस्तराम् ।
श्रीमज्जैनेन्द्रपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रतः ॥ ४३ ॥
एतस्मादुपसर्गान्मे यदि शान्तिर्भविष्यति ।
पाणिपात्रे तदाहारं करिष्यामि मुनिश्चयात् ॥ ४४ ॥
इति प्रतिज्ञामादाय संस्थितः काष्ठवत्तराम् ।
सन्तः कष्टशतैश्चापि चारित्रान्न चलन्त्यहम् ॥ ४५ ॥
असमर्था तदा भूत्वा राज्ञी तच्छीलखण्डने ।
संविदार्य नखैर्देहं स्वकीयं दुष्टमानसा ॥ ४६ ॥
इदं मे श्रेष्ठिना चक्रे सा चकारेति पूत्कृतिम् ।
किं न कुर्वन्ति पापिन्यो निन्द्यं दुष्टस्त्रियो भुवि ॥ ४७ ॥
तदाकर्ण्य महीनाथो महाकोपेन कम्पितः ।
नीत्वा श्मशानके श्रेष्ठि मार्यतामिति चोक्तवान् ॥ ४८ ।
ततो राजभटैः सोपि समानीतः श्मशानके ।
तत्रैकेन गले तस्य खड्गो मुक्तो दुरात्मना ॥ ४९ ॥
तदा तच्छीलमाहात्म्यात्स खड्गः सम्पतन्नपि ।
पुष्पमालाभवत्कण्ठे सुगन्धीकृतदिङ्मुखा ॥ ५० ॥

जय त्वं त्रिजगत्पूज्य-जिनपादाब्जषट्पद ।
विशिष्टश्रीरहो श्रेष्ठिन् श्रावकाचारकोविद ॥ ५१ ॥
इत्यादिभिः शुभैर्वाक्यैः पुण्यवृष्ट्यादिभिस्तराम् ।
देवास्तं पूजयन्ति स्म लसद्धर्मानुरागतः ॥ ५२ ॥
अहो पुण्यवतां पुंसां कष्टं चापि सुखायते ।
तस्माद्भव्यैः प्रयत्नेन कार्यं पुण्यं जिनोदितम् ॥ ५३ ॥
पुण्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां भक्त्या ह्यभ्यर्चनं सदा ।
पात्रदानं तथा शीलं सोपवासादिकं मतम् ॥ ५४ ॥
श्रुत्वा तद्वृत्तमाहात्म्यं श्रेष्ठिनो भुवनोत्तमम् ।
राज्ञा लोकैः समागत्य सत्क्षमां कारितः सुधीः ॥ ५५ ॥
ततः सुदर्शनः श्रेष्ठी संसारादेर्विरक्तवान् ।
दत्वा श्रेष्ठिपदं शीघ्रं सुकान्ताख्यसुताय च ॥ ५६ ॥
नत्वा मुनिं जगत्पूतं भक्त्या विमलवाहनम् ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनिर्भूत्वातिनिर्मलः ॥ ५७ ॥
दर्शनज्ञानचारित्र-तपोत्यागैः सुशर्मदम् ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य देवेन्द्राद्यैः समर्चितः ॥ ५८ ॥
भव्यान्सम्बोध्य पूतात्मा स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
निराबाधसुखोपेतां मुक्तिं संप्राप्तवान्सुधीः ॥ ५९ ॥
इत्थं ज्ञात्वा महाभव्यैः कर्तव्यः परया मुदा ।
सारपञ्चनमस्कार-विश्वासः शर्मदः सताम् ॥ ६० ॥

स जयति जिनचन्द्रः केवलज्ञानकान्ति–
र्मुदितसकलभव्योत्कृष्टनेत्रोत्पलौघः ।
असुरसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः सुभक्त्या
श्रुतजलधिमुनीन्द्रैः सेवितः शर्मदाता ॥ ६१ ॥

इति कथाकोशे पंचनमस्कारप्रभावकथा समाप्ता ।

२२—श्रीयमसुनेः कथा ।

श्रीजिनं भारतीं साधुं प्रणम्य परया मुदा ।
खण्डश्लोकैः कथा जाता कथ्यते सा सुखप्रदा ॥ १ ॥
उड्रदेशेत्र विख्याते धर्माख्यनगरे वरे ।
जातो राजा यमो धीमान्सर्वशास्त्रविचक्षणः ॥ २ ॥
तद्राज्ञी धनवत्याख्या गर्दभाख्यः सुतस्तयोः ।
सुताभूत्कोणिका नाम्ना रूपलावण्यमण्डिता ॥ ३ ॥
तस्यैव यमभूपस्य पुत्राः पञ्चशतानि च ।
अन्यराज्ञीषु संजाता जैनधर्मधुरन्धराः ॥ ४ ॥
दीर्घनामाभवन्मंत्री मंत्रकर्मपरायणः ।
एवं राज्यं प्रकुर्वाणः स राजा सुखतः स्थितः ॥ ५ ॥
नैमित्तिकेन सम्प्रोक्तमेकदा तस्य भूपतेः ।
यः कोणिकापतिर्भावी स भावी सर्वभूमिपः ॥ ६ ॥
तच्छ्रुत्वा स यमो राजा तां पुत्रीं भूरियत्नतः ।
प्रच्छन्नं पालयामास सुधीर्भूमिगृहे सदा ॥ ७ ॥
एकदा नगरे तत्र मुनिपञ्चशतैर्युतः ।
महामुनिः समायातः सुधर्माख्यो जगद्धितः ॥ ८ ॥
वन्दनार्थं तदा सर्वे पूजाद्रव्येण संयुताः ।
प्रचेलुः परया भक्त्या पौराः सन्तुष्टमानसाः ॥ ९ ॥
तान् गच्छतो जनान् वीक्ष्य स भूपो ज्ञानगर्वतः ।
कुर्वन्निन्दां मुनीन्द्राणां तत्रैव गतवांस्तदा ॥ १० ॥
निन्दया ज्ञानगर्वाच्च तत्कालं तस्य भूपतेः ।
सर्वबोधक्षयो जातो लक्ष्मीर्वा पापकर्मणा ॥ ११ ॥

ततोऽथवा महाकष्टं गर्वं दुःखशतप्रदम् ।
ज्ञानविज्ञानमिच्छन्तो न कुर्युर्भव्यदेहिनः ॥ १२ ॥
निर्मदोसौ ततो भूत्वा गजो वा दन्तवर्जितः ।
नत्वा मुनीन्महाभक्त्या संस्थितस्तत्र भूपतिः ॥ १३ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं द्विधा शर्मप्रदायकम् ।
त्रिधा वैराग्यसम्पन्नो यमो भूत्वा स्वमानसे ॥ १४ ॥
गर्दभाख्यस्वपुत्राय राज्यं दत्वा सुनिश्चलः ।
युक्तैः पञ्चशतैः पुत्रैर्मुनिर्भक्त्या बभूव सः ॥ १५ ॥
तत्पुत्रास्ते तदा सर्वे जाताः सर्वश्रुतैर्युताः ।
मुनेः पञ्चनमस्कार-मात्रं नायाति तस्य तु ॥ १६ ॥
ततो लज्जापरो भूत्वा गुरुं पृष्ट्वा सुभक्तितः ।
यमो मुनिर्जिनेन्द्राणां तीर्थयात्रासु निर्गतः ॥१७ ॥
तत्रैकाकी मुनिः सोपि कुर्वन्यात्रां सुखप्रदाम् ।
एकदा च महामार्गे गच्छन्स्वेच्छाशयो मुदा ॥ १८ ॥
दृष्ट्वा रथं नरोपेतं नीयमानं च गर्दभैः ।
भक्षणार्थं यवक्षेत्रं हरितं प्रति लोलुपैः ॥ १९ ॥
रथोपरिस्थितेनोच्चैर्ध्रियमाणं च कष्टतः ।
खण्डश्लोकं तदा चक्रे किंचिद्बुद्धेः प्रसादतः ॥ २० ॥

"कड्डसि पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पेच्छसि खादितुं ।"

तथैकदा सुधीर्मार्गे बालक्रीडां प्रकुर्वताम् ।
लीलया लोकपुत्राणां बिलेऽगारकाष्ठकोणिका ॥ २१ ॥
तां कोणिकामपश्यन्तो जातास्ते व्यग्रमानसाः ।
तान् विलोक्य मुनिः सोपि खण्डं श्लोकं चकार सः ॥ २२ ॥

"अण्णत्थ किं पलोवह तुम्हे पत्थणिवुद्धि
या छिद्दे अत्थई कोणिआ।"

एकदा पद्मिनीपत्र-छन्नदुःसर्पसम्मुखम्।
भीत्या गच्छन्तमालोक्य मण्डूकं च यमोवदत् ॥ २३ ॥

"अह्मादो णत्थि भयं दीहादो दीसदे भयं तुम्हे।"

एतैः खण्डैस्त्रिभिः श्लोकैः स मुनिर्नित्यमेव च।
स्वाध्यायं श्रीजिनेन्द्राणां वन्दनादिकमद्भुतम् ॥ २४ ॥
कुर्वंस्तीर्थेषु शुद्धात्मा महाधर्मानुरागतः।
गत्वा धर्मपुरोद्याने कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥ २५ ॥
तमायातं समाकर्ण्य गर्दभो दीर्घकश्च तौ।
राज्यं गृहीतुमायातो यमोयमिति भीवशौ ॥ २६ ॥
अर्धरात्रौ मुनेस्तस्य मारणार्थं दुराशयौ।
तत्रागत्य वने शस्त्रो-पेतौ तत्पृष्ठतः स्थितौ ॥ २७ ॥
धिक्राज्यं धिङ्मूर्खत्वं कातरत्वं च धिक्तराम्।
निस्पृहाच्च मुनेर्येन शङ्का राज्येभवत्तयोः ॥ २८ ॥
तदा गर्दभदीर्घौ च मुनेर्हत्याभयं गतौ।
खड्गस्याकर्षणं कष्टं चक्रतुस्तु पुनः पुनः ॥ २९ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे तेन स्वाध्यायं गृह्णता मुदा।
श्लोकार्धं पठितं पूर्वं यमेन मुनिनेति च ॥ ३० ॥

"कड्ढसि पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पेच्छसि खादिदुं"

तच्छ्रुत्वा गर्दभेनोक्तं मंत्रिणं प्रति भो सुधीः।
आवां द्वौ लक्षितौ दुष्टौ मुनीन्द्रेण महाधिया ॥ ३१ ॥
पठिते द्वितीयार्धे च गर्दभो हि पुनर्जगौ।
अहो दीर्घ मुनीन्द्रोसौ राज्यार्थं नागतो ध्रुवम् ॥ ३२ ॥

कोणिका भगिनी मे च या स्थिता भूमिलद्गृहे ।
महास्नेहेन तां वक्तुं समायातो विचक्षणः ॥ ३३ ॥
तृतीयार्द्धं मुनिः प्राह तच्छ्रुत्वा गर्दभेन वै ।
स्वचित्ते चिन्तितं चेति दुष्टोयं दीर्घकः कुधीः ॥ ३४ ॥
मां हंतुमिच्छति क्रूरस्तद्धृतं स्नेहतो मम ।
बुद्धिं दातुं समायातः पिता मे मुनिसत्तमः ॥ ३५ ॥
ततस्तौ परया भक्त्या त्यक्त्वा दुष्टाशयं द्रुतम् ।
तं प्रणम्य मुनिं पूतं शुद्धचारित्रमण्डितम् ॥ ३६ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं स्वर्गमोक्षप्रदायकम् ।
तुष्टौ गर्दभदीर्घौ च संजातौ श्रावकोत्तमौ ॥ ३७ ॥
ततो यमो मुनीन्द्रोसौ महावैराग्यमण्डितः ।
जिनोक्तैः शुद्धचारित्रैर्जातः सप्तर्द्धिसंयुतः ॥ ३८ ॥
यतोसौ ज्ञानलेशेन संजातो गुणभाजनम् ।
यतो भव्यैः सदाराध्यं जैनं ज्ञानं जगद्धितम् ॥ ३९ ॥

स्तोकं ज्ञानमपि प्रसिद्धमहिमा भक्त्या समाराध्य च
जातोसौ मुनिसत्तमो गुणनिधिः सप्तर्द्धियुक्तो महान् ।
ज्ञात्वेत्थं त्रिजगत्प्रपूज्यजिनपैः प्रोक्तं सुशर्मप्रदं
ज्ञानं निर्वृतिसाधनं शुचितरं सन्तः श्रयन्तु श्रिये ॥४०॥

इति कथाकोशे यमसुनेः कथा समाप्ता ।

२३-श्रीदृढसूर्यस्य कथा ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं लोकालोकप्रकाशकम् ।
वक्ष्येहं दृढसूर्यस्य वृत्तं विश्वासदायकम् ॥ १ ॥

उज्जयिन्यां महाराजो नगर्यां धनपालवाक् ।
तद्राज्ञी धनवत्याख्या सैकदा निजलीलया ॥ २ ॥
वसन्ततौ वनं प्राप्ता क्रीडार्थं सुजनैर्वृता ।
तत्र तस्या गले हारं धनवत्या मनोहरम् ॥ ३ ॥
दृष्ट्वा वसन्तसेनाख्या गणिका धनलम्पटा ।
किं हारेण विनानेन जीवितं निष्फलं मम ॥ ४ ॥
सञ्चिन्त्येति गृहं गत्वा संस्थिता दुःखमानसा ।
तदा रात्रौ समागत्य चोरोसौ दृढसूर्यकः ॥ ५ ॥
तां जगाद तदासक्तः किं प्रिये दुःखतः स्थिता ।
तयोक्तं चेत्समानीय राज्ञीहारं ददासि मे ॥ ६ ॥
तदा जीवाम्यहं धीर नान्यथा त्वं च मे प्रियः ।
तच्छ्रुत्वा दृढसूर्योसौ तां समुद्धीर्य वल्लभाम् ॥ ७ ॥
राजगेहं प्रविश्योच्चैर्गृहीत्वा हारमुत्तमम् ।
निशायां निर्गतः शीघ्रं किं न कुर्वन्ति लम्पटाः ॥ ८ ॥
हारोद्योतेन चोरोसौ यमपाशेन संधृतः ।
कष्टतः कोट्टपालेन शूले प्रोतो नृपाज्ञया ॥ ९ ॥
प्रभाते धनदत्ताख्यं संगच्छन्तं जिनालये ।
दृष्ट्वा कण्ठगतः प्राणस्तस्करः श्रेष्ठिनं जगौ ॥ १० ॥
त्वं दयालुर्महाधीर जिनपादाब्जषट्पद ।
महातृषातुरस्योच्चैस्तोयं देहि मम द्रुतम् ॥ ११ ॥
श्रेष्ठी तस्योपकारार्थं संजगादेति शुद्धधीः ।
वर्षैर्द्वादशभिर्दत्ता विद्या मे गुरुणा मुदा ॥ १२ ॥
जलार्थं गच्छतः सा मे विस्मृतिं याति साम्प्रतम् ।
तां धृत्वा यत्नतो विद्या-मागताय ददासि चेत् ॥ १३ ॥

तदा तोयं समानीय मया तुभ्यं प्रदीयते ।
एवं करोमि तेनोक्ते स श्रेष्ठी धर्मतत्ववित् ॥ १४ ॥
तस्मै पञ्चनमस्कारं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
कथयित्वा गतो धीमान्सर्वेषां हितकारकः ॥ १५ ॥
स चोरो दृढसूर्यश्च श्रेष्ठिवाक्येषु निश्चलः ।
तं मंत्रं त्रिगजत्पूतं स्मरन्नुच्चारयन्नपि ॥ १६ ॥
मृत्वा सौधर्मकल्पेभू-द्देवो नानर्द्धिमण्डितः ।
अहो पञ्चनमस्कारैर्न्नीयते किं न देहिनाम् ॥ १७ ॥
तदा केनापि सम्प्रोक्तं दुर्जनेन महीपतेः ।
भो देव धनदत्ताख्यः श्रेष्ठी तेन्यायकारकः ॥ १८ ॥
गत्वा चोरसमीपं च मंत्रं तेन समं व्यधात् ।
अतोस्य मन्दिरे तस्य धनं तिष्ठति निश्चितम् ॥ १९ ॥
धिग्दुर्जनं दुराचारं वृथा प्राणप्रहारिणम् ।
सर्वलोकहितानां च सतां यो वक्ति दुर्वचः ॥ २० ॥
तच्छ्रुत्वा धनपालाख्यः स भूपः कोपकम्पितः ।
बन्धनार्थं गृहे तस्य प्रेषयामास किङ्करान् ॥ २१ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे सोपि देवो ज्ञात्वावधीक्षणात् ।
श्रेष्ठिनो गृहरक्षार्थं शीघ्रमागत्य भक्तितः ॥ २२ ॥
द्वारपालः स्वयं भूत्वा संस्थितो यष्टिमंडितः ।
तद्गृहं विशतः क्रूरान्वारयामास किंकरान् ॥ २३ ॥
कुर्वन्तश्च हठं तत्र भटास्ते दुष्टमानसाः ।
मायया मारिताः सर्वे तदानेन स्वशक्तितः ॥ २४ ॥
तत्समाकर्ण्य भूपेन प्रेषिताः बहवो भटाः ।
तेन तेपि तथा सर्वे मारिताः क्षणतस्तराम् ॥ २५ ॥

तदा रुष्टो महीनाथस्तत्रायातो बलान्वितः ।
एकेन तेन तच्छीघ्रं बलं सर्वं तथा हतम् ॥ २६ ॥
नष्टो राजा भयग्रस्तो देवेन भणितास्त्विति ।
श्रेष्ठिनः शरणं यासि तदा ते जीवितं ध्रुवम् ॥ २७ ।
ततो राजा जिनेन्द्राणां मन्दिरे शर्ममन्दिरे ।
रक्ष रक्षेति संजल्पन् श्रेष्ठिनः शरणं गतः ॥ २८ ॥
श्रेष्ठी तदा विशिष्टात्मा संजगाद सुरं प्रति ।
कस्त्वं धीर किमर्थं च त्वयेदं निर्मितं वद ॥ २९ ॥
दृढसूर्यचरो देवः श्रेष्ठिनं तं प्रणम्य च ।
स्वरूपं प्रकटीकृत्य प्रोवाच मधुरं वचः ॥ ३० ॥
अहो श्रेष्ठिन् जिनाधीश-चरणार्चनकोविद ।
अहं चोरो महापापी दृढसूर्याभिधानकः ॥ ३१ ॥
त्वत्प्रसादेन भो स्वामिन्स्वर्गे सौधर्मसंज्ञके ।
देवो महर्द्धिको जातो ज्ञात्वा पूर्वभवं सुधीः ॥ ३२ ॥
महोपकारिणस्तेत्र रक्षार्थं च समागतः ।
मयेदं सेवकेनोच्चैः कार्यं सर्वं विनिर्मितम् ॥ ३३ ॥
एवं प्रोक्त्वा महाभक्त्या श्रेष्ठिनं गुणशालिनम् ।
रत्नादिभिः संमभ्यर्च्य स देवः स्वर्गमाप्तवान् ॥ ३४ ॥
स श्रेष्ठी धनदत्ताख्यो जिनभक्तिपरायणः ।
पूजितश्च नरेन्द्राद्यैर्धार्मिकः कैर्न पूज्यते ॥ ३४ ॥
सर्वे ते धनपालभूपतिमुखा दृष्ट्वा प्रभावं शुभं
श्रीमत्पञ्चनमस्कृतेश्च नितरां सन्तुष्टसच्चेतसः ।
श्रीमज्जैनविशुद्धशासनरता जाताः सुभक्त्या श्रिये
भव्यैश्चापि परैर्जिनेन्द्रकथिते धर्मेत्र कार्या मतिः ॥२९॥

इति कथाकोशे दृढसूर्यचोरस्य कथा समाप्ता ।

२४–यमपालचाण्डालस्य कथा ।

प्रणम्य श्रीजिनाधीशं शर्मदं धर्महेतवे ।
मातङ्गः पूजितो देवैस्तच्चरित्रं सतां ब्रुवे ॥ १ ॥
वाणारस्या महापुर्यां राजाभूत्पाकशासनः ।
एकदासौ निजे देशे पीडां श्रुत्वातिदारुणाम् ॥ २ ॥
शान्त्यर्थं कार्त्तिके मासे शुक्ले नन्दीश्वरोत्सवे ।
अष्टम्यादिदिनान्यष्टौ जीवामारिप्रघोषणाम् ॥ ३ ॥
दापयामास भूभर्ता प्रजानां हितकारकः ।
तदा श्रेष्ठिसुतः पापी सप्तव्यसनतत्परः ॥ ४ ॥
धर्मनामा महोद्याने राजकीयं च मेढूकम् ।
हत्वा प्रच्छन्नतः शीघ्रं भक्षयित्वा च तत्पलम् ॥ ५ ॥
तदस्थीनि च गर्तायां निक्षिप्य गतवान्कुधीः ।
व्यसनेन युतो जीवः सत्यं पापपरो भवेत् ॥ ६॥
मेढूकादर्शने तत्र पाकशासनभूभुजा ।
सर्वत्र स्वपुरीमध्ये चराः शीघ्रं निरूपिताः ॥ ७ ॥
उद्यानपालको रात्रौ तदा गेहे स्वकामिनीम् ।
जगौ मेढूकवृत्तान्तं श्रेष्ठिपुत्रेण निर्मितम् ॥ ८ ॥
तां वार्तां च समाकर्ण्य चरः प्राह महीपतिम् ।
स राजा यमदण्डाख्यं कोट्टपालं क्रुधावदत् ॥ ९ ॥
धर्मकः श्रेष्ठिनः पुत्रः पापी धर्मपराङ्मुखः ।
कोट्टपाल त्वया शूला-रोहणं कार्यतामिति ॥ १० ॥
कोट्टपालेन तं नीत्वा शूलाभ्यर्णे च धर्मकम् ।
मातंगो यमपालाख्यः समाहूतः स्वकिंकरैः ॥ ११ ॥

सर्वौषधिमुनेः पार्श्वे मातङ्गेनैकदा मुदा ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं लोकद्वयसुखप्रदम् ॥ १२ ॥
चतुर्दशीदिने जीवं मारयामि न सर्वथा ।
एतद्व्रतं जगत्पूतं गृहीतं वर्तते पुरा ॥१३ ॥
यतश्चागच्छतो वीक्ष्य कोट्टपालस्य किंकरान् ।
मातंगो व्रतरक्षार्थं संजगाद स्वकामिनीम् ॥ १४ ॥
प्रिये ग्रामं गतश्चेति वद त्वं किंकरान्प्रति ।
इति प्रोक्त्वा द्रुतं गेह-कोणेसौ संस्थितः सुधीः ॥ १५ ॥
सा मातंगी तदा प्राह गतो ग्रामं मम प्रियः ।
तच्छ्रुत्वा सुभटैरुक्तं हा पापी दैववञ्चितः ॥ १६ ॥
अद्यैवाभरणोपेत-श्रेष्ठिपुत्रस्य मारणे ।
गतो ग्रामं तदाकर्ण्य मातंग्या स्वर्णलोभतः ॥ १७ ॥
गतो ग्राममिति व्यक्तं पूत्कुर्वत्या च मायया ।
हस्तस्य संज्ञया शीघ्रं मातंगो दर्शितस्तया ॥ १८ ॥
स्त्रीणां स्वभावतो माया किं पुनर्लोभकारणे ।
प्रज्वलन्नपि दुर्वह्निः किं वाते वाति दारुणे ॥ १९ ॥
गृहान्निःसारितः सोपि चाण्डालः सुवचो जगौ ।
प्राणत्यागेपि जीवोद्य मार्यते न मया ध्रुवम् ॥ २० ॥
राजाग्रेपि भटैर्नीतो मातंगो धीरमानसः ।
जीवघाते चतुर्दश्या नियमोस्ति मम प्रभो ॥ २१ ॥
मारयामि हि ततो नैव जीवमद्यैवमब्रवीत् ।
यस्य धर्मे सुविश्वासः क्वापि भीतिं न स याति सः ॥ २२ ॥
श्रेष्ठिपुत्रमहादोषात्ततो रुष्टेन भूभुजा ।
क्षिप्येते द्वावपि प्रोक्तं शिशुमारह्रदे द्रुतम् ॥ २३ ॥

ततस्तौ कोटपालेन यमदण्डेन तेन च ।
निक्षिप्तौ द्वावपि क्रूरैर्जन्तुभिः संकुले ह्रदे ॥ २४ ॥
धर्महीनः स धर्माख्यो भक्षितः शिशुमारकैः ।
मातंगो यमपालोऽसौ निश्चलो व्रतरक्षणे ॥ २५ ॥
तदा तद्व्रतमाहात्म्यात्महाधर्मानुरागतः ।
सिंहासने समारोप्य देवताभिः शुभैर्जलैः ॥ २६ ॥
अभिषिच्य प्रहर्षेण दिव्यवस्त्रादिभिः सुधीः ।
नाना रत्नसुवर्णाद्यैः पूजितः परमादरात् ॥ २७ ॥
तं प्रभावं समालोक्य राजाद्यैः परया मुदा ।
अभ्यर्चितः स मातंगो यमपालो गुणोज्वलः ॥ २८ ॥
इत्थं ज्ञात्वा महाभव्यैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदे ।
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते मतिः कार्या सदा मुदा ॥ २९ ॥
चाण्डालोपि व्रतोपेतः पूजितो देवतादिभिः ।
तस्मादन्यैर्न विप्राद्यैर्जातिगर्वो विधीयते ॥ ३० ॥
मातंगो यमपालको गुणरतैर्देवादिभिः पूजितो
नाना वस्त्रसुवर्णरत्नविकसत्पुष्पोत्करैः सादरम् ।
यद्धर्मस्य हि लेशतोपि भुवने स श्रीजिनः संक्रिया—
द्भक्त्या देवनिकायपूजितपदद्वन्द्वो महाश्रेयसे ॥ ३१ ॥

इति कथाकोशे यमपालचाण्डालस्य कथा समाप्ता ।

समाप्तः प्रथमो भागः ।

सुशीला।

जैनसमाजको इस उपन्यासका परिचय देनेकी जरूरत नहीं है। जैनी पाठकोंको सबसे पहले इसी उपन्यासने उपन्यास पढ़नेका चसका लगाया है। इसमें कथाका सन्दर्भ, कुतूहल और आकांक्षा बढ़ानेवाला है। भाषा शुद्ध सरल और रचना सुन्दर, रसमयी है। इसके पढ़नेमें आपको सभी रसोंका स्वाद मिलेगा। साथ ही जैनधर्मके गूढ़ तत्त्वोंका रहस्य, जिसका अन्यत्र मिलना दुर्लभ है—इसके अनेक अध्यायोंमें भरा हुआ है। वहाँ आपको ऐसा मालूम होगा कि हम जैनधर्मका कोई तात्त्विक ग्रन्थ पढ़ रहे हैं। इस कारण जो लोग उपान्यासोंसे नाक भोंह सिकोड़नेवाले हैं, वे भी इस ग्रन्थको पढ़कर सन्तुष्ट होंगे। सदाचार और सत्प्रवृत्तियोंकी शिक्षापर लेखकने बहुत ध्यान रक्खा है।

पहली आवृत्ति समाप्त हो जानेके कारण अब यह दूसरी बार छपाया गया है। मूल्य पहलेसे कम अर्थात् एक रुपया रक्खा गया है। इससे जो मुनाफा होगा वह जैनमित्र की सहायतामें लगेगा। शीघ्रही मंगाइए।